(215)
आलोचना
इतिहास
एवं
सिद्धान्त
हरीश चन्द्र जायसवाल

आलोचना इतिहास एवं सिद्धान्त

लेखक

हरीश चन्द्र जायसवाल

एम० ए० (दर्शन, हिन्दी)

प्रवक्ता हिन्दी विभाग

यूईंग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद

वीना प्रकाशन

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण

मूल्य ६-००

प्रकाशक

वीना प्रकाशन
२ बाई का बाग
इलाहाबाद—३

प्रथम संस्करण ११०० प्रतियाँ १९७२

मूल्य छः रुपया मात्र

मुद्रक—

श्री आर. एन. भार्गव
स्टैन्डर्ड प्रेस, बाई का बाग
इलाहाबाद—३

विषय-क्रम

आमुख

'आलोचना इतिहास एवं सिद्धान्त' को विद्यार्थियों तथा प्रबुद्ध वर्ग के सम्मुख प्रस्तुत करने मे मुझे अपार हर्ष तथा संतोष का अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत पुस्तक में आलोचना के संक्षिप्त इतिहास तथा सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है। पाश्चात्य आलोचना के विभिन्न आयामों तथा प्रमुख आलोचकों के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। हिन्दी आलोचना का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करने के बाद हिन्दी के कुछ प्रमुख आलोचकों पर अलग से विचार किया गया है। 'आलोचक' से अभिप्राय मात्र समीक्षकों से नहीं है। आलोचकों से यहाँ अर्थ आलोचना शास्त्र के आचार्यों से है। हिन्दी ने कई श्रेष्ठ आलोचकों को तो जन्म दिया, पर आचार्यत्व के दृष्टि से हिन्दी का कोष उतना सम्पन्न नहीं हैं जितना होना चाहिये। इस दृष्टि से पूरे हिन्दी जगत में केवल दो आलोचना शास्त्र के सही पारखी दिखाई पड़ते हैं। जिन्होंने मात्र दूसरे के सिद्धान्तों के आधार पर ही आलोचना नहीं की, वरन् जिन्होंने पाश्चात्य आलोचना का शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक अध्ययन तथा मनन करके अपने सिद्धान्तों की स्थापना की है। ऐसे दो आचार्यों का नाम है डॉ० नगेन्द्र तथा डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय। इन दोनों में पश्चिमी आलोचना के सिद्धान्तों की दृष्टि से वार्ष्णेय जी का महत्व अधिक प्रतीत होता है। डॉ० नगेन्द्र का मूल क्षेत्र तो भारतीय काव्य सिद्धान्त ही है। अतः हिन्दी आलोचना के इतिहास में इन दो आचार्यों का महत्वपूर्ण स्थान है, इसीलिए दो अलग अध्यायों में इन आचार्यों पर विचार किया गया है। पुस्तक के अंतिम पाँच अध्यायों में साहित्य रूपों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

इस पुस्तक की मूल प्रेरणा मुझे दो व्यक्तियों से मिली—डॉ० वार्ष्णेय तथा डॉ० टी० एन० जायसवाल। दोनों के स्नेह तथा आर्शीवाद से ही यह कार्य समाप्त हो पाया है। इस पुस्तक का मूल रूप तैयार करने में मुझे अपनी पत्नी श्रीमती बीना रानी जायसवाल से विशेष सहायता मिली है।

इस पुस्तक की रचना में डॉ० माताबदल जायसवाल, पं० गोपीनाथ शर्मा तथा प्रो० राजकिशोर सिंह, शिवमूर्ति शर्मा तथा डॉ० पद्माकर मिश्र से बहुत सहयोग मिला। अग्रज श्री सतीश चन्द्र जायसवाल ने समय समय पर विभिन्न प्रकार से सहयोग दिया। प्रकाशक श्री रमेश भार्गव का सहयोग भी उल्लेखनीय है। इन सभी सज्जनों का लेखक हृदय से आभार प्रस्तुत करता है।

आशा है इस पुस्तक का विद्यार्थी एवं अध्यापक जगत में समुचित स्वागत होगा।

हरीशचन्द्र जायसवाल

९३ कटघर रोड,
इलाहाबाद-३.

मात्रनौमी
३०-९-७२
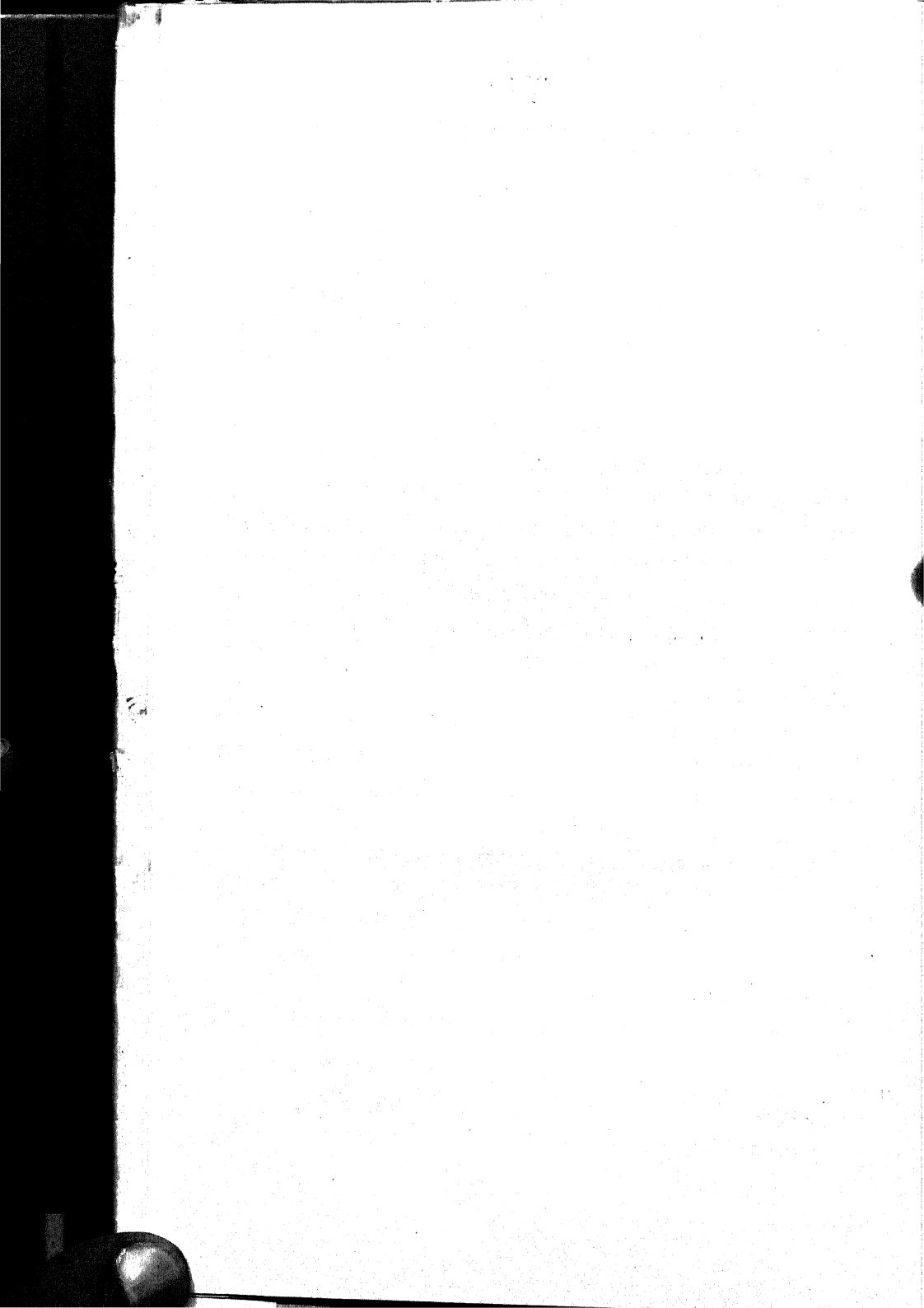
आचार्य-प्रवर डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

तथा

श्रद्धेय डॉ० टी० एन० जायसवाल

को सादर ।

अध्याय 1

आलोचना

परिभाषा—आलोचना शब्द की उत्पत्ति 'लुच्' धातु से हुई है। 'लुच्' का अर्थ होता है 'देखना' इसीलिए किसी वस्तु को ठीक से देखना अर्थात् किसी कृति का मूल्यांकन करना, सभी पहलुओं से उसका विवेचन करना ही आलोचना है। आलोचक किसी लेखक की रचना को अच्छी तरह से ठोक बजाकर देखता और परखता है, उसकी परीक्षा करता है। 'परीक्षा' का अर्थ भी 'चारों तरफ से देखना है।'[1] 'आलोचना' का पर्यायवाची शब्द क्रिटिसिज़म है। अंग्रेजी का यह शब्द मूलतः ग्रीक शब्द 'क्रिटकोस' से बना है जिसका अर्थ होता है 'निर्णय करना'।

आलोचना की परिभाषा देना आसान काम नहीं है। परिभाषाएँ तो बहुत मिलती हैं पर कोई ऐसी परिभाषा नहीं मिलती जिस पर विद्वानों में सहमति हो। इस सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत गहरा मतभेद है। एक ने यदि कोई स्थापना की, तो दूसरे ने तर्क का सहारा ले उसे काटने का प्रयास किया है। इस प्रकार तर्क-वितर्कों द्वारा एक दूसरे की परिभाषा, एक दूसरे द्वारा कटती बनती रहीं है। अनातोले फ्रांस ने ठीक ही लिखा है कि अन्य किसी विषय की अपेक्षा सौन्दर्य-शास्त्र में तर्क के लिए अधिक गुञ्जायश है। यह बात ठीक भी है। इस सम्बन्ध में डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का मत विचारणीय है। उनकी स्थापना है कि 'साहित्य में शायद ही कोई ऐसा मत हो जिसके ठीक विपरीत कोई न कोई मत न हो। प्रत्येक युग की अपनी माँग होती है। उस माँग के अनुरूप और विविध विपरीत मतों के घने वन के बीच कोई न कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति आलोचना का सुन्दर प्रशस्त मार्ग निर्मित करता है……। ऐसी परिस्थिति में आलोचना की कोई एक सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक परिभाषा दी ही नहीं जा सकती'।[2] फिर भी समय-समय पर विभिन्न विद्वानों ने इस सम्बन्ध में, अपने विचार प्रकट करने का साहस किया है।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार आलोचना कला का तार्किक और सुव्यवस्थित विवेचन है जिसमें कथ्य और शिल्प दोनों का विश्लेषण और उनका मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार आलोचना इन्द्रियजन्य सौन्दर्यबोध, उसकी मानसिक

१. परितः ईक्षा परीक्षा।

१. पश्चिमी आलोचना शास्त्र—डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय।

प्रतिक्रिया अथवा उसके आनन्द से भिन्न है। आलोचना को सौन्दर्यबोध तक ही सीमित नहीं कर देना चाहिए।[१] पर आलोचना की यह परिभाषा बहुत व्यापक तथा उचित नहीं कही जा सकती। यह परिभाषा एक संकीर्ण दृष्टिकोण को ही प्रस्तुत करती है। 'रीजन्ड एण्ड सिस्टमैटिक' शब्दों के माध्यम से विश्वकोशकार आलोचना को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करना चाहता था।

'युनिवर्सल विश्वकोश' ने भी आलोचना के सम्बन्ध में इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका की ही बात को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार आलोचना को मात्र मूल्यांकन करने की एक प्रक्रिया मानना चाहिए। इसके इस तकनीकी प्रयोग को मात्र कला और साहित्य का मूल्यांकन करने वाला एक रूढ़ शब्द कहा है।[२]

'युनिवर्सल कोशकार' की परिभाषा आई० ए० रिचर्ड्स के मूल्य निर्धारण की भाँति है। उनके अनुसार 'To set up as a criticism is to set up as a Judge of values."

मैथ्यू आॅर्नल्ड के अनुसार आलोचना का सबसे प्रमुख एवं प्रधान गुण तटस्थता है। वस्तु के स्वरूप की जिज्ञासा ही उसे आलोचना के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है।[३]

कार्लाइल के अनुसार आलोचना पुस्तक के प्रति उद्भूत आलोचक की मानसिक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप है।[४] वह अपना मत प्रकट करते हुए लिखता है :—

"We must enquire whether and how for the aim, this task of his, accorded, not with our individual crochets and the crochets of our little senate, where we give or take the law,—but with human nature, and the nature of things at large; with universal principles of poetic beauty not as they stand writters in our text books, but in the hearts and imagination of all men."

सच पूछा जाय तो यह सभी बातें कलाकृति में स्वयं रहती हैं। इनको खोजने के लिए कलाकृति को परखना चाहिए। इसीलिए विक्टर ह्यूगो ने यह कहा था कि 'रचना

1. Criticism is a reasoned and systematic discussion of the art, explaining or evaluating their techniques and products It is thus distinct from aesthetic perception, reaction and appreciation.
2. Criticions is an act of passing judgment, commonly the term is restricted to the process of judging in the time arts and in literature·
3. "But the criticism, real criticism isessentially the exercise of this very quality (curiosity and disinterested love of a free play of mind.). It beys an instinct prompting to try to know the best that is known and thought in the world".
4. Literary criticism is nothing and should be nothing but the recital of aries persval adventures with a book".

अच्छी है या बुरी, यह मालूम करना आलोचना का मुख्य उद्देश्य है।' उसका यह कथन एक स्मरणीय कथन है, पर सीमाओं से यह भी मुक्त नहीं है। अच्छाई, बुराई के अर्थ क्या होते हैं। आदि प्रश्नों का उत्तर इस परिभाषा में नहीं मिलता।

इन सभी परिभाषाओं के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अभी तक आलोचना की कोई ऐसी परिभाषा नहीं दी जा सकी है जो सार्वदेशिक और काल्पनिक हो। परिवर्तन मनुष्य के स्वभाव में निहित है। प्रकृति भी इसका अनुसरण करती है। आलोचना भी इस परिवर्तन के नियम से वंचित नहीं की जा सकती। यही कारण है कि समय-समय में मनुष्य के चिन्तन प्रक्रिया में परिवर्तन के फलस्वरूप आलोचना के प्रति उसका दृष्टिकोण भी बदलता रहा है, और नये नये रंगों से विद्वानों और आलोचकों ने उसे देखा है।

उद्देश्य तथा सामान्य प्रकृति—मनुष्य को आदिमकाल से ही सर्जन करने की शक्ति तथा उस शक्ति को परखने की शक्ति मिली है। उसमें दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। मनुष्य तरह तरह की भावनाओं और प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर निर्माण करता रहता है। आलोचक उस निर्मित वस्तु को अपने मानदंड के आधार पर ठोक बजा कर देखता है। साहित्यकार के कृति में बाह्य जगत् भावनात्मक अनुभूति के आधार पर पुनः जी उठता है। बाह्य जगत् हृदय के मधुरस में सनकर अर्न्तजगत की वस्तु बन जाती है। इस प्रक्रिया में हम उस मानव के दर्शन करते हैं जो अपनी सीमा के बन्धन में बँधा नहीं रहता। आलोचना का मूल उद्देश्य इस बात के खोजने में है कि लेखक के कल्पना की प्रखरता के पीछे किस मानवीय अनुभूति का स्थान है। उसकी कृति में किस रूप में, और कितनी सजगता तथा प्रखरता से मानवीय अनुभूतियों ने अभिशक्ति पाई है। उसकी रचना में मानवीय कार्यकलाप किस सीमा तक, और कितनी सुन्दरता के साथ प्रस्तुत किए गए हैं। अतः आलोचना का उद्देश्य केवल किसी रचना के भाषा, रस, अलंकार मात्र को ही परखना नहीं है। उसका मूल उद्देश्य साहित्यिक कृतियों में बिखरती हुई मानवीय अभिव्यक्तियों की परख है। इसीलिए डा० श्यामसुन्दरदास ने कहा था कि यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें, तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।' इस प्रकार आलोचना कला और साहित्य की परिधि के बाहर की वस्तु नहीं है। आलोचना कला को जीवन में अत्यन्त गरिमामय स्थान प्रदान करती है। मिडिल्टन मरे के शब्दों में कहा जा सकता है 'कला जीवन की सजगता है, आलोचना कला की सजगता है।'

कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि काव्य या कला की परिपूर्ण तथा व्यापक आलोचना स्वयं कवि या कलाकार ही कर सकता है। पर इस प्रकार के मत तर्क-सम्मत तथा वैज्ञानिक नहीं प्रतीत होते। सौन्दर्यबोध का तत्व ही वह प्रधान तत्व है

जो आलोचक को कवि से अलग करता है । यदि कवि स्वयं आलोचक है, तो उसके कवि का सौन्दर्यबोध, उसके आलोचक के सौन्दर्यबोध से पृथक होगा । आलोचक अपने आलोचना के विषय से सर्वप्रथम सम्पर्क स्थापित करता है, उसमें प्रवेश करता है, उसके अन्दर पैठकर परखता है और उसके मूल्य को निर्धारित करता है । डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का मत है कि 'सृष्टि की प्रतिक्रिया का नाम ही साहित्य है और उसकी प्रतिक्रिया के मूल में जो भावना निहित है वही आलोचना है ।

आलोचना के परिभाषा के समान ही उसके सामान्य प्रकृति का निश्चित रूप देना अत्यन्त कठिन है । प्रत्येक युग की प्रवृत्ति के अनुसार इसकी परिभाषा बदलती रहती है । इसीलिए आलोचना का प्रयोग गुण-दोष विवेचन से लेकर सौन्दर्य विज्ञान के अर्थ में हुआ है । क्रोचे तथा जे० ई० स्पिनगार्न दोनों ही के अनुसार सामान्य रूप से आलोचना का कर्त्तव्य इस बात का पता लगाना है कि लेखक ने क्या अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है । फिर जो कुछ भी अभिव्यक्त किया है उसमें उसे किस सीमा तक सफलता मिली है । इससे यह भी व्यंजित होता है कि लेखक या कवि ने कुछ भी अभिव्यक्त करना चाहा है, क्या वह अभिव्यक्त करने के योग्य था ।

कवि अपनी रचना किसी ध्येय से प्रेरित होकर कर रचता है । यद्यपि इस सम्वन्ध में पाठक, लेखक तथा आलोचक के दृष्टिकोणों में अन्तर हो सकता है । अतः आलोचक अपने आलोचना के माध्यम से लेखक का एक पुनः संस्कार करता है, उसकी पुर्नजीवन देता है । कवि या लेखक की भावनाएँ फिर से जी उठती हैं । अन्तर केवल इतना रहता है कि साहित्य में यह भावनाएँ कवि या लेखक के व्यक्तित्व का आधार लेकर जीती हैं, जबकि आलोचना में भावनाएँ कवि की होती हैं पर आधार आलोचक का व्यक्तित्व रहता है । अतः आलोचक अपने दृष्टिकोण के आधार पर कवि के भावनाओं को परखता है । इस प्रकार आलोचना स्वयं सुन्दर साहित्य का रूप धारण कर लेता है । आलोचना का मूल कर्तव्य स्वच्छ, तथा निष्पक्ष मन से कवि या लेखक की रचना का अध्ययन करना तथा उसमें पैठकर उसके अन्तर्गत निहित सौन्दर्य का रहस्योद्-घाटन करना है ।

सच्ची आलोचना में विद्वानों के अनुसार निम्नलिखित पक्षों का सुन्दर समन्वय रहना चाहिये :—

१. आलोचना में आलोचक का व्यक्तित्व स्पष्ट तथा प्रखर रूप में अभिव्यक्त होना चाहिये । आलोचना को निर्जीव वस्तु नहीं समझना चाहिए । सच्ची आलोचना में निष्पक्षता के साथ ही साथ, आलोचक का व्यक्तित्व उभर कर आना चाहिए । बिना उसके व्यक्तित्व के उभरे उसका दृष्टिकोण उभर कर नहीं आ सकता । बिना दृष्टिकोण के आलोचना, जीवन्त आलोचना नहीं हो सकती । हडसन ने स्पष्ट रूप से लिखा है 'कि

आलोचना में आलोचक की व्यक्तित्वाभिव्यक्ति का होना अनिवार्य तथा अपेक्षित दोनों है।'

२. आलोचना में आलोचक को प्रतिभाशाली तथा शास्त्रीय पक्षों का जानकार होना चाहिए। कवि प्रतिभाशाली, भावुक तथा शास्त्रों का जानने वाला होता है। उसके काव्यकृति में शास्त्र ज्ञान व्याप्त रह सकता है। उसकी भावुकता उसके शास्त्रीय ज्ञान को और सरस बना देती है। आलोचक यदि प्रतिभाशील तथा शास्त्रों का जानकर नहीं है, तो वह यह नहीं समझ पायगा कि अमुक कवि में किसी शास्त्रीय तत्व को किस प्रकार काव्यात्मक परिवेश में प्रस्तुत किया गया है।

३. आलोचना में निर्णयात्मक पक्ष का भी महत्वपूर्ण स्थान रहता है। हडसन ने आलोचना का अर्थ प्रमुख रूप से निर्णय ही माना है। उसने आलोचक के दो प्रमुख रूप माने हैं एक व्याख्याकार तथा दूसरा निर्णायक। इसमें से हडसन ने आलोचक के निर्णायात्मक पक्ष पर ही अधिक बल दिया है। इसी प्रकार रिचर्ड्स ने अपने 'प्रिन्सपिल्स ऑव लिट्रेरी क्रिटिसिज़्म' नामक पुस्तक में निर्णय कार्य को एक आवश्यक साहित्यिक व्यापार माना है।

४. आलोचना में ऐतिहासिक पक्ष भी बहुत महत्वपूर्ण होता है। किसी रचना के प्रति केवल व्यक्तिगत निर्णय दे देने से ही काम नहीं चल सकता। आज किसी रचना के प्रति केवल व्यक्तिगत निर्णय दे देने के पहले आलोचक को उस ऐतिहासिक पक्ष का भी विवेचन करना पड़ता है जिसने कवि को प्रभावित किया था। आलोचक को उस भाव भूमि पर जाना पड़ता है जिस पर आलोचक अवस्थित था। ऐसा करने के लिए आलोचक को कवि के मानस के ऐतिहासिक पक्षों का सांगोपांग विवेचन करना पड़ता है। स्काट जेम्स ने अपनी पुस्तक 'द मेकिंग ऑव लिट्रेचर' में लिखा है कि—"The critical leader has to put himself as nerely as possible where the writer stands."

इसी बात को 'पेटर ने अपनी पुस्तक में लिखा है—"Every intellectual product must be judged from the point of view of the age and the people in which it was produced."

५. आलोचना में आधुनिक युग में मनोवैज्ञानिक पक्ष पर भी बहुत महत्व दिया जाता है। रिचर्ड्स ने 'प्रिन्सिपिल ऑव लिट्रेरी क्रिटीस्ज़्म' नामक पुस्तक में लिखा है 'कि अब मानसिक घटनाओं के विश्लेषण के लिए ज्ञान का अच्छा विकास हो चुका है। अतएव किसी कविता को पढ़ते समय उनसे बड़ी सहायता मिलती है। आलोचक के लिए इस प्रकार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अत्यन्तावश्यक है। आलोचना में मनोविज्ञान का विश्लेषण करते समय हमें अपने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से प्रेरित नहीं

होना चाहिए, क्योंकि इससे आलोचना के क्षेत्र में अव्यवस्था उत्पन्न होने की आशंका हो सकती है। अतः आलोचना के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के रूप पर प्रकाश डालते हुए रिचर्ड्स लिखते हैं—"For a theory of knowledge is needs only at one point. The point at which we wish to decide whether a poem for example is true or reveals rality and if so in what sense. Whereas theory of feeling emotion of aptitude and desires of the effective volitional aspects of mental activity is required at all point mental analysis.

६. आलोचना में तुलना का भी कम महत्व नहीं होता। इसके माध्यम से आलोचक किसी रचना के मूल्य निर्धारण में सफल होता है। दूसरी रचनाओं के तुलना द्वारा वह अपने दृष्टिकोण के आधार पर सरलता से किसी रचना की प्रशंसा या निन्दा, सफलता या असफलता पर विचार कर सकता है। निर्णयात्मक आलोचना का मूल आधार तुलनात्मक होता है। जिस रचना या काव्यकृति पर आलोचक विचार कर रहा है, उसकी तुलना वह अन्य काव्यकृतियों से कर, उसका मूल्यांकन करेगा, और अन्त में उस पर निर्णय देगा। बिना तुलना के निर्णय दिया ही नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए आलोचक तुलसी के काव्य पर विचार विमर्श करते हुए यह निष्कर्ष निकालता है कि तुलसी के काव्य में भावुकता के साथ लोकसंग्रह का पूर्ण परिपाक हुआ है और इस प्रकार वे अपने युग के सर्वश्रेष्ठ या श्रेष्ठ कवि थे। इस निर्णय की स्थापना के लिए भावुकता तथा लोकसंग्रह दोनों ही दृष्टियों से हमें तुलसी के युग के अन्य कवियों से तुलसी की रचनाओं की तुलनात्मक व्याख्या करनी पड़ेगी। उस युग के अन्य प्रमुख कवियों में सूरदास का भी महत्वपूर्ण स्थान था, आलोचक मुख्य रूप से उनसे तुलना करके यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि भावुकता तथा लोकसंग्रह दोनों ही दृष्टियों से तुलसी का स्थान श्रेष्ठ था, क्योंकि सूर में यद्यपि भावुकता है, पर लोकसंग्रह का अभाव था, आदि आदि। इस उदाहरण से यह प्रमाणित होता है कि तुलना के बिना आलोचक आसानी से कोई निर्णय नहीं दे सकता। अतः आलोचना में संतुलित दृष्टि से तुलनात्मक पक्ष का होना भी आवश्यक है।

७. आलोचना में भावुकता तथा कलात्मकता के साथ ही साथ वैज्ञानिकता का भी उचित समावेश होना चाहिए। इसीलिए हडसन ने आलोचना के लिए 'Science of criticism' शब्द का प्रयोग किया है।

८. आलोचना केवल वैज्ञानिक और सूचनापरक ही नहीं होनी चाहिए, वरन् उसमें प्रचुर मात्रा में साहित्यिकता होनी चाहिए। आलोचना भी साहित्य है, इसीलिए अपने सम्पूर्ण वैचारिक तथा सैद्धान्तिक तत्वों को सम्हाले हुए आलोचना को मूलतः साहित्यिक होना चाहिए। आलोचक के हृदय में कवि का हृदय होता है। तभी

उसकी आलोचना मर्मस्पर्शी तथा व्यापक होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की तुलसी की आलोचना के प्रकाश में इस तत्व को समझा जा सकता है। शुक्लजी ने जिस सरलता तथा भावुकता के साथ तुलसी की भावुकता की अनुभूति की है वह स्वयं कविता बन गई है। ऐसी आलोचनाएँ ही मर्मस्पर्शी तथा व्यापक हो सकती हैं जिसमें सिद्धान्त पक्ष के साथ भावुकता को संतुलित समन्वय हो।

९. आलोचना में सिद्धान्त पक्ष का निर्माण भी बहुत आवश्यक होता है। यदि किसी कवि को कविता का यह रूप रहा तो उसका कारण क्या था? कवि के सिद्धान्त क्या थे, उन सिद्धान्तों पर आलोचक विचार करता है उस पर विचार विमर्श करता है। इस प्रकार सिद्धान्तों के सम्बन्ध में आलोचक नियमों का निर्माण करता है, नए सिद्धान्तों की स्थापना करता है। इस प्रकार आलोचना में सैद्धान्तिक पक्ष का भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहता है।

१०. आलोचना में व्याख्या का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है। हडसन के अनुसार व्याख्या ही आलोचना का मूल तत्व है। सच यह है कि व्याख्या तो आलोचना का आरम्भिक तत्व है। बिना इसके आलोचक किसी रचना को न समझ सकता है और न उस पर कुछ निर्णय दे सकता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सच्ची और पूर्ण आलोचना में इन सभी तत्वों का संतुलन के साथ समन्वय होना आवश्यक है।

आलोचना और विज्ञान : आलोचना में तर्क और विश्लेषण की पद्धति को देखकर ऐसा लगने लगता है कि आलोचना विज्ञान है, कला नहीं। प्रसिद्ध विद्वान मोल्टन ने आलोचना को निगमनात्मक विज्ञान की श्रेणी में रक्खा है। उन्होंने लिखा है "Its award-object is to bring the treatment of literature in to the circle of the inductive science". मोल्टन की धारणा है कि आलोचक को रचना का गुण-दोष विवेचन स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष रूप से करना चाहिए। आलोचक वैज्ञानिक की तरह निरीक्षण, परीक्षण तथा विश्लेषण द्वारा किसी रचना पर विचार करता है। पर ऐसा समझना ठीक नहीं है। हडसन ने उन आलोचकों के सम्बन्ध में जो आलोचना को शुद्ध वैज्ञानिक मानते हैं, बहुत ही सुन्दर तथा मार्मिक बात कही है। 'ऐसे आलोचकों की दृष्टि में शेक्सपीयर और बेन जॉन्सन दोनों ही महनीय हैं। उनमें केवल उतना ही अन्तर है जितना पुष्प और उसके सुन्दर पौधे में है क्योंकि दोनों में ऐसी कोई सामान्य भूमियाँ नहीं है जिससे उनकी तुलना की जा सके।"[1] अतः इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि आलोचना को विज्ञान नहीं माना जाता। आलोचना को कला मानने वाले डेविड डचेस ने लिखा है 'आलोचना कला है, विज्ञान

1. In Introduction to the study of Literature—Hudson.

नहीं, और जो आलोचक इस कला को विज्ञान की भाँति नियमों में आबद्ध कर देते हैं वे कला की महती आत्मा का हवन करते हैं—उस कला की महनीयता को नष्ट कर देते हैं।"[1]

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि आलोचना शुद्ध कला है विज्ञान नहीं। इन प्रकार के मत भ्रामक तथा एकांगी हैं। आलोचना कला और विज्ञान दोनों है। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के मतानुसार आत्मभिव्यंजना तथा आत्मप्रकाशन के स्वरूप के कारण आलोचना कला के समीप आ जाती है। साथ ही दूसरे की अभि-व्यंजना की परीक्षा होने के कारण तथा परीक्षा के साधन और कला एक विशेष रूप में आने के कारण आलोचना विज्ञान के समीप आ जाती है। इस मत को समझ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचना कला तथा विज्ञान दोनों है। उसको मात्र विज्ञान या मात्र कला नहीं माना जा सकता है। ऐसा मानना आलोचना के मूल प्रकृति के साथ अन्याय करना होगा।

समीक्षा और आलोचना—समीक्षा के अर्थ होते हैं अच्छी तरह देखना; जाँच परख करना। ईक्ष धातु में प्रारम्भ में सम उपसर्ग लगाकर तथा बाद में आङ् उपसर्ग तथा टाप् स्त्रीवाचक प्रत्यय लगाकर इस शब्द का निर्माण हुआ है (सम्+ ईक्ष+अङ्+टाप्)। अतः किसी रचना के विषय में सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना, उसके अन्दर निहित सभी तत्वों का विवेचन करना समीक्षा है।

कुछ विद्वानों का मत है कि जब आलोचना का अर्थ सीमित होने लगा, और आलोचक आलोचना को केवल गुण-दोष निर्दशन पद्धति के रूप में ही देखने लगे, तभी इस दोष को दूर करने के लिए आलोचना के पहले सम् उपसर्ग जोड़कर उसको और संतुलित बना दिया गया। समालोचना के अर्थ हुए संतुलित दृष्टि से किसी रचना के गुण दोष का मूल्यांकन करना। पर विद्वानों को मात्र इससे संतोष नहीं हुआ, अतः समीक्षा शब्द का प्रचलन हुआ। संस्कृत में समीक्षा उसे कहते हैं जिसमें रचना की अन्तकरिका का और अवान्तरार्थों का विच्छेद किया गया है।—'अन्तर्भाष्य अवान्तरार्थ विच्छेदश्च समीक्षा।' इससे यह प्रकट होता है कि जब विद्वान् लोग गुण-दोष निर्दशन मात्र तक ही सीमित न रहकर उससे आगे बढ़कर कवि की आन्तरिक प्रकृति की खोज बीन में लग गए तब समालोचना के लिए समीक्षा शब्द का प्रयोग होने लगा। साहि-त्यिक समीक्षा में साहित्य की उत्पत्ति, स्वरूप विविध अंगों, गुण दोषों आदि की विवेचना की जाती है। किसी रचना को अच्छी तरह देखकर, राग-द्वेष के भाव से ऊपर उठकर जब आलोचक उसकी जाँच परख करने लगे तब समीक्षा कहा गया।

---

1. **Critical approaches to Literature.**

इस विवेचन से आलोचना और समीक्षा के बीच का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। पर व्यावहारिक रूप में 'आलोचना' तथा 'समीक्षा' का प्रयोग लगभग एक अर्थ में होता है।

प्रत्यालोचना और आलोचना—आलोचना की आलोचना को प्रत्यालोचना कहा जाता है। प्रत्येक आलोचक का अपना क्षेत्र तथा अपना दृष्टिकोण होता है। आलोचक को यह अधिकार है कि वह अपने दृष्टिकोण तथा मानदंड के आधार पर किसी रचना की परख करे उसके दोषों को तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करे। यह स्थिति आलोचना की है। जैसे मिश्रबन्धुओं ने रीतिकालीन परम्परा के कवियों का अध्ययन कर देव को महत्वपूर्ण स्थान दिया। उधर पं० पद्मसिंह शर्मा अपने दृष्टिकोण तथा मानदंड के आधार पर बिहारी को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया। यह दोनों मूल रूप में आलोचनाओं के रूप में थी। इसी से देव-बिहारी वादविवाद चल पड़ा। फलतः प्रत्यालोचनाएँ होने लगीं। बिहारी ने क्या लिखा था, देव ने क्या प्रतिपादित किया था इस पर उतना महत्व नहीं दिया। पर शर्माजी ने बिहारी को श्रेष्ठ ठहराया। वह गलत है। मिश्रबन्धुओं ने जो कुछ कहा वह ठीक है। इसी तरह दूसरा कहने लगा कि मिश्रबन्धुओं में भावनात्मक दृष्टि से इतनी शक्ति कहाँ कि वे बिहारी के काव्य में निहित रस को समझ सकें। यह कार्य तो शर्मा जी ही कर सकते हैं। इस प्रकार बिहारी तथा देव के मूल समर्थकों तथा उपसमर्थकों की आपस की हुई नोंक झोंक को प्रत्यालोचन कह सकते हैं। क्योंकि यह आलोचना की आलोचना हुई। प्रत्यालोचन के अन्तर्गत मूल कृति का उतना महत्व नहीं रह जाता, यद्यपि वह अप्रत्यक्ष रूप में मूल में तो रहती ही है। प्रत्यालोचन में प्रमुख रूप से आलोच्य आलोचना के अन्तर्गत प्रकट किए गये तर्क, मूल्य निर्धारण, तथा आलोचक का मूल दृष्टिकोण आदि ही ग्रहण किया जाता है।

प्रत्यालोचन के समय काफी सतर्कता की आवश्यकता होती है, अथवा प्रत्यालोचक अपने सिद्धान्तों से नीचे गिर सकता है। प्रतिपक्षी आलोचक के विचारों की निन्दा या आलोचना केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही करनी चाहिए। प्रतिपक्षी को नीचा दिखाने की भावना भी आलोचक के मन में हो सकती है, किन्तु उसे चाहिए कि वह अपने विरोधी की आलोचना केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से करे—जैसे बिहारी का समर्थक कह सकता है कि बिहारी से यह रस मिश्रबन्धु नहीं समझ पाये, इसका इस प्रकार का अर्थ न लेकर, इस प्रकार लिया जाय तो बात बिहारी के पक्ष में होगी आदि आदि। अतः 'प्रत्यालोचना को प्रलाप मात्र नहीं होना चाहिए।' इसमें व्यक्तिगत जीवन की बातों को नहीं उछालना चाहिए। आलोचक का आक्रोश प्रतिपक्षी की व्याख्या, शैली, सिद्धान्त स्थापन पद्धति आदि पर उतरना चाहिए। प्रतिपक्षी के तर्कों को अच्छी तरह व्याख्या

कर, उसे कसौटी पर कसना चाहिये । यही प्रत्यालोचना का सच्चा स्वरूप है । आलोचना तथा प्रत्यालोचना का गहरा सम्बन्ध है जैसे कि लिखा जा चुका है कि आलोचना की आलोचना को ही प्रत्यालोचना कहते हैं । अतः प्रत्यालोचना समझने के लिए मूल आलोचना को पढ़ना आवश्यक है ।

पर्यालोचना और आलोचना—'पर्यालोचना' का अर्थ है 'चारों ओर से देखना ।' इस शब्द का प्रयोग आलोचना के पर्याय के रूप में होता है । पर आलोचना और पर्यालोचना में मौलिक अन्तर है । इस अन्तर को समझने के लिए पहले पर्यालोचना को समझ लेना आवश्यक है । 'पर्यालोचना' का प्रयोग 'रिव्यू' या 'पुस्तक-समीक्षा' के लिए भी होता है । अतः 'पर्यालोचना', 'रिव्यू' या पुस्तक-समीक्षा' तीनों ही शब्द समान अर्थी हैं ।

पुस्तक समीक्षा का जन्म समाचारपत्र के साथ हुआ । १७०४ ई० में डेफ़ो ने 'रिव्यू ऑफ द एफ़ेअर्स ऑफ फ्रान्स' की स्थापना की । इसमें अन्तर्राष्ट्रीय नीति और व्यापार विषयक विचार रहते थे । परन्तु इसमें 'मरक्यूरे स्कैण्डले और एडवाइस फ्रॉम द स्कैण्डलस क्लब' एक ऐसा विभाग था जिसमें गपशप तथा नैतिक आलोचना भी रहती थी । इसी विभाग में 'पुस्तक-समीक्षा' के बीज मिलते हैं । डेफ़ो से स्टील को प्रेरणा मिली । स्टील ने 'द टैटलर' निकाला, जो शीघ्र ही बन्द हो गया । इसके बाद स्टील तथा एडीसन ने मिलकर 'द स्पैक्टेटर' निकाला । मिल्टन के 'पैराडाइज़ लॉस्ट' पर एडीसन का लेख इसमें प्रकाशित हुआ । इस प्रकार धीरे-धीरे 'पुस्तक-समीक्षा' का प्रचार बढ़ने लगा । प्रेस के अत्यधिक प्रचलन के कारण साहित्य का प्रकाशन इतने अधिक मात्रा में होने लगा कि पाठकों को उसकी जानकारी प्राप्त करना कठिन हो गया । जीवन के जटिलताओं के कारण मानव जीवन संघर्षमय हो गया । मनुष्य के पास इतना समय नहीं रह गया कि वह स्वयं सभी पुस्तकों को पढ़ सके । ऐसी स्थिति में वह पुस्तक-समीक्षा पर आश्रित रह सकता है । इन्हीं के माध्यम से उसे विभिन्न प्रकार की प्रकाशित पुस्तकों का ज्ञान मिलने लगा ।

पुस्तक-समीक्षा के प्रारम्भिक काल में व्यक्तिगत आक्षेप, दलीय वैमनस्य तथा गाली गलौज आदि की प्रधानता थी । पिछली शताब्दी के चतुर्थ दशक में 'द टाइम्स' के सम्पादक ने मैकाले को बकवादी मैकोले कहकर सम्बोधित किया है ।[1] 'सण्डे' समाचार पत्रों के परिचयदायकों से डिकिन्स इतना दुखी हुआ कि उनके लेखकों को उसने मनुष्याकृति राक्षस कहना आरम्भ कर दिया । टैनिसन पुस्तक-समीक्षकों के कटाक्षों से इतना घबरा गया कि वह देश छोड़ने तक को तैयार हो गया । इस प्रकार पुस्तक समीक्षा में अशिष्टता तथा असंतुलन को ही प्रधानता थी । धीरे-धीरे यह अशिष्टता

---

१. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त—लीलाधर गुप्त ।

तथा असंतुलन कम होने लगी। पुस्तक-समीक्षा में शिष्टाचार लाने में 'द एथेनिअम' 'द सैटरडे रिव्यू' और 'द टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' आदि का प्रमुख स्थान था। इनके पुस्तक समीक्षकों ने व्यक्तिगत आरोपों तथा गाली-गलौजों का बहिष्कार किया। इन्होंने रचनाओं की विषय-वस्तु तथा शैली आदि के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथा लाभदायक सूचनाएँ पाठकों को देने का भरसक प्रयास किया। पर आधुनिक पुस्तक समीक्षाओं का भी भविष्य बहुत उज्जवल तथा आशाजनक नहीं दिखता। पुस्तक समीक्षाओं की संख्या बहुत बढ़ गई है। एक ही कृति पर तरह-तरह की पुस्तक-समीक्षाएँ निकलने लगी। एक समीक्षक किसी पुस्तक को श्रेष्ठ रचना ठहराता है, और दूसरा समीक्षक उसी पुस्तक को निम्न श्रेणी की रचना घोषित करता है। पाठक के सामने यह समस्या आ जाती है कि वह किस समीक्षक की बात को ठीक माने। अतः इस प्रकार की मत विभिन्नता के कारण पुस्तक समीक्षा का मूल्य घटता जा रहा है। वर्जीनिया वुल्फ़ पुस्तक-समीक्षकों के अनुत्तरदायित्व से घबड़ा कर कहती हैं पुस्तक-समीक्षकों का अन्त कर देना चाहिए। पर यह दृष्टिकोण सन्तुलित नहीं है। पुस्तक-समीक्षकों का रहना आवश्यक है। बिना इनके पाठक पुस्तकों को निर्वाचित करने में कठिनाई का अनुभव करेगा। कुशल पुस्तक समीक्षक लेखक तथा पाठक की बीच की कड़ी होता है। यदि समीक्षक कर्तव्य का पालन कर रहा है तो उसकी पुस्तक-समीक्षा पक्षपातरहित तथा उपयोगी सिद्ध होगी। पुस्तक के प्रति वह निष्पक्ष होकर, ईमानदारी से उसके गुण-दोषों का विवेचन कर सकता है। जिससे पाठक यह निर्णय कर सकता है कि अमुक पुस्तक अच्छी है और खरीदी जा सकती है, और अमुक पुस्तक बिल्कुल बेकार है।

इस प्रकार पुस्तक समीक्षा का व्यावहारिक मूल्य है। कभी कभी पुस्तक-समीक्षा या पर्यालोचना आलोचना के निकट भी आ जाती है। पर पर्यालोचना और आलोचना में तात्त्विक अन्तर है, जिसे अस्वीकार नहीं जा सकता। यह दोनों अलग-अलग वस्तुएँ हैं, जिसे एक दूसर से अलग करना आवश्यक है। पर्यालोचना और आलोचना में पहला मौलिक अन्तर यह है कि जहाँ पर्यालोचना में पुस्तक विषय-वस्तु, उसका मूल्य, जिल्द, टाईप, कागज आदि की भी परीक्षा की जाती है, उनका मूल्यांकन होता है, वहीं आलोचक को इन सब बातों से कोई मतलब नहीं रहता। दूसरे पर्यालोचक को पत्रिका के पाठकों की रुचि को भी ध्यान में रखना पड़ता है, और उसकी शैली उन्हीं के रुचि तथा स्तर के अनुसार नियोजित होती है। इसके विपरीत आलोचक सर्वप्रथम उस रचना से काल्पनिक सम्पर्क स्थापित करता है, और फिर उसका मूल्यांकन कर उसकी सहज अभिव्यक्ति का प्रयास करता है। तीसरे, पर्यालोचक की मूल दृष्टि इस ओर रहती है कि जिससे पाठक का ध्यान पुस्तक की ओर आकर्षित होता है। आलोचक की दृष्टि पुस्तक के किसी पक्ष की ओर नहीं रहती। वह सब अंगों का अलगाव पुस्तक की

एकरूपता में डूबकर भूल जाता है। चौथा, पुस्तक-समीक्षक पत्रिका में सीमित स्थान पाने का ही अधिकारी होता है। उतने थोड़े से स्थान में उसे पूरी पुस्तक की समीक्षा प्रस्तुत करना पड़ता है। इस बन्धन के कारण, सीमित स्थान में वह विषय, शैली भाषा आदि का पूर्णरूप अध्ययन नहीं कर पाता। इसके विपरीत आलोचक इन प्रकार के बन्धनों से मुक्त रहता है। पाँचवें पुस्तक-समीक्षा का क्षेत्र विशेष रूप से केवल नई पुस्तकों तक ही सीमित रहता है। पुस्तक निकलते ही उसको पुस्तक-समीक्षा का मूल्य रहता है, और इसी में इसकी उपयोगिता भी है। इसके विपरीत आलोचक का क्षेत्र नई या पुरानी दोनों ही पुस्तकें हो सकती हैं। वह इस प्रकार के बन्धन से भी मुक्त रहता है। छठें पर्यालोचना या पुस्तक-समीक्षक में समीक्षक जिस पुस्तक की समीक्षा कर रहा है। बस उसी का उल्लेख करता है। उसकी दृष्टि तुलनात्मक नहीं रहती। इसके विपरीत आलोचक इस सीमा से मुक्त रहता है। वह एक पुस्तक की दूसरी पुस्तक से तुलना कर उनका मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। सातवें पर्यालोचना में समीक्षक की दृष्टि पुस्तक का संक्षिप्त विवरण देना होता है, जिससे पाठकों को उस पुस्तक की मूलभूत सामग्री का अनुमान लग सके। उनकी दृष्टि पुस्तक के सैद्धान्तिक पक्ष की ओर अधिक नहीं रहती। इसके विपरीत आलोचक केवल किसी रचना के कलात्मक तथा वैचारिक मूल्यों का ही निर्धारण नहीं करता, वह उसके मूल में निहित सौन्दर्यशास्त्र एंव दर्शनशास्त्र सम्बन्धी नियमों की भी व्याख्या करता है। क्योंकि बिना इसको समझे रचना के मूल सिद्धान्तों को नहीं समझा जा सकता। आलोचक कलात्मक और सौन्दर्यपरक मूल्यों का भी मूल्यांकन करता है। इस प्रकार पर्यालोचना और आलोचना में मौलिक अन्तर है, इन दोनों को एक समझना अनुचित है।

विवेचना और आलोचनाः—'विवेचन' या 'विवेचना' का शाब्दिक अर्थ है 'भली-बुरी वस्तु का ज्ञान' अथवा 'भली भाँति परीक्षा करना'। इस प्रकार विवेचन का सम्बन्ध भी आलोचना से है। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार किसी विषय के विभिन्न तत्वों का समझना आलोचना का ही अंग है। जब हम विभिन्न तत्वों को समझने की चेष्टा करते हैं तो हमारी आलोचना विवेचनात्मक हो जाती है। विश्व की बहुत सी प्रसिद्ध रचनाओं की विवेचनाएँ मिलती हैं। विवेचना के लिए उसका प्रशंसात्मक होना अनिवार्य नहीं है। विवेचना का मूल्य उद्देश्य उस रचना के अन्दर सूक्ष्मता के साथ प्रवेश करना होता है। उसमें अच्छी तरह पैठ जाना चाहिए। विवेचना का मूल कार्य पूर्वाग्रह या आपसी वैमनस्य से आलोचक या विवेचक को दूर रखना होता है। पूर्वाग्रह से दूर हट, विवेचक को सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण से रचना के कलात्मक निष्कर्षों तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का मूल्यांकन करना चाहिए। यही विवेचना का मूल कार्य है।

अध्याय २

पाश्चात्य आलोचना का संक्षिप्त इतिहास

पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र का इतिहास प्रायः तीन कालों में विभाजित किया जाता है। पहला—प्राचीन काल–५वीं शती ई० पू० से ४थी शती ई० तक। दूसरा—मध्यकाल–५वीं शती ई० से १५वीं शती तक। तीसरा—आधुनिक काल—१६वीं शती से लेकर अब तक। तीनों कालों का संक्षिप्त अध्ययन करने का प्रयास किया जायगा।

(१) प्राचीन काल:—पश्चिम में आलोचना का मूल-स्थान यूनान था। प्लेटो तथा अरस्तू से पहले प्रोतगोरस, हिप्पअस, देमोक्रितुस, अरिस्तोकनेस आदि विद्वान काव्य के विभिन्न अंगों का सैद्धान्तिक विवेचन कर चुके थे, पर उनका विवेचन अव्यवस्थित और अनियमित था, इसी से उन्हें आलोचनाशास्त्र में स्थान नहीं दिया जाता। काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में प्लेटो का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्हें काव्यशास्त्र के आदि आचार्य होने का गौरव नहीं प्रदान किया जा सकता, क्योंकि काव्यशास्त्र उनका मूल प्रतिपाद्य विषय नहीं था, और काव्यशास्त्र का उन्होंने व्यवस्थित विवेचन तथा मूल्यांकन प्रस्तुत नहीं किया, तथापि उनका ऐतिहासिक महत्व है। प्लेटो के सिद्धान्त में काव्य के प्रति निषेध के स्वर मुखरित होने का मूल कारण यह है कि उन्होंने उस समय अनुभव किया कि होमर, ही सिकद आदि की कविताओं में सत्-असत् के विवेक के बिना यूनानी जन्ता को अन्ध श्रद्धा भावना के आधार पर इन्हें नहीं स्वीकारना चाहिए। अतः सहज ही उन्होंने इन कवियों की आलोचना से ही अपने सिद्धान्त की धारणा की। प्लेटो के काव्यशास्त्र का निषेधात्मक महत्व है। यदि उसके जैसा मेधावी विचारक तथा दार्शनिक काव्य का निष्कासन न करता तो सम्भवतः उनके शिष्य अरस्तू उसके उद्धार का प्रयास ही नहीं करते। कला को राजनीति, धर्म, नीति आदि के बन्धनों से उन्मुक्त कराने का सफल प्रयास तो अरस्तू ने ही किया, परन्तु उन्हें मार्ग दिखलाने का श्रेय तो प्लेटो को ही था।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि अप्रत्यक्ष रूप से प्लेटो के सिद्धान्त से काव्य का उपकार हुआ, क्योंकि काव्य के प्रति उसके निषेधात्मक दृष्टिकोण से प्रेरित होकर अरस्तू ने काव्य के प्रति निषेधात्मक दृष्टिकोण को खंडित कर, व्यवस्थित रूप से उसको स्थापित किया। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष रूप से प्लेटो के सिद्धान्त ने काव्य का अहित ही अधिक किया। 'गणतन्त्र' में राजनीति के सिद्धान्तों की

विवेचना करते समय प्रासंगिक रूप में उन्होंने काव्य की चर्चा की है। काव्य के सम्बन्ध में उनका मत था कि काव्य मिथ्या संसार की मिथ्या अनुकृति मात्र है। उनके अनुसार प्रत्यय जगत ही यथार्थ और सत्य है। बाह्य जगत प्रत्यय जगत की परछाईं मात्र है। काव्य बाह्य जगत की परछाईं है। इस प्रकार काव्य परछाईं की परछाईं होने के कारण सत्य से बहुत दूर हो जाता है। अतः अनुकरण सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए प्लेटो ने 'कवि को नक्काल घोषित किया, एवं उससे सृजन, निर्माण, बल्कि पुनर्निर्माण का गौरव भी छीन लिया।[१]

काव्य के सम्बन्ध में प्लेटो की दूसरी धारणा यह थी कि काव्य हमारी भावनाओं को उद्वेलित करती है। इसलिए जीवन तथा समाज के लिए वह हेय तथा निम्न है। प्लेटो की धारणा थी कि 'एक आदर्श गणराज्य में किसी भी ऐसी वस्तु को स्थान नहीं दिया जा सकता जो लोगों की भावनाओं को उभार कर उन्हें दुर्बल तथा चरित्रहीन बनाएँ। इसीलिए उन्होंने अपने आदर्श राज्य में से कविता का निष्कासन करते हुए लिखा, "अतः अब हमारे लिए यह न्याय होगा कि हमें जिस देश को सुशासित रखना है, उसमें कवि का प्रवेश निषेध कर दें, क्योंकि वह आत्मा के इस (दुर्बल) अंश को जागृत, पोषित, और परिपुष्ट करता है तथा विवेक अंश का क्षय करता है।"[२] इस प्रकार प्लेटो ने काव्य को बहुत ही निम्न तथा हीन दृष्टि में देखा है।

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने प्लेटो के काव्य के प्रति आक्षेपों का सबल उत्तर दे, काव्य को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

उसके अनुसार काव्य अनुकरण नहीं है, अपितु नवीन सृष्टि है। वह सत्य से दूर नहीं है। उसमें इतिहास से अधिक व्यापक तथा सावभौम सत्य निहित रहता है। दूसरे काव्य या साहित्य वासनाओं का संपोषण न करके विरेचन करता है। इस प्रकार हमें स्वास्थ्य प्रदान करता है। अरस्तू के विचारों तथा सिद्धान्तों की चर्चा हम अलग अध्याय में करेंगे। अरस्तू के काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्त अधिक स्वस्थ्य तथा उपयोगी हैं। उन्होंने सर्वप्रथम काव्यशक्ति का व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत किया। उनके सिद्धान्तों तथा व्याख्याओं का आज भी महत्व स्वीकार किया जाता है। इसी कारण उन्हें पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र का आदि आचार्य माना जाता है।

अरस्तू के बाद यूनान में कुछ समय तक अलंकारशास्त्र तथा भाषण कला पर ही ग्रंथ लिखे जाते थे। इससे साहित्य-समीक्षा आगे न बढ़ सकी। प्लेटो तथा अरस्तू के बाद तीसरे प्रसिद्ध यूनानी आलोचक लोंजाइनस थे। इनके ग्रंथ का नाम 'पेरि इप्सुस' (उदात्त के विषय में) था। यह ग्रंथ अरस्तू के 'काव्यशास्त्र' के समान ही पाश्चात्य

१. प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त—डॉ० निर्मला जैन।
२. पाश्चात्य काव्य की परम्परा—डॉ० नगेन्द्र।

आलोचना के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। 'पेरिइप्सुस' अपने वर्तमान रूप में एक खंडित तथा अपूर्ण कृति है, जिसमें कुल ४४ छोटे-छोटे अध्याय हैं। इस ग्रंथ का अध्ययन करने पर 'लोगिनुस एक युगान्तकारी और अप्रतिम आलोचक के रूप में सामने आता है।[१]'

उन्होंने उदात्त को ही काव्य को आत्मतत्व के रूप में प्रकाशित किया है। वे लिखते हैं कि 'सच्चे औदात्य से हमारी आत्मा जैसे अपने आप ही ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है, मानो जो कुछ हमने सुना, वह स्वयं अपनी ही कृति हो।'

लेगिनुस की मौलिकता इस बात में निहित है कि उसने साहित्य-शास्त्र में रचनाकार के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा स्थापित की उसके अनुसार काव्यजन्य आनन्द का मूल कारण काव्य में निहित उदात्त तत्व ही है। इस उदात्त तत्व के ५ स्रोत हैं—१. विचारों की महानता, २. भावों का उद्दाम एवं शक्तिशाली प्रतिपादन, ३. अलंकारों की समुचित योजना, ४. उत्कृष्ट अभिव्यक्ति तथा ५. गरिमामय रचना विधान। इन सभी के पीछे मूल तत्व लेखक या कवि के व्यक्तित्व की महानता है। उनके अनुसार महान आत्माओं की वाणी से ओदात्य झंकृति होती है। अतः साहित्य में सर्वप्रथम व्यक्तिवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का श्रेय लोगिनुस को दिया जाता है। इसीलिए उसे प्रथम स्वच्छन्दतावादी या सौन्दर्यवादी समीक्षक कहा जाता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि उसने शैली की अवहेलना नहीं की है। उसका अपना विश्वास था कि श्रेष्ठ साहित्य बिना उदात्त शैली के नहीं रचा जा सकता। यह उदात्त शैली विस्तृत शब्दाडम्बर मात्र का प्रतीक नहीं है। यह एक उदात्त तत्व है जो ठीक समय पर प्रस्फुटित होकर अपने प्रभामय आलोक से लेखक के शक्ति का परिचय देती है। अतः उदात्त शैली के लिए प्रतिभा के साथ-साथ गूढ़ तथा विशद अध्ययन की भी आवश्यकता रहती है। इस प्रकार लोगिनुस में शुद्ध रोमांटिकता या विशुद्ध स्वच्छन्दतावादी तत्वों के दर्शन नहीं होते। उनका स्वच्छन्दतावाद शास्त्रीयता से युक्त था।

दूसरे, लोगिनुस ने साहित्य की अत्यन्त व्यापक अवधारणा प्रस्तुत की जो व्यापकता में आज भी अद्वितीय है। उसने वक्तृता से लेकर प्रगति, महाकाव्य, नाटक, इतिहास आदि सम्पूर्ण वाङ्मय को साहित्य की व्याख्या करते हुए समेट लिया। वह इनके अन्तर को भी समझता था, और अवसर पड़ने पर उसका उल्लेख भी किया है।

१—उदात्त के विषय में—डॉ० निर्मला जैन।

अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अज्ञान के कारण उसने सब को एक में समेट लिया था। वास्तव में उदात्त के विवेचन क्रम से वक्तृता, इतिहास, दर्शन, काव्य, नाटक आदि सभी विषयों तक दृष्टि दौड़ाकर उनके आन्तरिक सम्बन्धों की ओर संकेत किया, आलोचनाशास्त्र या साहित्यशास्त्र में व्यापक दृष्टि की संभावना अधिक बढ़ी।

तीसरे, लोंगिनुस ने एक साथ ही ऐतिहासिक, तुलनात्मक, निर्णयात्मक और विश्लेषणात्मक आलोचना पद्धति का आश्रय ग्रहण किया। ऐतिहासिक आलोचना पद्धति का अनुसरण कर उसने 'इलियद' से 'ओदेसी' को हीन माना, और हीनता का कारण होमर की वृद्धावस्था बतलाया। तुलनात्मक आलोचना का अनुसरण कर उसने दिमोस्थेनीस और सिसरो के व्याख्यानों के प्रभाव की तुलना की। निर्णयात्मक आलोचना के भी पूर्ण तत्व लोंगिनुस में मिलते हैं। उसकी 'पेरिइप्सुस' में निर्णयात्मक वक्तव्यों के दर्शन स्थान-स्थान पर होते हैं। इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व यह है कि उसमें विश्लेषणात्मक आलोचना का भी रूप मिलता है। इस आधुनिक व्यावहारिक आलोचना का पूर्व रूप माना जा सकता है।

विमसाट ने 'पेरि इप्सुस' की विशेषताओं की ओर संकेत करते हुए लिखा '.....इसकी सबसे असाधारण विशेषता, मानदण्डों की विविधता है; उसमें कविता के मूल्यांकन के लिए अनेक पद्धतियाँ और दृष्टियाँ अपनाई गई हैं। वैसे तो प्रमुख पद्धतियाँ तीन हैं; श्रोता का आनन्द, रचनाकार की प्रतिभा और अलंकार का कौशल, किन्तु इन सबके साथ लगे हाथों वह यह भी मानदण्ड उपस्थित करता गया कि महान् काव्य वह है जो सभी को और सर्वदा आनंदित करे।[1]'

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि पाश्चात्य आलोचना सिद्धान्त के इतिहास में लोंगिनुस का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। पुनर्जागरण युग से लेकर आज तक विभिन्न साहित्यिक आन्दोलन उनके सिद्धान्तों से प्रेरणा ले रहे हैं। विचित्र बात तो यह है कि स्वच्छन्दतावादी और अस्वच्छन्दतावादी दोनों आन्दोलनों के लेखकों ने लोंगिनुस से एक साथ प्रेरणा प्राप्त किया है।

लाँगिनुस के समय को लेकर विद्वानों में गहरा मतभेद है। कुछ विद्वान इसको नवप्लेटोवाद के संस्थापक प्लैटीनस का समकालीन तथा महारानी जेबेनिया के शासन से संबन्धित था। 'पेरिइप्सुस' इसी की रचना थी। पर अब यह मत विद्वानों को स्वीकार नहीं है। १८९९ ई० में प्रोफेसर डब्ल्यू० रीज़ रॉबर्ट्स ने यह स्थापित किया कि पैरिइप्सुस का रचयिता इतिहास प्रसिद्ध लोंगिनुस नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रोफेसर एटकिन्स ने भी यह निष्कर्ष निकला कि पैरिइप्सुस का लिखने वाला अज्ञात्

१. लिटरेरी क्रिटिसिज्म : ए शार्ट हिस्ट्री।

नाम ग्रीक लेखक है जो ईसा की पहली शताब्दी में रोम में रहता था यही मत अधिकांश विद्वानों द्वारा स्वीकृत है ।

ईसा की चौथी शताब्दी के बाद सुव्यवस्थित ग्रीक सभ्यता व संस्कृति विशृंखलित होने लगी । रोमनों की बढ़ती शक्ति के आगे यूनान ने घुटने टेक दिए इस प्रकार ग्रीक तथा रोमनों में आपसी विचार-विनिमय तथा सांस्कृतिक मिलन की प्रकिया प्रारम्भ हुई । सत्ता की दृष्टि से रोम विजयी था, पर सांस्कृतिक दृष्टि से ग्रीस ने दर्शन, विज्ञान, साहित्य, कला आदि सभी क्षेत्रों में रोम को प्रभावित किया । दुर्भाग्य की बात तो यह है कि ग्रीक तथा रोम दो उच्च संस्कृतियों के मिलन या सम्पर्क से भी 'प्लेटो' या 'अरस्तू' जैसा व्यक्तित्व न उत्पन्न हो सका । अतः इस समय के आलोचना के विकास को देखकर निराश होना पड़ता है । ग्रीक आचार्यों द्वारा स्थापित नियमों और सिद्धान्तों को ही रोमन आचार्यों ने थोड़े बहुत संशोधन के साथ स्वीकार किया । इस युग में सबसे पहले सिसरो का नाम उल्लेखनीय है । वह मूल रूप से राजनीतिज्ञ था । अतः भाषण कला की ओर ही विशेष रूप से उसका ध्यान गया । वह भाषाण शैली में औचित्य को प्रमुखता देता था । भाषणों में विषय के गम्भीर अध्ययन, विचारों के क्रमबद्ध विश्लेषता, दर्शन ज्ञान, और मनोविज्ञान की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ सुन्दर शैली, तथा भाषा में अलंकारों, समासों, कहावतों आदि का प्रयोग भी होना चाहिए । उसके अनुसार भाषण इतने रोचक तथा पूर्ण होने चाहिए जिससे श्रोताओं को शिक्षा के साथ ही साथ आनन्द की भी प्राप्ति हो सके । इस समय के रोमी आचार्यों में होरेस का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है ।

होरेस की सबसे महत्वपूर्ण रचना 'आर्स पोयटिका' थी । विद्वानों की धारणा है कि इस कृति ने अरस्तू के पोयटिका के समान लगभग १६०० वर्षों तक आलोचनात्मक पद्धतियों को प्रभावित किया । उन्होंने काव्य के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालते हुए औचित्य को अधिक महत्व दिया । उनकी स्थापना थी कि 'यदि वक्ता के शब्द परिस्थिति के अनुकूल नहीं हो तो सम्पूर्ण रोमवासी उच्चवर्ग के हों या निम्न वर्ग के—उस पर जी खोल कर हँसेगे ।"[१] इस प्रकार उन्होंने कोई नया सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया । उसने सिद्धान्तों की दृष्टि से अरस्तू के ही सिद्धान्त को अपनाया । इनकी मौलिकता सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने में निहित है । 'आर्स पोयटिका' ऐसे ही आदेश और नियम हैं जिनका मूल आधार औचित्य तथा कलात्मक समन्वय है । इससे अरस्तू के बाद पश्चिमी आलोचनाशास्त्र में होरेस का महत्वपूर्ण स्थान है । 'जो बीज अरस्तू की दार्शनिकता ने बोए थे उसके फल योरुप ने होरेस की व्यावहारिकता के माध्यम द्वारा चखे । पोयटिक्स' का प्रसार 'आर्स पोयटिका' ने ही किया ।

१. काव्य-कला—डॉ० नगेन्द्र

रोमन आचार्यों में 'क्विन्टीलिअन' का नाम कम महत्वपूर्ण नहीं है। वह जन्म से रोमन था, लेकिन विचारों से ग्रीक। ग्रीक परम्पराओं और सिद्धान्तों ने अभिभूत कर दिया था। उसने सबसे पहले आलोचना की सुव्यवस्थित पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण किया। उसके अनुसार गद्य को इतना सुव्यवस्थित तथा स्पष्ट होना चाहिये, जिससे उससे भ्रम की कोई सम्भावना न रहे। शैली प्रवाहपूर्ण होनी चाहिये। अलंकृत शैली को उसने स्वीकृति दी है, पर उसी हद तक, जिस हद तक वह काव्य में भावनात्मक दृष्टि से अवरोध नहीं उत्पन्न करती। कला में सौन्दर्य के महत्व को स्वीकारते हुए भी उसने कला के नैतिक आदर्शों पर भी बल दिया है।

इस प्रकार इस काल में आलोचनाशास्त्र का सर्वांगीण विकास दिखाई देता है। प्लेटो से लेकर 'क्विन्टीलीअन' तक विभिन्न आचार्यों ने काव्य की सर्जन-प्रक्रिया, आस्वाद प्रक्रिया, उसके भाव, विचार तथा शैली आदि विभिन्न पक्षों पर अपने-अपने दृष्टि से विचार किया।

२. **मध्यकाल** :—(५वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक) यह युग बौद्धिक चिन्तन तथा साहित्य के विकास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण नहीं है। विद्वान् इसे 'अंधकार युग' की संज्ञा देते हैं। डॉ० केसनीनारायण शुक्ल ने इस समय की परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए लिखा—'ईसा की प्रथम दो शताब्दियों के बाद व्यापक अराजकता का समय आया। इस बीच रोमन साम्राज्य पूर्वी और पश्चिमी दो टुकड़ों में टूट गया।......इस उथल-पुथल के फलस्वरूप रोम का महत्व लुप्त हो गया और पश्चिमी योरुप पर पाँचवीं शताब्दी के बाद अंधकार का अभेद्य पर्दा पड़ गया, जिसके साथ राजनीतिक अस्त-व्यस्तता और मानसिक पक्षपात का आगमन हुआ। इस समय के बाद विद्या का ह्रास हो गया प्राचीन ग्रन्थ लुप्त हो गए और रोमन शैक्षिक विधान का, जिसने कि पश्चिम में प्राचीन अध्ययन के क्रम को बनाए रखा था, सहसा अन्त हो गया। ज्ञानार्जन की पूर्वपरम्पराएँ नष्ट हो गईं और बैद्धिक कार्य-कलाप से लोगों के मन विरत हो गए।[१]

इस अन्धकार युग में इटली के दाँते का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह प्रकाश स्तम्भ की भाँति था। दाँते के मतानुसार साहित्य में भाषा का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान होता है। अतः मनुष्य को भाषा की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिए। भाषा ईश्वर का ऐसा वरदान है जो केवल मनुष्य को मिला है। अतः भाषा के सौन्दर्य को निखारने के लिए मनुष्य को प्रयत्नशील रहना चाहिए। उसने भाषा की अर्थ-संबन्धी और ध्वनिसंबन्धी दो शक्तियाँ मानकर उसकी प्रकृति को सूक्ष्म दृष्टि से देखा और लैटिन की अपेक्षा मातृभाषा जिसका प्रयोग लोग बचपन से करते हैं, के प्रयोग पर ही बल दिया। बचपन से बोली जाने वाली भाषा के सीखने में अधिक प्रयास तथा

१. पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्त—डॉ० केसरी नारायण शुक्ल।

परिश्रम नहीं करना पड़ता।[1] ऐसी भाषा भावों को वहन करने में समर्थ होती है। दाँते भाषा को महत्व देते हुए भी काव्य में उसे केवल साधन के रूप में ही स्वीकारता है। कवि के लिए भाषा उसी प्रकार साधन है, जिस प्रकार सैनिक के लिए अश्व। उसकी दृष्टि में मानव-जीवन में मात्र घटनाओं के तह में कोई क्षण, तथा अर्थ देखना चाहता है। इसी को उसने 'कार्य' या 'कथानक' कहा है। काव्य-विषय के सम्बन्ध में उसने शौर्य, पुण्य, और प्रेम को ही अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया। उसकी धारणा थी कि इन्हीं तत्वों के समावेश से काव्य में श्रेष्ठता आ सकती है।

३. आधुनिक युग:—(१६वीं शती से आज तक) आधुनिक युग का उदय मध्य युग के विरुद्ध विद्रोह स्वरूप हुआ। मध्य युग में अंधविश्वासों की प्रचुरता थी विश्वास एवं परम्पराओं ने मानो बुद्धि को कुंठित कर दिया था। गिरजाघरों और पादरियों ने मनुष्य की बौद्धिक स्वतंत्रता को छीन लिया था। पर धीरे-धीरे इनके विरुद्ध विद्रोह हुआ। ईसाई धर्म में दरार पड़ गई। परिणामस्वरूप आधुनिक युग का उदय हुआ। इसीलिए इसे 'पुनर्जागरण काल' भी कहते हैं। मनुष्य इस युग में फिर से जगा। चर्च के कठोर नियमों एवं नियंत्रणों को उठाकर फेंक दिए।

आलोचना के क्षेत्र में अध्ययन की सुविधा के लिए पूरे आधुनिक युग को लगभग चार भागों में बाँटा जा सकता है। पहला, पुनर्जागरण युग, दूसरा, नव्यशास्त्र-वादी युग, तीसरा, स्वच्छंदतावादी युग तथा चौथा, आधुनिक आलोचना।

१. पुनर्जागरण युग:—इस काल में इटली, फ्रांस, इंगलैण्ड आदि यूरोप के सभी भागों में साहित्य रचना के सम्बन्ध में नई दृष्टि से विचार किया गया। इटली के आलोचको में 'मार्कोवीदा' का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। उसका आदर्श वाक्य था प्राचीनों से तत्वों को ग्रहण करो। फलस्वरूप अरस्तू के ग्रंथ का प्रचार एवं प्रसार बढ़ा। लैटिन में वीदा ने और इटैलियन में त्रीसीनो ने टीका-टिप्पणी सहित, अरस्तू के ग्रन्थों को प्रकाशित किया। वीदा और त्रिसीनों के अतिरिक्त इटली के प्रमुख आलोचकों में मिन्तूर्नों, विक्तोरियस, जूलियस सीज़र आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। इस युग में इन आचार्यों ने काव्य की प्रकृति और उसके स्वरूप की आधुनिक युग के प्रकाश में विवेचना की।

फ्रांस में पुर्नजागरण काल से प्रेरित आलोचकों में मारो का बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। फ्रांस में कविता के सम्बन्ध में छंद और लय को लेकर गहरा मतभेद था। इन मतभेदों और विवादों का मूल आधार ग्रीक साहित्य थी। फ्रांस के आलोचकों में अरस्तू को तो महत्व दिया। लेकिन उनकी तर्क-प्रणाली प्लेटो की तर्कणा पद्धति से ही

१. पश्चिमी आलोचनाशास्त्र—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

प्रेरित थी। इसके साथ ही होरेस, सिसरो और क्विन्टीलियन की रचनाओं का प्रचार एवं प्रसार फ्रांस में हुआ।

पुर्नजागरण काल का प्रकाश इंगलैण्ड में सबसे अधिक खुलकर व्यक्त हुआ। १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी में क्लैसिकल छंदों की महत्ता को स्वीकार किया गया। पर इन छंदों की अपनी एक विशेषता थी जो अंग्रेजी भाषा से मेल नहीं खाती थी। अंग्रेजी छंदों का अपना अलग स्वभाव था। फलस्वरूप इंगलैण्ड में इस सम्बन्ध में एक गहरा वाद-विवाद छिड़ा। आलोचक दो दलों में विभाजित हो गए। इंगलैण्ड में जब यह वाद-विवाद चल रहा था तभी सर फिलिप सिडनी ने 'एपॉलोजी फार पोयट्री' की रचना की। उसने इस मत का विरोध किया कि कविता अनैतिकता का प्रचार करती है। प्लेटो के मत को भी फिलिप सिडनी ने एक नए संशोधन के साथ प्रस्तुत किया। उसका कहना था कि प्लेटो ने काव्य के सम्बन्ध में जो आक्षेप लगाए हैं वह अनैतिक काव्य पर ही है पूरे काव्य पर नहीं। उसने नैतिक दृष्टि से काव्य का मूल्यांकन किया। उसके अनुसार नीतिशास्त्र की दृष्टि से काव्य की उपयोगिता किसी भी तरह कम नहीं है। कविता मनुष्य की सभ्यता व संस्कृति को उज्ज्वल बनाती है। कविता नैतिकता की शिक्षा प्रभावशाली ढंग से दे सकती है। इस प्रकार सिडनी के लेख में काव्य के प्रति एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया था। इसीलिए सिडनी को अंग्रेजी साहित्य का प्रथम महान आलोचक माना जाता है।

२. **नव्यशास्त्रवादी युग**—इस युग में साहित्य के आलोचना का केन्द्र इटली से हटकर फ्रांस बन गया। फ्रांस के कवि रोन्सार ने यह माना था कि कवि-विक्षेप काव्य-मृजन के लिए आवश्यक है। कवि की प्रतिभा को पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। इन विचारों के कारण ही काव्य-जगत में एक अव्यवस्था फैल गई। इसी अव्यवस्था को दूर करने के प्रयास में नव्य-शास्त्रवादी युग की स्थापना हुई। इस कार्य में बुअलो, रॅपे तथा लाबोस्यु का नाम महत्वपूर्ण है। इन आलोचकों की यह धारणा थी कि प्राचीन विद्वानों की कृतियाँ ही सर्वश्रेष्ठ हैं और आधुनिक आलोचकों को उनका ही अनुकरण करना चाहिए। प्राचीन नियमों की अवहेलना करना सभ्यता और संस्कृति की अवहेलना करना है। अरस्तू और होरेस ने जो कहा वही कहने की इति थी और वही उचित था। इस प्रकार इस युग में प्राचीन यूनानी रचनाओं के अनुकरण के आधार पर ही नई रचनाओं का सृजन हुआ। ब्वलो नव्य शास्त्रवाद का प्रवर्तक माना जाता है। उसके नियमों को आलोचकों ने सैनिक नियम अनुशासन की भाँति कठोर बतलाया। बुअलो को इसीलिए कुछ आलोचक सार्जण्ट मेजर मानते हैं।

नव्यशास्त्रवादी मूलतः यह मानते थे कि अरस्तू और होरेस के सिद्धांत शाश्वत, सार्वकालिक और सार्वदेशिक हैं। अतः उन्हें केवल एक युग विशेष की रचना नहीं

मानना चाहिए। उनका पालन सभी युगों में होना चाहिए। नव्यशास्त्रवादियों की यह धारणा है कि कविता प्रकृति का अनुकरण है। प्रकृति के अनुकरण से उनका तात्पर्य यथार्थवाद तथा वास्तविकता के पुनर्निमाण से था। इसी मोह के कारण ही नाटक में संकलन-त्रयी पर बल दिया। उन्होंने अपनी रचनाओं में ऐसे नायकों को चुनने की सलाह दी जो शक्ति तथा गुणों में महान् हों तथा सार्वभौम भी हों। उनके आदर्श किसी युग विशेष तक सीमित नहीं हों। फलतः काव्य के सिद्धान्तों में आदर्शवाद को इन लोगों ने प्रमुखता दी। इसी से इनकी प्रवृत्ति काव्यगत न्याय की ओर अधिक थी। कवि से यह आशा की जाने लगी कि वह ईश्वर के आचरण को न्यायसंगत सिद्ध करे। उसकी रचना में अपराधी को अंत में अवश्य ही दण्ड मिलना चाहिए। चरित्रवान् एवं सदाचरण वाले को रचना के अंत में अच्छे फलों को प्राप्त करने वाले के रूप में चित्रित करना चाहिए। इस प्रकार इस युग के आलोचकों ने बहुमत से नैतिक उपयोगिता को ही काव्य का लक्ष्य माना है। आनन्द को ये लोग नैतिक उपदेशों के साथ ही समाहित करने के पक्ष में थे। लॉबोस्यु ने लिखा—The aim of the epic is moral instruction disgusied under the allegory of action.

नव्यशास्त्रवादियों ने अरस्तू के विरेचन के सिद्धान्त की नई व्याख्या प्रस्तुत की। उनके अनुसार विरेचन का अर्थ भय और करुणा के भावों का कठोर हो जाना और उनसे अप्रभावित रहना है। जिस प्रकार चिकित्सक भयानक घावों को देखते-देखते इतना आदी हो जाता है कि उस पर उनका प्रभाव नहीं पड़ता उसी प्रकार दर्शक त्रासदी में करुणा और भय के भावों को देखते-देखते इतना अभ्यस्त हो जाए कि उसे फिर ये भाव प्रभावित न करे।[१]

नव्यशास्त्रवादी कवि के लिए प्रतिभा और प्रेरणा दोनों को आवश्यक मानते थे। रचना विधान के सम्बन्ध में उन्होंने कई नियमों को प्रस्थापित किया। उनकी यह धारणा थी कि लेखक को सदैव अति से बचना चाहिए तथा संयम से काम लेना चाहिए। इस युग के आचार्यों ने छंद रचना विधान सम्बन्धी नियमों की विस्तारपूर्वक चर्चा की। उन्होंने शब्दों के चयन की शैली के सम्बन्ध में भी नियम बनाए। उनकी यह स्थापना थी कि स्वरांत शब्द के तुरंतबाद ऐसे शब्द नहीं आने चाहिए जो स्वर से आरम्भ हों। इन आलोचकों ने अलंकारशास्त्र पर भी विशेष ध्यान दिया। अलंकारों के वर्गीकरण छंदों के विभाजन पर इनकी दृष्टि विशेष रूप से केन्द्रित थी। इस प्रकार काव्य के बाहरी साज-सज्जा पर विशेष बल दिया।

फ्रांसीसी नव्यशास्त्रवादियों का प्रभाव इंगलैण्ड पर भी पड़ा ड्राइडन, एडिसन और जॉनसन आदि को छोड़कर अधिकांश अंग्रेजी आलोचकों ने ब्वालो के प्रति श्रद्धांजलि

१. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त—शांतिस्वरूप गुप्त।

अर्पित की। इंगलैण्ड में नव्यशास्त्रवादियों का प्रमुख समर्थक जॉन ड्राइडन था। पर उसने ब्वालो का भी विरोध किया। क्योंकि वह प्राचीन नियमों और सिद्धान्तों को नवीन युग के अनुकूल ढाने के पक्ष में था। उसने ग्रीक और रोमन साहित्य का अध्ययन नहीं किया था और न ही इसकी आवश्यकता समझी थी। उसने अपने देश के शेक्सपीयर तथा जॉनसन जैसे साहित्यकारों की कृतियों का अध्ययन किया था और इसमें उसे आनन्द मिला। ड्राइडन पाश्चात्य आलोचकों में पहला व्यक्ति था जिसने प्राचीन तथा आधुनिक सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला था कि साहित्य में किसी राष्ट्र के सामूहिक जीवन का मूलतत्व विद्यमान रहता है। अतः कला और साहित्य हर राष्ट्र और हर युग की प्रतिमा के अनुकूल होता है। होमर और वर्जिल अपने देश और युग के लिए ठीक थे। उसी प्रकार शेक्सपीयर और जॉनसन का औचित्य उनके युग और देश पर ही निर्भर है।

ड्राइडन ने जो आलोचना सिद्धान्त स्थापित किया आज तक उसका महत्व माना जाता है। संक्षेप में उसकी स्थापनाएँ निम्नलिखित थीं—

१. जीवन की स्वाभाविकता कवि का मूल कार्य है। उसकी कविता में जीवन का जीवन्त स्वरूप चित्रित होना चाहिए।

२. कविता का मूल लक्ष्य शिक्षा देना न होकर आनन्द की प्राप्ति ही है। शिक्षा को काव्य का गौण लक्ष्य मानना चाहिए।

३. कविता में बिम्ब योजना को ड्राइडन ने महत्वपूर्ण स्थान दिया। उसके अनुसार कवि बिम्बों के माध्यम से ही भावनाओं का चित्रण करता है।

४. ड्राइडन की मान्यता थी कि कल्पना कवि के लिए बहुत महत्वपूर्ण वस्तु है। कल्पना के आधार पर ही कवि काव्य रचना करता है।

५. उसके अरस्तू के संकलन त्रयी का निर्वाह आवश्यक नहीं है। ड्राइडन की महत्ता इसमें है कि उसने आलोचना को एक नई दिशा की ओर प्रवृत्त किया।

इस युग का दूसरा इंगलिश आलोचक एडिसन था। एडिसन ने भी ब्वालो का अंधानुकरण नहीं किया। उसने कल्पना को बहुत महत्व दिया। उसके अनुसार कल्पना का अर्थ दृश्य पदार्थों के बिम्बों के रूप में लेना चाहिए। उसने आलोचना को अरस्तू के अंधानुकरण से बचाया। कल्पना के साथ ही साथ वह सौंदर्य मीमांसा की ओर प्रवृत्त हुआ। उसकी धारणा थी कि प्रकृति कला से उच्चतर है क्योंकि वह ईश्वर की कृति है। फिर वह अधिक जीवंत भी है। इसीलिए प्रकृति अनगढ़ होते हुए भी अधिक सुन्दर एवं गम्भीर है। इस प्रकार उनके अनुसार सौंदर्य सीमित वस्तु नहीं है। सौंदर्य की अनुभूति एक सामाजिक प्रवृति है। उनकी इन्हीं मान्यताओं के कारण उन्हें सौंदर्य-मीमांसा के प्रारम्भिक अंग्रेज व्याख्याताओं में माना जाता है।

इस युग में पोप का भी आलोचनात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी रचना 'द एसे ऑन क्रिटिसिज्म' एकछन्दबद्ध रचना है। मोटे रूप से पोप ने होरेस और ब्वालो के सिद्धान्तों को ही ग्रहण किया। उसमें ड्राइडन के समान क्रांतिकारिता नहीं थी। पोप ने अच्छे साहित्य की सृष्टि के लिए सत् समालोचक का होना आवश्यक माना है। इस प्रकार पोप ने परम्परागत तत्वों को स्वीकारते हुए भी एक नए दृष्टिकोण का परिचय दिया। काव्यांनद का स्रोत भावात्मकता को माना। वे लिखते हैं 'ऐसी कविताओं पर जिनमें न ज्वार आता है न भाटा ; जो शुद्ध होते हुए भी भाव विहीन होती हैं; जो एक ही रीति से मंद-मंद प्रवाहित होती हैं; जो दोषों से बचती हुई एक ही बँधी-बँधाई गति अपनाए रहती हैं—हम दोष भले न लगाए परन्तु (उनसे ऊबकर) सो तो सकते है।'[१]

पोप और उसके समय में प्रचलित आलोचनात्मक पद्धति की व्याख्या प्रोफेसर सेंट्सबरी ने बड़े सुन्दर शब्दों में की है—

'.........A Sort of Compromise between a supposed following of the ancients, and real application, to literature in general and to poetry in particular of the general taste and cast of the thought of the time.

पोप के विषय में कुल मिलाकर इतना कहा जा सकता है कि उन्होंने आलोचना सम्बन्धी विषयों पर समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

इस युग का अन्य प्रसिद्ध अंग्रेज आलोचक जॉनसन था वह 'टोरी' था।[२] प्रकृति का पुजारी नहीं था, कृत्रिम से कृत्रिम मानव समाज का, नगरों, क्लबों और दावतों का शौकीन था। संगीत के प्रति उसकी कोई रुचि न थी। काव्य को वह नियम बद्धता में जकड़ने का पक्षपाती था। उसने नव्यशास्त्रवादी आलोचना के सिद्धांत में दीक्षा पाई थी। परम्परा तोड़ने वाले उसे पसन्द नहीं थे। वह बहुत कट्टरपंथी था। उसकी रचनाओं में नव्यशास्त्रवादी युग की आलोचनात्मक पद्धति की पूर्णतम अभिव्यक्ति हुई है। पद्य की अपेक्षा गद्य में उसने अधिक कार्य किया। वह प्राचीन सिद्धान्तों को नए रूप में प्रस्तुत करने के समर्थक थे। उसकी धारणा थी कि साहित्य में जब मानव स्वभाव उद्घाटित होता है तो दर्शक या पाठक को उसके साथ भावनात्मक दृष्टि से एकात्म का अनुभव करना चाहिये। उसके अनुसार काव्य केवल आनन्दयक ही नहीं वरन् शिक्षाप्रद भी होना चाहिए। प्राचीन और आधुनिक के बीच समन्वय पर उसने अधिक बल दिया। वह लिखता है—'लेखक का प्रथम प्रयास प्रकृति और परम्परा में भेद करना होना चाहिए।—अर्थात् जिसकी प्रतिष्ठा उपयुक्त होने के नाते हुई है और जो प्रतिष्ठित हो जाने के कारण ही उपयुक्त है, इन दोनों का भेद उसे

१. आलोचना के सिद्धान्त—शिवदान सिंह चौहान
२. पश्चिमी आलोचना शास्त्र—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।

हृदयंगम कर लेना चाहिए जिससे वह नवीनता लाने की लालसा में अनिवार्य सिद्धांतों का अतिक्रमण न करे और न ऐसे नियमों को—जिनके प्रवर्तन का अधिकार किसी साहित्यिक तानाशाह को न था—तोड़ने के आवश्यक डर के मारे अपनी दृष्टि की परिधि में आए हुए सौन्दर्य का समावेश करने से विमुख हो।'[1]

इस प्रकार इंगलैण्ड में नव्यशास्त्रवादी आलोचकों में ड्राइडन, एडिसन, पोप और जॉनसन का महत्वपूर्ण स्थान है। जॉनसन के समय में और उसके बाद भी इस विचारधारा के समर्थक बहुत से आलोचक हुए हैं परन्तु उनके सिद्धान्तों में कोई मौलिकता नहीं है।

३. स्वच्छन्दतावादी युग—१८ वीं शताब्दी के अंतिम दशक और १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में यूरोप में एक नवीन साहित्यिक विचारों का सूत्रपात हुआ जिसे स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) के नाम से अभिहित किया जाता है। इस चिंतन-धारा का फ्रांस की राज्यक्रांति से गहरा सम्बन्ध है। नव्यशास्त्रवादी युग में नियम-बद्धता बहुत अधिक थी। इस युग में कृत्रिमता और आडम्बरप्रियता भी थी। इन्हीं सब के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप १९ शताब्दी के प्रारम्भ में रोमांटिक काव्यधारा का जन्म हुआ।

रोमांटिक विचारधारा के बीज लॉगिनुस तथा लैसिंग में मिलते हैं। समय की दृष्टि से लांगिनुस प्राचीनकाल का था पर उसकी रचनाओं में आधुनिक रोमांटिक साहित्य के बीज मिल जाते हैं। उसने साहित्य का मूल लक्ष्य पाठक के अंदर हर्षातिरेक के भाव को उत्पन्न करना माना था। हर्षातिरेक की अवस्थाएँ पाठक अपने आप को भूल जाता है और इस जगत् से ऊपर उठकर कल्पना लोक में विचरने लगता है। अतः श्रेष्ठ साहित्य का रचयिता प्रतिभावान् व्यक्ति होना चाहिए। उसने सर्वप्रथम प्रतिभा के महत्व को स्वीकार किया। लेकिन उसे पूर्ण रूप से रोमांटिक नहीं माना जाता क्योंकि उसने उदात्त शैली पर भी बल दिया था।

रोमांटिक चिंतन को प्रखर रूप देने वाला दूसरा आलोचक जर्मनी का 'लैसिंग' था। इसने साहित्य को सभी बंधनों से मुक्त करने के लिए अपने स्वर को ऊँचा उठाया। उसकी यह स्थापना थी कि व्यक्तिगत प्रतिभा शास्त्रीय नियमों से ऊपर है। प्रतिभा नियमों का अनुसरण नहीं करती वरन् नियम प्रतिभा का अनुसरण करते हैं। श्रेष्ठ साहित्य का रचयिता कुशल साहित्यकार अपनी प्रतिभा के बल से काव्य रचना में प्रवृत्त होता है। शास्त्रीय आडम्बरों से नहीं। लैसिंग ने साहित्य और कला में भावों की अभिव्यक्ति को ही प्रधानता दी है। लॉगिनुस और लैसिंग ने जाने-अनजाने

१—पाश्चात्यकाव्य शास्त्र की परम्परा

अपनी रचनाओं में रोमांटिक तत्वों को स्थान दिया है। सन् १७९८ से १८३० के बीच इंगलैण्ड में रोमांटिक धारा विकसित हुई। इसके प्रवर्तन का श्रेय विलयम ब्लैक को था। उसने कविता को शास्त्रीय बंधनों से मुक्ति दिलाकर स्वच्छंद गति प्रदान की। उसकी आस्था थी कि कवि कविताएँ दिव्य आत्माओं की शक्ति के माध्यम से ही प्रस्तुत कर सकता है। उसके सिद्धांतों को संक्षेप में व्याख्यायित करते हुए कहा जा सकता है कि आदर्श सौंदर्य का ज्ञान जन्मजात होता है। दूसरा, सौंदर्य अंतःप्रेरणा और अभिव्यक्ति का ही होता है। तीसरा, संसार के सब युग समान होते हैं, किंतु प्रतिभा युग से ऊपर होती है।[1]

ब्लैक की धारणा थी कि काव्य में कल्पना का महत्वपूर्ण स्थान है। कल्पना जगत् ही वास्तविक जगत् है। दिखाई पड़ने वाले वास्तविक भौतिक जगत् की वस्तुएँ वास्तव में सत्य नहीं हैं। केवल मानसिक वस्तु ही सत्य है। ब्लैक के इसी कल्पना सिद्धांत पर रोमांटिक चिंतनधारा विकसित हुई।

रोमांटिक सिद्धांत का पूर्णतम विकास वर्ड्स्वर्थ और कॉलरिज की रचनाओं में मिलता है। इन लोगों ने मिल कर 'लीरिकल-बैलेड्स' प्रकाशित कराया, जिसका अँग्रेजी साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रंथ की भूमिका रोमांटिक काव्यधारा का घोषणा-पत्र है। वर्ड्स्वर्थ ने मनुष्य की स्वतन्त्रता पर विशेष बल दिया। उसने लिखा—'Man is born free but is found every-here in Chains शहरी संस्कृति और सभ्यता मनुष्य को बंधनों में बाँधती है। अतः उसे प्रकृति की ओर वापस लौटने का नारा लगाया। कविता का सम्बन्ध मानव हृदय तथा उसके भावनाओं से है। मानव हृदय का शुद्ध रूप शान्त ग्राम्य जीवन में ही मिल सकता है। कविता वहीं उन्मुक्त रूप से व्यक्त हो सकती है। कविता के सम्बन्ध में वर्ड्स्वर्थ लिखता है–"all good poetry is spoentanous overflow of power ful feelings it takes its origin from emotion recollected in tranquality". अर्थात कविता शान्त क्षणों के सहज भावानुभूतियों की ही अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वर्ड्स्वर्थ ने कविता में भाव तत्व को बहुत ही महत्वपूर्ण माना है। उसने बालक तथा ग्राम्यवासी को ही अपने काव्यात्मक प्रयोगों का माध्यम बनाया। उसकी धारणा थी मानवीय भावनाओं का शुद्ध रूप में अध्ययन ग्राम्य संस्कृति में ही हो सकता है। शहरी संस्कृति में मूल मानवीय भावनाएँ कृत्रिमता से आच्छन्न हो जाती हैं। पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वर्ड्स्वर्थ का आदर्श मानव सभ्यता और संस्कृति से विहीन आदिम युग का असभ्य मानव है। वह नागरिक जीवन की कृत्रिमता और जटिलता का परिष्कार कर

१—पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव—(वीरेन्द्र सहाय वर्मा)

मनुष्य में सरलता तथा आध्यात्मिकता का संचार करना चाहता था। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वर्ड्स्वर्थ का आदर्श 'एक अच्छा आदिवासी (Noble Savage) है।

वर्ड्स्वर्थ ने काव्य में जनसाधारण के भाव और भाषा को विशेष रूप से महत्व दिया है। वह 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में लिखता है कि "इन कविताओं में मेरा मुख्य उद्देश्य सामान्य जीवन की घटनाओं को चुनना, उन्हें जहाँ तक सम्भव हो सके सामान्य मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त भाषा में पूर्णतया वर्णित करना, तथा अन्ततः उन्हें कल्पना के रंग में रंजित कर उन्हें काव्यात्मक बनाना था।"

रोमांटिक धारा के विचारकों में वर्ड्सवर्थ के बाद कॉलरिज का नाम आता है। कॉलरिज ने वर्ड्स्वर्थ के समान काव्य में कल्पना को अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया। उसने मन में निष्क्रिय मानने वाले सभी सिद्धान्तों को अस्वीकार किया। संसर्गवादी मनोविज्ञानिकों के अनुसार मन निष्क्रिय रहता है, इन्द्रियाँ वाह्य जगत के सम्पर्क से प्रत्ययों को उत्पन्न करता है। दर्शन के क्षेत्र में जान लॉक ने भी इसी प्रकार के मत को माना था। लॉक के अनुसार बच्चा जब उत्पन्न होता है तो उसका मन एक अलिखित स्लेट या खाली मेज अथवा कोरे कागज के समान होता है।[1] मन पर बाहर से संवेदनाओं के चिन्ह अंकित होते हैं। इसी से मानव अनुभव तथा ज्ञान बढ़ता है। अतः लॉक ने मन को मूलतः निष्क्रिय ही माना था। संदेहवादी दार्शनिक ह्यूम की स्थापना थी कि यर्थार्थ जगत संवेदनाओं के अलावा और कुछ नहीं है। अतः उन्होंने भी मन को निष्क्रिय ही माना। इन विचारकों का खण्डन जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक इमेन्युअल कांट ने किया। उसने यह स्थापित किया कि मन निष्क्रिय न होकर सक्रिय तथा रचनाशील है। मन जो कुछ भी बाहर से प्राप्त करता है, पहले उसे संगठित करता है। फिर अपने स्वाभाविक नियमों के अनुसार इंद्रियों द्वारा प्राप्त असम्बद्ध विषय को विचारों में बदल देता है। मन वस्तुतः चेतन तथा सक्रिय है। कांट के अनुसार प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में मूल रूप से तीन तथ्यों का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। संविद् (Sensibility), कल्पना (Imagination) तथा प्रज्ञा (understanding) संविद् की सहायता से हम देश-काल के संदर्भ में रंग, रूप, ध्वनि आदि का ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। प्रज्ञा द्वारा हम कार्य-कारण, द्रव्य तथा गुण आदि भावों का बोध करने में समर्थ होते हैं। पर वास्तव में जो हम जानते हैं वह न तो भावों का समूह है न नियमों का योग। वह अन्य विशिष्ट वस्तुओं से निर्मित है। इसी समय कांट को कल्पना की आवश्यकता पड़ी। उसने निष्कर्ष निकाला कि संविद् तथा प्रज्ञा दोनों ही का मूलाधार कल्पना ही है। बिना कल्पना के ये दोनों पंगु हैं। कल्पना से ही हम विशिष्ट वस्तुओं का निर्माण करते हैं।

---

१. आधुनिक पाश्चात्य दर्शन—हरीशचन्द्र जायसवाल

कांट की इस चिन्तन पद्धति का कॉलरिज पर विशेष प्रभाव पड़ा। अतः उसने भी कल्पना को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया। उसकी यह स्थापना थी कि जीवन तथा काव्य दोनों एक दूसरे में घुले मिले हैं। जो कल्पना हमें जगत की रचना से परिचित कराती है उसे कॉलरिज़ प्राथमिक या मूल कल्पना के नाम से अभिहित करता है। यही कल्पना उच्च स्तर पर जाकर गौण कल्पना के रूप में परिणित हो जाती है। यह गौण कल्पना सबसे पहले प्राथमिक कल्पना के द्वारा निर्मित जगत को नष्ट कर, फिर पुर्नरचना में प्रवृत्त होती है।

कल्पना की स्थापना से कॉलरिज़ ने उन आलोचनाओं को निर्मूल कर दिया जो यह मानते थे कि कवि यर्थार्थ से दूर कल्पना के सागर में डूबा रहता है, अतः कवि सत्य तथा यर्थार्थ से बहुत दूर रहता है। लेकिन कल्पना की स्थापना से उसने यह निष्कर्ष निकाला कि कल्पना का संसार मिथ्या न होकर वास्तविक है। कल्पना तो ब्रह्म का प्रतिवाद है। अतः कल्पना द्वारा कवि प्राकृतिक जगत की वास्तविकता के प्रति अर्न्तदृष्टि का विकास कर लेता है।[१]

कॉलरिज़ के अनुसार कविता में सर्वप्रथम कल्पना की प्रमुखता होनी चाहिए। कल्पना से प्रेरित भाव ही काव्य के लिए महत्वपूर्ण हैं। पर उन भावों में प्रेषणीयता भी प्रभूत मात्रा में होनी चाहिए। जब तक काव्य में निहित उन कल्पना मूलक भावों को पाठक समझ न सके, उसमें पैठ न सके, तब तक उनका कोई महत्व नहीं है। दूसरी बात जिस पर कॉलरिज़ अधिक बल देता है वह है काव्य द्वारा उत्पन्न आनन्द। यह आनन्द कोई दूर की वस्तु नहीं है। यह साक्षात आनंद है, जिसकी अनुभूति कवि करता है। यह आनन्द सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त होता है। सौन्दर्य की अनुभूति बुद्धि से न मिलकर, सहज शक्ति (Intution) द्वारा हमें मिलती है। यह तुरन्त आत्मा को प्रभावित करती है। अतः कविता में सौन्दर्यजनित आनन्द का रहना अनिवार्य है। इसके कारण ही कविता हमारी आत्मा तक को प्रभावित करती है।

कॉलरिज कवि में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक मानते थे। पहला कवि के लिए संगीत-प्रेमी होना अत्यन्त आवश्यक है। संगीतविहीन व्यक्ति कभी भी अच्छा कवि नहीं बन सकता।[२]

दूसरा 'कवि का दूसरा गुण है कि वह अपने काव्य के नियम के लिए व्यक्तिगत भावों और स्थितियों से पृथक विषयों का निर्वाचन करें।'[३] श्रेष्ठ कवि वह है जो भावों का निर्वक्तीकरण कर उन्हें सामान्य हृदय की भावभूमि पर प्रतिष्ठित कर देता है। ऐसा न करने पर कवि कभी भी लोक हृदय को स्पन्दित नहीं कर सकता।

१. पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव—रवीन्द्र सहाय भ्रमर
२. बायोग्रेफिया लिट्रेरिया
३. वही।

तीसरा प्रतिभा का तीसरा लक्षण है कि कवि अपनी रचना में किसी एक भाव को ही प्रधानता रखे। प्रत्येक कलाकृति में मूल रूप से एक ही भाव को प्रमुखता होना चाहिए।[1] कॉलरिज ने यह दिखाया की शेक्सपीयर को समस्त कृतियों की यही विशेषता है। 'लियर' तथा 'ओथेलो' में एक ही भाव-प्रधान है। 'लियर' एक मूर्ख पिता की कथा है, जब कि 'ओथेलो' एक मूर्ख पति की कहानी है।

चौथे प्रतिभाशाली कवि में गम्भीर विचार-शक्ति का रहना बहुत ही आवश्यक है। उसकी यह स्पष्ट धारणा थी कि 'कोई भी व्यक्ति एक गम्भीर दार्शनिक हुए बिना अच्छा कवि नहीं हो सकता।'[2]

वर्ड्स्वर्थ ने जहाँ अपनी कविताओं में साधारण जीवन की घटनाओं को प्रमुखता दी, वहाँ इसके विपरीत कॉलरिज ने असाधारण घटनाओं को ही अपने काव्य में प्रमुखता दी। असाधारण घटनाओं का उसने इस प्रकार चित्रित किया कि वे साधारण जीवन की घटनाओं के समान हमे लगें। उसने अपने पात्र और घटनाओं को अतिमानुषिक जीवन से ग्रहण किया। पर उन्हें इस प्रकार चित्रित किया जिससे वे साधारण तथा वास्तविक प्रतीत हों। उसकी कविताओं 'एशेंट मेरिनर' तथा 'क्रिस्टा-बेल' में इसी प्रकार भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

रोमांटिक कवि आलोचकों की परम्परा में पो० बी० शेली का भी महत्वपूर्ण स्थान है। उसकी स्थापना थी की 'Poetry in a general sense, may be defined to be 'the expression of Imagination, and Poetry is comote with the origin of men'. अर्थात् 'काव्य में कल्पना की ही अभिव्यक्ति होती है और काव्य मनुष्य के प्रारम्भिक काल से उसे जन्मजात प्रवृत्ति के रूप में प्राप्त हुआ है। शैली को यह धारणा थी कि कवि कल्पना के माध्यम से ही कवि जगत की साधारण वस्तुओं को रम्य रूप प्रदान करता है। कल्पना वह दिव्य तथा अलौकिक शक्ति है जिसके माध्यम से कवि इस व्यावहारिक जगत के (Phenomen) के पीछे पारमार्थिक जगत (Noumena) की झाँकी पा लेता है। कविता को उसने जीवन के शाश्वत सत्य का प्रतिबिम्ब माना।

दूसरे, कविता में सीमित तथा असीमित को एक सूत्र में बाँध देने की शक्ति होती है। कल्पना संश्लेषणात्मक तथा सृजनात्मक होती है।

---

१. बायोग्रेफिया लिट्रेरिया

२. बायोग्रेफिया लिट्रेरिया

इसके विपरीत विवेक ध्वंसात्मक होता है। विवेक विज्ञान को जन्म देता है, जबकि कल्पना कला को। लेकिन कल्पना विवेक से भी अधिक महत्वपूर्ण होती है। वह लिखता है कि 'कल्पना विवेक को अपना आज बनाने की क्षमता रखती है, अतः कल्पना यदि कर्ता है तो विवेक उसका शास्त्र, यदि एक आत्मा है तो दूसरा उसका शरीर, यदि एक वस्तु है तो दूसरी उसकी छाया।'[१]

तीसरे शेली काव्य को दिव्य-प्रेरणा का परिणाम मानता है। उसके अनुसार कविता लिखने के पीछे कवि को एक दिव्य-शक्ति का आभास मिलता रहता है। उसे ऐसा लगता है जैसे कोई दिव्य-शक्ति उसके अन्दर प्रवेश कर उसे कविताएँ बोल रही हैं। और वह उसे निष्क्रिय रूप में उतार रहा है। वह लिखता है 'कलात्मक अनुभूति के क्षणों में कवि की दशा बड़ी विचित्र हो जाती है। उसका मन किसी अदृश्य शक्ति द्वारा क्षण भर के लिए आलोकित हो उठता है। किन्तु जब वह काव्य-रचना करने लगता है तो उसकी प्रेरणा क्षीण होने लगती है, जैसे उसके मूल अनुभूति के जलते अंगारे धीरे धीरे बुझने लगे हों। श्रेष्ठतम काव्य की सम्भवतः कवि की मूल प्रेरणा अपना अनुभूति की क्षीण छाया मात्र होता है।'[२]

चौथे वह काव्य में भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति को भी महत्व देता है। उसकी धारणा थी कि 'कवि एक बुलबुल की भाँति है जो अंधकार में बैठी हुई अपने सूनेपन को मधुर उल्लास से भर देती है। शेली का कवि व्यक्तित्व उस 'स्काई-लार्क' की तरह है जो दूर और अदृश्य अपने ही प्रकाश में डूबा हुआ सहज रूप से संगीत उड़ेल रहा है।'

कीट्स भी रोमांटिक चिन्तन का प्रमुख कवि था। उसने भी काव्य को भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति के रूप में ही स्वीकार किया था। उसके अनुसार काव्य को इतने सहज रूप से प्रकाशित होना चाहिए, जितने सहज रूप से पेड़ पर पत्तियां आ जाती हैं। रोमांटिक चिन्तनधारा के विकास में हेज़लिट चार्ल्स लेम्ब आदि बहुत से आलोचकों का नाम आता है। इतना अधिक विस्तार न कर हम संक्षेप में इस विचारधारा के मूल तत्वों के समझने का प्रयास करेंगे।

स्वच्छन्दतावाद, विशेष रूप से अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा की पहली विशेषता है कि उसमें विद्रोह का स्वर मुखरित हो रहा है। क्योंकि इसका सम्बन्ध फ्रांस की राज्यक्रन्ति से था, इसलिए इसमें विद्रोह के स्वर की प्रधानता होना स्वाभाविक ही

---

१. शेली, 'एडिफेंस ऑव पोयट्री'—संपादक जे० शौक्रोस 'शेलीज़ लिट्रेरी एण्ड फिलसोफ़िक्ल क्रिटिस्ज़िम'।

२. वही।

था। कविता के क्षेत्र में भाषा शैली के कठोर नियमों के विरुद्ध इन कवियों ने विद्रोह किया। कविता का सम्बन्ध हृदय से है, तथा वह इन ऊपरी बन्धनों को नहीं स्वीकार सकती। इन्होंने अभिजात्य तत्वों के विरुद्ध भी विद्रोह किया। उनकी दृष्टि साधारण से साधारण वस्तु पर गई। जैसे खण्डहर, सूखी पत्ती, स्काई लार्क, वैस्ट विन्ड, श्मशान आदि सामान्य वस्तुओं का काव्यात्मक चित्रण इन कवियों ने प्रस्तुत किया।[१]

इस चिन्तनधारा की दूसरी विशेषता यह थी इनमें कृत्रिमता के स्थान पर सहज एवं स्वाभाविक तत्वों को ग्रहण करने का आग्रह है। वर्ड्स्वर्थ की कल्पना थी कि मानवीय भावनाओं का शुद्ध रूप से अध्ययन ग्राम्य संस्कृति में ही हो सकता है। शहरी संस्कृति में मूल मानवीय भावनाएँ कृत्रिमता से आच्छन्न हो जाती हैं। कविता सम्बन्ध मानव हृदय तथा उसके भावनाओं से है। मानव हृदय का शुद्ध रूप ग्राम्य जीवन में मिलता है। अतः कविता वहीं उन्मुक्त रूप से व्यक्त हो सकती है। कविता कृत्रिमता से दूर भागती है। वह शान्त क्षणों के सहज अनुभूतियों की ही अभिव्यक्ति है। इसलिए वर्ड्स्वर्थ ने कृत्रिमता से दूर बालक तथा ग्राम्यवासी को अपने काव्यात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया।

'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में इसी बात पर विशेष बल दिया गया है। उसने यह स्थापित किया गया है कि 'कविताएँ इसी बात का पता लगाने के लिए लिखी गई हैं कि मध्य तथा निम्न वर्ग के लोगों की बातचीत की भाषा कविता के आनन्द के लिए उपयोगी हो सकती है।.....वे लोग सामाजिक मिथ्याहंकार से मुक्त होने के कारण अपने भावों तथा विचारों को सरल अकृत्रिम शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं।

इस चिन्तन धारा की तीसरी प्रमुख विशेषता यह कि कल्पना को अधिक प्रधानता तथा प्रमुखता मिली है। वर्ड्स्वर्थ के काव्य में भी कल्पना को प्रधानता मिली है। कॉलरिज ने कांट के दार्शनिक चिन्तन के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि कल्पना से हम विशिष्ट वस्तुओं का निर्माण करते हैं। कल्पना की प्रमुखता कविता में होनी चाहिए। कल्पना से प्रेरित भाव ही काव्य के लिए महत्वपूर्ण है। कल्पना से अधिक अनुराग होने के कारण इस धारा के कवियों ने प्रकृति को संदेशदात्री तथा शिक्षिका के रूप में देखा। इसी कल्पना की अतिशयता के कारण ही कवि रहस्यवाद की ओर झुका। कल्पना का इन कृतियों में भरपूर प्रयोग हुआ है। शेली पश्चिमी हवा का प्रभाव बताते हुए लिखा है कि सूखी पत्तियाँ प्रेतों की तरह भागती हैं। इसी तरह स्काईलार्क (पक्षी) की तुलना वह विचारों में छिपे कवि से करता है।[२]

1. ...."the leaves dead,
Are driven like glosts from an enchemter fleeing."
2. Likea poet hidden in the light of thought.'

रोमांटिक चिन्तनधारा की चौथी विशेषता यह है कि इन कवियों में अद्भुत के प्रति स्वाभाविक मोह था। इसीलिए अतिमानवीय तत्त्वों को अभिव्यक्ति भी इस युग की कविता में हुई है। कॉलरिज को 'एंशेट मेरिनर' 'क्रिस्टाबेल' आदि कविताओं के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो हम किसी स्वप्न जगत् में प्रवेश कर गये हों। इन कविताओं के पात्र तथा घटनाएँ अतिमानुषिक जीवन के हैं, पर वे इस प्रकार चित्रित किए गये हैं कि मानव जीवन के प्रतीत होते हैं। ब्लेक तथा शेली ने काव्य-प्रेरणा के पीछे एक अद्भुत दिव्य-शक्ति का हाथ बतलाया है। शेली को तो ऐसा लगता है कि मानो कोई दिव्य-शक्ति उसके अन्दर प्रवेश कर उसे कविताएँ बोल रही है। अतः शेली काव्य को दिव्य-प्रेरणा का ही परिणाम मानता है।

इस धारा की पाचवीं विशेषता व्यक्तिवाद थी।[1] अतः कवि अपनी रुचि, भावना और दृष्टि को प्रधानता देने लगा। अतः इसके प्रबन्धकाव्य में नायक आत्म केन्द्रित व्यक्ति होता है, तथा गीतिकाव्य में कवि अपनी उदासी, निराशा, व्यथा, वेदना का चित्रण करता है। अतः काव्य में भावुकता, आकांक्षा, तथा आदर्शमयता को विशेष महत्व मिला। वह अरूप की भावना में रखता है और स्थूल से अधिक सूक्ष्म पर बल देता है। उसमें भावों की गहरी अनुभूति है, जिसके कारण वह काव्य-रचना में समर्थ होता है।

छठीं विशेषता सौन्दर्यमयी दृष्टि तथा ऐन्द्रियता है। इनका काव्य सर्वत्र सौन्दर्य भावना से ओत-प्रोत है। वर्ड्स्वर्थ तथा शेली दोनों को प्रकृति में असीम सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। कीट्स ने भी सौन्दर्य के महत्व को स्वीकारा है। उनकी धारणा है कि सौन्दर्य शाश्वत तथा चिरन्तन है। यही सत्य का सर्वोच्च एवं सर्वोत्तम स्वरूप है। उसने लिखा—"Beauty is truth, truth isbeauty : that is all we know on earth and all we need to know."

कीट्स के काव्य में ऐन्द्रिकता का दर्शन भी प्रभूत मात्रा में मिलता है। जीवन को वह संवेगों की शृंखला मात्र मानता है। उसके काव्य में स्पर्श, गन्ध, तथा दृष्टिजन्य आनन्द का बार बार उल्लेख हुआ है। उसने लिखा—"for life of sensation rather than of thoughts."

सातवीं विशेषता प्रकृति-प्रेम है। इस युग के कवियों में प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम था। उन्होंने उन्मुक्त होकर प्रकृति के प्रांगण में विहार किया। प्रकृति इन कवियों के मन पर छायी रहती थी। वर्ड्स्वर्थ लिखता है :—

"The Sounding Cetract Haunted me like a passion".

इन कवियों ने प्रकुति के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों को देखा, और उसका वर्णन

---

१. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त—डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त

काव्य में किया। प्रकृति तथा मानव दोनों में गहरा सम्बन्ध है। मानव मन पर प्रकृति का प्रभाव कैसा पड़ता है, इसका सूक्ष्म निदर्शन इन्होंने अपने काव्य में किया।

आठवीं तथा अन्तिम विशेषता गीतिमयता है। इस काव्य में गीतिमयता और संगीतात्मकता के दर्शन होते हैं। कवि अपने सुख, दुख के भाव उन्मुक्त रूप से प्रकट करते हैं। उनमें कोई कृत्रिमता तथा कपट नहीं है। उनमें सहजता, भावमयता निरन्तरता है। उनका काव्य मूल रूप अन्तःप्रेरणा से संचालित है। गीतिकाव्य के लिए यह सभी गुण अनिवार्य हैं। इन सभी अनिवार्य गुणों का समावेश इस युग की कविता में मिलता है।[१] "गीतिकाव्य की आत्मा है भाव, जो किसी प्रेरणा के भार से दबकर एक साथ गीति में फूट निकलता है। अतः स्वभाव से ही उसमें हार्दिकता का तत्व रहता है। सच्ची गीति कविता एक सरल क्षणिक एवं तीव्र मनोवेग का परिणाम होती है।" इस परिभाषा के संदर्भ में देखा जाय तो प्रतीत होगा कि गीतिकाव्य की सम्पूर्ण विशेषताएँ इन कवियों में मिलती हैं।

रोमान्टिक्ज़िम का मूल्यांकन करते हुए ल्यूकस ने लिखा है—"Like a Nile flood, Romonticism brought both a golden harvest and a crop of monster......The Romantic rebellion was inevitable; it was needed; it was valuable but again and again the Romantic rehel sauk from Pronethens unbound to Lucifer or puwcr."[२]

(४) आधुनिक आलोचना:—२० शती में आते आते अमेरिका में साहित्य के सम्बन्ध में इरविंग बैबिट ने स्वच्छन्दतावाद के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की। उसकी धारणा थी कि रोमान्टिक सिद्धान्त में उच्छृङ्खलता ही अधिक है। अतः प्रभाववाद, आत्मनिष्ठा, और सम्पूर्ण व्यक्तिवादी परम्परा के विरुद्ध आधुनिक साहित्य की प्रतिक्रिया का अभियान प्रारम्भ हो गया। चक्र एक बार फिर घूमकर संयम, संस्कार और निर्वैयक्तिकता पर आ पहुँचा।[३] बैबिट कट्टर नीतिवाद के समर्थक तथा पोषक थे।

अँग्रेजी दार्शनिक, आलोचक टी० ई० ह्यूम ने बैबिट से ही प्रेरणा लेकर आलोचना को नैतिकता पर आश्रित बतलाया। उन्होंने अपने युग के स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का विरोध किया। इसी समय क्रोचे का प्रादुर्भाव होता है। उनकी स्थापना थी कि कलाकार सर्वोच्च प्राणी है। कवि या कलाकार किसी बाह्य नियमों से बँधा नहीं। क्रोचे के काव्य-सिद्धान्त सौन्दर्य-शास्त्र पर आधारित है। क्रोचे के काव्य-सिद्धान्त की आगे हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

१. पाश्चात्य कोव्यशास्त्र के सिद्धान्त—डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त।
२. 'Literature and Psyusloyji' F. L. Lueas.
३. पाश्चात्य आलोचक की अर्वाचीन प्रवृतियाँ।

विज्ञान के विकास तथा प्रगति के कारण साहित्य पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। अतः शुद्ध विज्ञान के आधार पर एक नवीन आलोचना पद्धति का जन्म हुआ। इनमें से डॉ० आई० ए० रिचर्ड्स का महत्वपूर्ण स्थान है। पर उनके सिद्धान्त में भी एक प्रकार की द्विविधा दिखलाई पड़ती है। उनकी पद्धति तो वैज्ञानिक है, परन्तु उनका साध्य एक आध्यात्मिक संस्कृति है। विज्ञान तो आध्यात्मिक संस्कृति को नष्ट करने की क्षमता रखता है। इस प्रकार रिचर्ड्स के सिद्धान्त में एक प्रकार का विरोधाभास मिलता है। जब वह सन्तोषप्रद साहित्यिक मूल्यों के सिद्धान्तों को निर्धारित करने का प्रयास करता है, तब इस विरोधाभास में फँस जाता है। मनोविज्ञान के सहायता से वह इस समस्या का समाधान करता है। उसके अनुसार मनोविज्ञान ही शुद्ध विज्ञान है, और इसी के ऊपर साहित्यालोचन के सिद्धान्तों को आधारित किया जा सकता है। रिचर्डस के चिन्तन के फलस्वरूप इस युग में गम्भीर एवं विशद आलोचनात्मक प्रणाली का प्रचार हुआ। रिचर्ड्स के सिद्धान्तों की चर्चा हम आगे विस्तार से करेंगे।

इस युग के अन्य महत्वपूर्ण आलोचकों में इलियट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इरविंग बैबिट से प्रेरित हो, इलियट ने रूढ़िनिष्ठ स्वच्छन्दतावाद के विरूद्ध विद्रोह किया। 'ट्रेडिशन एण्ड दी इण्डिविजुअल टैलेण्ट' में उन्होंने इस बात पर बल दिया कि कवि का मूल्यांकनव्यष्टि के रूप में नहीं होना चाहिए, वरन् परम्परा शृंखला की एक कड़ी के रूप में होना चाहिए। उनके अनुसार कला को निर्वैयक्तिक होना चाहिए। इलियट के सिद्धान्तों का विशद अध्ययन आगे प्रस्तुत किया जायेगा।

२०वीं शताब्दी में आलोचना के क्षेत्र में फ्रायड तथा मार्क्स का भी बहुत बड़ा योगदान था। फ्रायड ने यह स्थापित किया कि प्रत्येक कलाकार किसी हद तक स्नायुरोगी होता है। वह रुग्ण और सामंजस्यविहीन होता है। वह कलात्मक सृजन के रूप में कल्पना चित्रों का निर्माण करके दूसरे ढंग से परितोष प्राप्त करता है। फ्रायड का चिन्तन कुण्ठाओं की समस्या से आक्रान्त रही। उनके अनुसार कलाकार की इच्छाएँ वास्तविक जगत में संतुष्ट नहीं हो पातीं। अतः कला ही उन अतृप्ति वासनाओं के तृप्त होने का एक माध्यम है। उन्होंने काम-कुण्ठाओं पर बड़ा बल दिया।[१] फ्रायड के मनोविश्लेषणशास्त्र का आलोचना पर गहरा प्रभाव पड़ा। रिचर्ड्स ने 'प्रिन्सपल ऑव लिट्रेरी क्रिटिसिज्म' में मनोविश्लेषण की प्रक्रिया को प्रमुखता दिया। रार्बट ग्रेव्ज़, हर्बर्ट रीड आदि ने इसी परम्परा का पालन किया। मनोविश्लेषण-शास्त्र ने साहित्यालोचन के लिए एक ही साथ चुनौती और सहारे दोनों का काम

१. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, डा० नगेन्द्र।

किया। निःसन्देह इस शास्त्र ने काव्य-सृजन के उन अँधेरे क्षेत्रों को प्रकाशित करने में सहायता दी जिसकी देहरी से आगे परम्परावादी आलोचक नहीं जा सके थे।[१]

मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित हो समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से साहित्य को देखने का प्रयास किया। इससे आलोचना के क्षेत्र में एक नई दिशा का सूत्रपात हुआ। रिकवार्ड, एडवर्ड, अपवार्ड, तथा राल्फ फाक्स ने सामाजिक तत्वों के आधार पर साहित्य की व्याख्या प्रस्तुत की। इस क्षेत्र में काडवेल का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। उसने अपने ग्रन्थ 'इल्यूज़न एण्ड रियलिटी' में साहित्य के उद्गम पर समाज-शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया। यह अत्यधिक प्रभावशाली मार्क्सवादी ग्रन्थ है। ज्ञान और अनुभव के मार्क्सवादी सिद्धान्त के आधार पर काडवेल अंग्रेजी काव्य के इति-हास को फिर से लिखता है।[२] काव्य तत्व का निराकरण कर वह भविष्य की ओर देखता है। उसकी स्थापना है कि कविता की अवश्यम्भाव व्यक्ति अथवा प्राकृतिक और सामूहिक सभ्य मानव के बीच होने वाले संघर्ष पर आधारित है। कम्युनिस्ट होने के कारण उसका मत था कि 'महान कला का सृजन वर्गहीन समाज में ही होगा। फ्रायडवाद की ही तरह मार्क्सवाद को भी इंगलैण्ड में काफी समर्थन मिला। पर मनोश्विश्लेषणशास्त्र के ही तरह मार्क्सवाद का भी साहित्य पर स्थायी प्रभाव न रह सका।

यों सामान्य रूप से इस समय कई पिछली धाराओं के भी दर्शन होते हैं। इलियट की स्थापनाओं के बाद भी एबर क्राम्बी तथा मिडलटन मरो ने रोमांटिक चिन्तन का ही समर्थन किया था। इसके विपरीत एफ० एल० लूकास ने 'साधारण बुद्धिवादी आलोचक' रूप में रोमांटिक आदर्शवाद पर प्रहार किया। इसी प्रकार विद्वतावादी परम्परा का अंत सेण्ट्सबरी के ही साथ नहीं हो गया था। उसके प्रतिनिधि के रूप में इस समय ओलिवर एलटन, क्विलर इच, एडमण्ड चैम्बर्स तथा हम्बर्ट ग्रियर्सन आदि ने आलोचना के क्षेत्र में विद्वता पर ही विशेष बल दिया।

आधुनिक युग की नवीनतम आलोचना-पद्धति का विकास अमरीका में हुआ। वहाँ 'नये आलोचकों' ने—क्लियैन्थ ब्रुक्स, राबर्ट पेन वारन, जान क्राओ रैंसम और ऐलन टेट— यह प्रतिपादित किया कि कला मूल्यांकन एक सर्वथा निरपेक्षा और स्वतन्त्र वस्तु के रूप में होना चाहिए[३]। बीच में समाज-शास्त्र, नैतिकता, आचार आदि को लाने की आवश्यकता नहीं है। इस नये आन्दोलन ने आधुनिक साहित्य को बहुत प्रभावित किया।

---

१. पाश्चात्य आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ।

२. वही।

३. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा— डॉ० नगेन्द्र।

अध्याय | ३

प्लेटो

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के क्षेत्र में प्लेटो का महत्वपूर्ण स्थान था। यद्यपि यह सत्य है कि उन्हें काव्य-शास्त्र के आदि आचार्य होने का गौरव नहीं प्रदान किया जा सकता क्योंकि काव्यशास्त्र उनका मूल प्रतिपाद्य विषय नहीं था। काव्यशास्त्र का उन्होंने व्यवस्थित विवेचन भी नहीं प्रस्तुत किया, तथापि उनका महत्व ऐतिहासिक महत्व है।

प्लेटो के अनुसार काव्य एक कला है। उनके अनुसार व्यापक रूप से कला तीन प्रकार की होती है पहला, उपयोग सम्बन्धी कला, दूसरा निर्माण सम्बन्धी कला, तथा तीसरा प्रतिरूपण सम्बन्धी कला।[1] चित्रकला आदि की ही तरह काव्य भी प्रतिरूपण कला के अन्तर्गत आएगा। प्लेटो की स्थापना है कि चित्रकार तथा कवि आदि निम्न कोटि के कलाकार हैं, क्योंकि कवि सत्य के अनुकरण का अनुकर्ता है वह दूसरे विषय के तात्विक रूप का ज्ञाता है न उपयोग का। तीसरे उसकी रचनाएँ आत्मा के असाधु अंश का पोषण करती हैं। चौथे मानव संवेगों पर इन कलावृत्तियों का प्रभाव उत्तेजनात्मक दृष्टि से पड़ता है। अतः मानवता के लिए कविता हानिकारक है।

प्लेटो के अनुसार काव्य के तीन भेद हैं, अनुकरणात्मक, प्रकथनात्मक, और मिश्र। काव्य के तीन भेदों के अनुसार शैली भी तीन प्रकार की होती है। नाट्य वर्णनात्मक और मिश्र। नाट्य में पहली, प्रगीत आदि में दूसरी, तथा महाकाव्य में तीसरी का प्रयोग किया जाता है। प्रगीत के तीन अंग होते हैं शब्द, माधुर्य तथा लय। उनके अनुसार माधुर्य तथा लय का सौन्दर्य में शब्द, पर निर्भर रहता है। काव्य का मूल आकर्षण उसके शिल्प के सौंदर्य में निहित है। शब्द, माधुर्य, ललित, पदावली, एवं छन्दों के प्रति प्लेटो को गहरा अनुराग था। उनकी यह स्थापना थी कि इसके अभाव में विषय चाहे कितना विराट एवं समर्थ क्यों न हो, वह सर्वथा अनाकर्षक तथा अप्रभावशाली ही प्रतीत होगा।

1. "May we not say generally that there are three arts concerned with any object—the art of using it, the art of making it, and the art of rehresenting its."—F. M. Clrnford, The Republic of Plato.

सिद्ध होता है कि उसकी धारणा काव्य को गौरवमय स्थान देने की नहीं थी। वह कवि को इस अर्थ में निर्माता स्वीकार नहीं करता कि कवि पुनः निर्माण या पुनः सृजन करता है। अधिक से अधिक वे इतना मानते थे कि वह यथार्थ का अंकन करता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यह अंकन सत्य से तिगुना दूर है।

प्लेटो ने काव्य के माध्यम से व्यक्त सत्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने मूल सत्य का कर्ता ईश्वर को उस सत्य की अनुकृति सृष्टि को और इस अनुकृति का अनुकरण काव्य को माना। इस प्रकार काव्य मूल सत्य से तिगुना दूर है। उन्होंने एक पलंग का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। जैसे एक पलंग का मूल कर्ता ईश्वर है, बढ़ई उसका अनुकर्ता है, तथा चित्रकार इस अनुकरण का अनुकर्ता है। इस प्रकार वह कलाकार जिसकी कृति प्रकृति से तिगुनी दूर हो अनुकर्ता ही कहा जायगा। अतः कलाकार की स्थिति उस नकलची की सी हो जाती है, जो झूठ की नकल कर रहा हो। इस प्रकार प्लेटो की मान्यता थी कि कलाकार प्रशंसनीय नहीं वरन् दण्डनीय है। प्लेटो ने 'मीमेसिस' शब्द का रूप कवि कर्म का तिरस्कार करने के लिए किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि उसकी धारणा काव्य को गौरवमय स्थान देने की नहीं थी। वह कवि को इसी अर्थ में निर्माता स्वीकार नहीं करता कि कवि पुनः निर्माण या पुनः सृजन करता है। अधिक से अधिक वे इतना मानते थे कि वह यर्थाथ का अंकन करता है। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि यह अंकन सत्य से तिगुना दूर है।

काव्य सृजन के सम्बन्ध में प्लेटो की स्थापना है कि काव्य सृजन, संप्रेषण, तथा ग्रहण तीनों ही दैवी प्रेरणा का फल है। कवि काव्य का कर्ता नहीं वरन् संप्रेषण का माध्यम मात्र है। काव्य मूलतः ईश्वरीय कृतित्व है, मानव-कृत नहीं। कवि के माध्यम से वह केवल उसे श्रेष्ठ बनाता है। उसके अनुसार काव्य-देवियां सर्वप्रथम प्रणेता को काव्य-सृजन के लिए प्रेरित करती हैं। और क्रमशः प्रणेता से श्रोता तक प्रेरणा ग्रहण की एक शृंखला स्थापित हो जाती है। जैसे चुम्बक पत्थर स्वयं ही लौह कड़ियों को आकर्षित करने की शक्ति भी प्रदान करता है। इस प्रकार रचयिता से श्रोता एवं प्रमाता तक काव्य-रसज्ञ एक ऐसी शृङ्खला[1] में बंध जाते हैं कि वे पूर्णतः दैवी प्रेरणा से अभिभूत तथा उसके वशीभूत होकर काव्य का सृजन, गायन एवं श्रवण करते

1. "And sometimes you may see a number of pieces of iron and rings suspended from one and another so as to from quite a long chain and all of them derive their power of suspension from the original stone. In like manner them use first of all inspires men herself, and from these inspired persons a chain of other persons is suspended, who take the inspfration. For all good poets, epic as well as lyric, compose their beautiful poems not by art, but because they are inspired aad possessed.'

—B. Jowett, The Dilogues of Platok.

हैं। इस शृङ्खला की सभी कड़ियों तक प्रसारित प्रेरणा का मूल स्रोत दैविक होता है। अतः सभी अच्छे कवि चाहे वे महाकाव्यकार हों या गीतकार, सुन्दर कविता कला के द्वारा नहीं प्रस्तुत करते, वरन् उन्हें एक प्रकार का उत्साह और प्रेरणा मिलती है जिससे वे सुन्दर काव्य-रचना में प्रवृत होते हैं।[१] अतः प्लेटो काव्य-सृजन के लिए सचेष्ट कलात्मक प्रयास को महत्वपूर्ण नहीं मानते थे। कवि काव्य रचना कलात्मक प्रेरणा द्वारा नहीं, वरन् दैवी शक्तियों से प्रेरित एवं अभिभूत होकर करते हैं। उसकी मान्यता है कि 'जब तक कवि पूर्णतः प्रेरित तथा अविष्ट होकर विक्षिप्त एवं बोधशून्य नहीं हो जाता; वह मौलिक सृजन में समर्थ नहीं होता। कोई भी कवि जब तक बोध रूपी मनशक्ति को धारण करता है, काव्य के देववाणी तुल्य उपहार का अधिकारी नहीं होता।'[१]

प्लेटो की स्थापना है कि काव्य आत्माविभोर की दशा में केवल एक यन्त्र, माध्यम मात्र रह जाता है और ईश्वर उसके विवेक का अपहरण करके उसका उपयोग शिल्प पुरुषों एवं धर्मोपदेशकों की भांति अपने दूत के रूप में करता है, जिससे स्रोतों को यह ज्ञात रहे कि विवेक शून्य मन स्थिति में उच्चरित अमूल्य वाणी के वक्ता वे स्वयं नहीं होते बल्कि उसके माध्यम से ईश्वर स्वयं भाषणकर्ता है। इसी प्रकार समस्त सुन्दरतम कविता का आविष्कार मूलतः काव्य-देवियों द्वारा होता है। ये सुन्दर रचनाएँ ईश्वरीयकृत होती हैं, मानवकृत नहीं। कवि इस अलौकिक शक्ति द्वारा अधिकृत उसका भावान्तरकार (इण्टरप्रेटर) मात्र होता है।[२]

प्लेटो कवि की आत्मविभोर स्थिति को 'दैवी पागलपन' के नाम से अभिहित करता है। दैवी इसलिए की कलाकार इसी के आधार पर अच्छी वस्तुओं का निर्माण कर लेता है और 'पागलपन' इसलिए कि कलाकार को यह नहीं मालूम कि उसने कैसे और क्यों इस रचना या कला को रचा या निर्मित किया। कवि बहुत सी सुन्दर और बुद्धिमानी की बातें लिख जाता है, पर वह यह नहीं जानता कि क्यों वह सुन्दर और बुद्धिमत्तापूर्ण है। वह मात्र अनुभव करता है और कुछ समझ नहीं पाता। उसकी प्रेरणा ज्ञान के स्तर तक नहीं पहुँच पाती। इसीलिए काव्य-प्रेरणा को मात्र 'अच्छी राय' (Right Opinion) के स्तर तक ही प्लेटो ने सीमित रखा है।

काव्य प्रभाव के सम्बन्ध में भी प्लेटो ने विशद विवेचन किया है। यही वह मूल आधार है जिसके आधार पर उसने काव्य का तिरस्कार किया। वह लिखता है—अनुकर्ता कवि जिसका लक्ष्यलोकप्रियता होता है न प्रकृति के द्वारा इसलिए निर्मित होता है और न उसकी कला का अभीष्ट आत्मा के बौद्धिक व विवेकाश को अह्लादित एवं प्रभावित करना होता है बल्कि कला का संप्रेषण रोदनात्मक एवं उत्तेजात्मक मनोवेगों

१. वही।
२- वही।

के प्रति होता है क्योंकि ऐसी ही मनःस्थितियों का अनुकरण सरलता से सम्भव होता है[1]

प्लेटो की धारणा थी कि काव्य का प्रभाव मनोवेगों को उत्तेजित करना है। काव्य से कलात्मक आनन्द या संतुष्टि नहीं मिल सकता। कविता हमारे मनोवेगों पर हानिकारक प्रभाव डालती है। आचार्य प्लेटो ने एक ऐसे नगर का दृष्टान्त देकर अपनी बात के स्पष्टीकरण का प्रयास किया जिसमें दुष्टों का समर्थन कर उन्हें शक्तिसम्पन्न बनाया जाता है और श्रेष्ठतर नागरिक को मार्ग से हटा दिया जाता है। ठीक उसी प्रकार अनुकर्ता कवि हमारे व्यक्तित्व में असाधु प्रकृति की प्रतिष्ठा करता है क्योंकि वह हमारी उस अविवेकी प्रकृति को लिप्त करता है जिसमें महान और क्षुद्र के निर्णय की क्षमता नहीं होती तथा वह एक ही वस्तु को इस अज्ञान के कारण भिन्न-भिन्न प्रसंगों में सिद्ध कभी महान एवं कभी क्षुद्र समझती हैं।[2]

काव्य के प्रयोजन सम्बन्ध में प्लेटो की धारणा थी कि वे ही कवि आदर्श राज्य में प्रवेश पाने के अधिकारी हैं जो स्वयं कवि न हों, गद्य में कवि की ओर से सफाई प्रस्तुत करें, और जिसमें यह सिद्ध किया जाय कि कविता केवल आनन्दायिनी ही नहीं, बल्कि राष्ट्र और मानव जीवन के लिए उपयोगी भी है। प्लेटो ने बाद में लिखा कि हम उनकी बात को सहानुभूतिपूर्ण भावना से ग्रहण करेंगे, यदि यह सिद्ध हो जाय कि काव्य केवल आह्लादकारी ही नहीं, उपयोगी भी है। प्लेटो उस प्रेमी का उदाहरण देकर अपनी बात को सिद्ध करने का प्रयास करते हुए कहता है कि जैसे वह प्रेमी किसी के द्वारा मुग्ध होने पर भी जब यह जान लेता है कि उसकी इच्छाएँ आत्महित की विरोधी हैं तो वह आत्मनिग्रह करता है। ठीक इसी प्रकार यदि कविता अपनी उपयोगिता न कर सके, तो हमें संघर्ष करके भी उसका त्याग करना होगा।[3]

इस प्रकार काव्य प्रयोजन के सम्बन्ध में प्लेटो की धारणा थी कि काव्य का प्रमुख एवं अनिवार्य प्रयोजन लोकमंगल होना चाहिए। आनन्द की सिद्धि भी आवश्यक है, किन्तु वह काव्य का गौण प्रयोजन ही है। काव्य के आनन्द को वह चाटुक्रिया का पर्याय समझता था। उसकी धारणा थी कि काव्य का आदर्श रूप वह है जिसमें आनन्द और जनकल्याण का सन्तुलित संगम है। काव्यानन्द अपने आप में निषिद्ध नहीं है। वह यदि अपने समस्त शिल्प तथा अभिव्यंजनागत आकर्षणों सहित, सत्य और उपयोगिता की आधारभूमि पर स्थित हो, तो समाज के लिए वह अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हो सकता है।[4] प्लेटो यह मानता था कि यदि कविता नैतिकता के जुए के अन्दर नहीं रह

१. B. Joutt, Dialagues of Plato vol II.

२, वही।

३. वही।

४. प्लेटो के काव्य सिद्धांत।

सकती, तो उसको जीने का कोई अधिकार नहीं।[1] काव्य का मूल लक्ष्य संयम आदि के द्वारा आत्मा को संयमित करना मानता था। इस सम्बन्ध में कलाकार के सामने कोई विकल्प नहीं हैं, वह अपने इस कर्त्तव्य के लिए समाज के प्रति उत्तरदायी है। यह उसका कर्त्तव्य है।

प्लेटो के कला-सिद्धान्तों पर टिप्पणी करते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्वयं कलाकार होते हुए भी वह कला के प्रति उचित न्याय न कर सका। दर्शन तथा काव्य में कौन सा श्रेष्ठ है, यह प्रश्न अपने आप में खोखला है। दर्शन तथा कला दोनों की अलग-अलग दिशा है, प्लेटो इस तत्व को न समझ सका। उसने दर्शन तथा कला को मिलाजुलाकर उनको मूल्यांकित करने का प्रयास किया। और यह स्थापित किया कि दर्शन श्रेष्ठ है, और कला अश्रेष्ठ। यही उसकी मूल असफलता थी, और इसी कारण वह कला के प्रति उचित न्याय न कर सका।

अतः प्रत्यक्ष रूप से तो प्लेटो ने कला और काव्य का उपकार ही किया। पर इसका फल अच्छा निकला। कला के प्रति प्लेटो के निषेधात्मक दृष्टिकोण ने अरस्तू को कला के सम्बन्ध में फिर से सोचने के लिए बाध्य किया। इसी दृष्टि से देखने पर प्लेटो का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। यह तो सच है कि प्लेटो को पाश्चात्य काव्यशास्त्र का आदि आचार्य होने का श्रेय नहीं दिया जा सकता, क्योंकि कला के प्रति उन्होंने कोई व्यवस्थित चिन्तन नहीं प्रस्तुत किया था। पर प्लेटो का महत्व ऐतिहासिक है। सभ्यता के उदय काल में प्लेटो ने कला एवं काव्य को समझा था, उसके बारे में अपने विचार व्यक्त किये थे। ऐसा नहीं था कि कला या कलात्मक अनुभावों से वह बिल्कुल अपरिचित रहा हो। वह स्वयं कलाकार था। पर वह दार्शनिक भी था। उसके व्यक्तितत्व में दर्शन का पक्ष अधिक प्रखर था। उसकी प्रखरता से कला का रत्न आच्छन्न हो गया। यही उसके सिद्धान्त का दोष था। अरस्तू ने इसे समझा, और उसके दर्शन तथा कला का मूल्यांकन अलग अलग किया। अतः कला के इतिहास में ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर ही हम प्लेटो के महत्व को समझ सकते हैं। प्लेटो ने सर्वप्रथम काव्य और कला के मौलिक प्रश्नों पर छुटपुट रूप से प्रकाश डाला। यही प्लेटो का महत्व है, जिसे किसी भी स्थिति में अस्वीकारा नही जा सकता।

—:-:—

1. 'If poetry cannot exect under the yoke of morality, it must not be allowed to Gift at all'—A critical history of Greek philosophy by W. T. Stacte.

अध्याय ४

अरस्तू

अरस्तू का जन्म ई० पू० ३८४ में स्तगिरा नामक नगर में, यूनान में हुआ था। उनके पिता राजवैद्य थे। पिता की जल्दी ही मृत्यु हो जाने के कारण उनका मार्ग बदल गया। लगभग ३६८ ई० पू० वे प्लेटो के प्रसिद्ध विद्यापीठ में प्रविष्ट हुए। प्लेटो अरस्तू की प्रतिभा से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने अरस्तू को (विद्यापीठ का मस्तिष्क) कहा। लगभग ३४३ ई० पू० में राजा फिलिप ने अरस्तू को राजकुमार सिकन्दर महान् का शिक्षक नियुक्त किया। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। साहित्यशास्त्र से सम्बन्धित उनके दो ग्रन्थ हैं। पहला भाषणशास्त्र तथा दूसरा काव्यशास्त्र। अरस्तू के काव्य-सिद्धान्तों में अनुकरण, त्रासदी, महाकाव्य, तथा विरेचन के सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है।

अनुकरण का सिद्धान्त– काव्यशास्त्र के आरम्भ में ही अरस्तू ने यह स्पष्ट कर दिया है कि काव्य एक कला है–'चित्रकार अथवा किसी भी अन्य कलाकार की ही तरह कवि अनुकर्ता हैं। अन्य कलारूपों की भांति काव्य की आत्मा है अनुकरण।

अरस्तू के अनुसार अनुकरण हमारे स्वभाव की एक सहजवृत्ति है। यह शैशव से ही मनुष्य में पायी जाती है। अन्य प्राणियों में मनुष्य सबसे अधिक अनुकरणशील होता है, और आरम्भ में वह सब कुछ अनुकरण के द्वारा ही सीखता है।

अनुकूलन वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नहीं। अनुभव इसका प्रमाण है। जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है उन्हीं की यथावत् प्रतिवृत्ति का भाव आह्लादकारी बन जाता है, जैसे किसी जघन्य पशु अथवा शव की रूप आकृति का उदाहरण लिया जा सकता है। इसका कारण है कि ज्ञान के अर्जन से अत्यन्त प्रबल आनन्द प्राप्त होता है केवल दार्शनिक को ही नहीं, सामान्य व्यक्ति को भी-जिसकी ज्ञानार्जन-क्षमता अपेक्षाकृत कहीं सीमित होती है। अतः किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने के कारण यह है कि उसका भावन करने में वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है या निष्कर्ष ग्रहण करता है। शायद वह अपने में कहता, 'अरे'! यह तो अमुक है।[1]

अनुकरण यूनानी शब्द 'मीमेसिस के पर्याय रूप में प्रयुक्त किया गया है। हिन्दी में वास्तव में यह अंगरेजी शब्द 'इमीटेशन' का रूपान्तर होकर आया है। यूनानी

१. पाश्चात्य काव्य की परम्परा—डा० नगेन्द्र

भाषा में कला के प्रसंगमें अनुकरण का व्यवहार अरस्तू का मौलिक प्रयोग नहीं है–अरस्तू से पूर्वप्लेटो इसी के आधार पर काव्य का तिरस्कार कर चुके थे। अनुकरण का भी अनुकरण होने के कारण (सत्य भौतिक पदार्थ काव्य) काव्य त्याज्य है। इस प्रकार प्लेटो तथा प्लेटो से भी पूर्ववर्ती यवन आचार्यों ने अनुकरण शब्द का प्रयोग स्थूल अर्थ में नकल या यथावत् प्रतिकृति के अर्थ में किया है। उनके अनुसार विभिन्न कलाकार अपने अपने माध्यम उपकरणों के अनुसार भौतिक जीवन और जगत का अनुकरण करते हैं–चित्रकार रूप और रंग के द्वारा; अभिनेता वेशभूषा. आंगिक चेष्टा तथा वाणी आदि के द्वारा और कवि भाषा के द्वारा। अरस्तू ने इसी प्रचलित शब्द को ग्रहण किया, किन्तु उसमें नया अर्थ भर दिया।[१]

अरस्तू के विभिन्न टीकाकारों तथा व्याख्याताओं ने इस शब्द के प्रयोग को अपने अपने ढंग से व्याख्या की है। फिर भी एक बात से सभी सहमत हैं कि अनुकरण शब्द का प्रयोग अरस्तू ने प्लेटो आदि की भाँति-स्थूल 'यथावत् प्रतिकृति के अर्थ में नहीं किया है।

बुचर (अरिस्टोटिल्स थिअरी ऑफ पोइट्री एंड फ़ाइन आर्ट) के अनुसार अरस्तू के अनुकरण शब्द का अर्थ है 'सादृश्य विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन'। 'कलाकृति मूल वस्तु का पुनरुत्पादन, जैसा वह होता है वैसा नहीं, वरन् जैसा वह इन्द्रियों को प्रतीत होता है, वैसा करती है। कला का संवेदन तत्वग्राहिणी बुद्धि के प्रति नहीं, वरन् भावुकता तथा मन की मूर्ति-विधायनी शक्ति के प्रति होता है।

प्रो० गिल्बर्ट मरे (एरिस्टोटल ऑन दि थिअरी आफ़ पोइट्री) ने यूनानी शब्द 'पोएट्स' (कर्ता–रचयिता) को आधार मानकर अनुकरण शब्द की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या की है। जनसाधारण में कला के लिए रचना या करण शब्द प्रयोग होता था। 'ट्रायपतन' के कर्ता या रचियता ने वास्तविक ट्राय पतन की रचना नहीं की थी। उसने तो अनुकृत ट्रायपतन की रचना की थी। अर्थात कवि ट्रायपतन का कर्ता नहीं अनुकर्ता ही था। अतः मरे के अनुसार कवि शब्द के यूनानी पर्याय में ही अनुकरण की धारणा निहित थी, किन्तु अनुकरण का अर्थ सर्जना का अभाव नहीं था।

अरस्तू के आधुनिक टीकाकार पॉट्स के अनुसार 'अपने पूर्ण अर्थ में अनुकरण का आशय है ऐसे प्रभाव का उत्पादन जो किसी स्थिति, अनुभूति अथवा व्यक्ति के शुद्ध प्रकृत रूप से उत्पन्न होता है। अनुकरण का अर्थ है–आत्माभिव्यंजना से भिन्न जीवन की अनुभूति का पुनः सृजन"।

एटकिन्स (लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन इन्टीकिटी) के मत से 'अनुकरण सृजनात्मक

१. अरस्तू का काव्य-शास्त्र—नगेन्द्र।

दर्शन की क्रिया'. अतः प्रायः 'पुनः सृजन' का ही दूसरा नाम है।

स्कॉट जेम्स (दी मेकिंग आफ लिटरेचर) ने इसे जीवन के कल्पनात्मक पुनर्निर्माण का पर्याय माना है। 'अरस्तू के काव्यशास्त्र में अनुकरण से अभिप्राय है साहित्य में जीवन का वस्तुपरक अंकन, जिसे हम अपनी भाषा में जीवन का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण कह सकते हैं।

उपर्युक्त व्याख्याओं के अतिरिक्त अरस्तू के अपने शब्दों को ही प्रमाण मानना अधिक समीचीन होगा। अस्तु, अरस्तू के निम्नलिखित उदाहरण विचारणीय हैं[१]—

(१) कला प्रकृति की अनुकृति है।

(२) इस प्रकार प्रत्येक त्रासदी के अनिवार्यतः छः अंग होते हैं जो उसके सौष्ठव का निर्धारण करते हैं—कथानक, चरित्र, पदरचना, विचार-तत्व, दृश्य-विधान और गीत। इनमें से दो अनुकरण के माध्यम हैं, एक अनुकरण की विधि और तीन अनुकरण के विषय।

(३) चित्रकार अथवा किसी भी अन्य कलाकार की तरह कवि अनुकर्ता है, अतएव उसका अनुकार्य अनिवार्यतः इन तीन प्रकार की वस्तुओं में से कोई एक हो सकती है। — जैसे वे थीं या हैं, जैसी वे कही या समझी जाती हैं अथवा जैसे वह होनी चाहिए।

(४) कवि तथा इतिहासकार में वास्तविक भेद यह है कि एक तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है। फलतः काव्य में दार्शनिकता अधिक होती है। उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है। क्योंकि काव्य सामान्य (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति है, तथा इतिहास विशेष को।

(५) अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनन्द भी कम सार्वभौम नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है:—

(१) काव्यात्मक (अनुकरण) के विषय प्रकृति अथवा जीवन का बहिरंग अर्थात् नाम-आकार-धारी जड़ जंगम रूप ही नहीं वरन् उसका अंतरंग अथवा अनुभूति, विचार कल्पना आदि भी है।

(२) इसमें भी अतंरंग की ही प्रधानता है। क्योंकि वस्तु के प्रत्यक्ष रूप की अपेक्षा उसका कल्पनात्मक, भावात्मक तथा विचारात्मक रूप ही अधिक ग्राह्य होता है। वस्तु कैसी है, इसकी अपेक्षा काव्यानुकरण के लिए यह अधिक महत्वपूर्ण है कि वह कैसी हो सकती है, या होनी चाहिए। अर्थात वस्तु के प्रत्यक्ष रूप की अपेक्षा उसका कल्पनात्मक तथा भावात्मक-विचारात्मक रूप ही अधिक ग्राह्य है।[२]

१. वही।
२. वही।

(३) इस प्रकार कला या काव्य में वस्तु के प्रायः तीन रूपों का अनुकरण किया जाता है। पहला प्रतीयमान (जैसा अनुकर्ता को प्रतीत होता है) रूप के अनुकरण का अर्थ है वस्तु के मानस प्रतिबिम्ब को शब्द आदि के माध्यम द्वारा व्यक्त करना। इस प्रक्रिया में, मानस प्रतिबिम्ब में भावतत्व और शब्द द्वारा प्रस्तुति में कल्पना की अवस्थिति अनिवार्य है।

(वस्तु मन में प्रति बिम्ब(भावतत्व)—व्यक्त शब्द (कल्पना))

दूसरा-सम्भाव्य रूप (जैसा वह हो सकता है) का अनुकरण। यह रूप तो निश्चय ही कल्पना पर आधारित है।

तीसरा-आदर्श रूप का (जैसा वह होना चाहिए) अनुकरण। आदर्श रूप (प्रेय+श्रेय) अनुकर्ता की इच्छा और विचार से पोषित कल्पना की सृष्टि होती है।

अतः अनुकरण का अर्थ यथार्थ प्रत्यंकन किसी भी रूप में नहीं है। वह भावात्मक एवं कल्पनात्मक पुनः सृजन का ही पर्याय है।

४. अनुकरण में आनन्द का तत्व अनिवार्यतः निहित होने का अर्थ भी यही है कि उसमें आत्मतत्व का प्रकाशन रहता है। क्योंकि आनन्द की उपलब्धि बिना आत्मतत्व के प्रकाशन के सम्भव नहीं है।

५. किन्तु भावतत्व और उसमें सन्निहित आत्मतत्व का निश्चित सद्भाव होने पर भी अनुकरण विशुद्ध आत्माभिव्यंजन का पर्याय नहीं है। क्योंकि उसमें वस्तुतत्व का प्राधान्य अनिवार्य है। अनुकरण में वस्तु केवल उद्दीपक निमित्त मात्र न होकर आधाररूप से विद्यमान रहती है।

इस प्रकार अनुकरण के सम्बन्ध में अरस्तू तीन मौलिक प्रश्न उठाता है। अनुकरण क्या है? अनुकरण किसका? और अनुकरण किस प्रकार? दूसरे शब्दों में माध्यम, विषय तथा रीति अथवा शैली की दृष्टि से वह अनुकरण की समस्या हल करना चाहता है।

काव्य और फलतः सामान्य विशुद्ध साहित्य के लिए अरस्तू ने अनुकरण का माध्यम भाषा को बतलाया है। जिस प्रकार संगीत में गति एवं लय, अथवा चित्र-कला में रंग रूप का माध्यम रहता है।

विषय के सम्बन्ध में उसका मत है कि काव्यात्मक अनुकरण का विषय 'कार्यरत मनुष्य' है— देवता भी हो सकता है। किन्तु 'कार्यरत मनुष्य' से उसका तात्पर्य काम में लगा हुआ मानव से नहीं है। इससे उसका अभिप्राय है— मानव-स्वभाव के फलस्वरूप होने वाली बातें अर्थात दूसरे शब्दों में, मानव जीवन में घटित घटनाएँ' अर्थात मानव जीवन में घटित होने वाली घटनाएँ प्रस्तुत करने वाली कथा। अस्तु विषय के अन्तर्गत अरस्तू कथा को स्थान देता है।

रीति या शैली के सम्बन्ध में अरस्तू ने कविता का वर्गीकरण वर्णनात्मक एवं नाटकीय इन्हीं दो रूपों में किया।

अरस्तू के अनुकरण के सिद्धान्त को समझते समय दो ऐतिहासिक तथ्यों पर ध्यान देना होगा।[१]

पहला—प्रायः सभी आदिम आचार्यों की भाँति उनका सिद्धान्त विवेचन भी अनु-गम विधि (इन्डक्टिव) पर आधारित है। अर्थात् उन्होंने अपने युग में उपलब्ध विशिष्ट साहित्य के आधार पर ही सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उसके सामने होमर के महाकाव्य और अनेक कृति कवियों की नाट्य कृतियाँ थीं। महाकाव्य तथा नाटक (त्रासदी) में भी अरस्तू ने त्रासदी को कला का उत्कृष्ट नमूना माना है। और प्रायः उसी के आधार पर सिद्धान्त विवेचन किया है। नाटक निश्चय ही अनुकरणमूलक कला है (अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्—धनंजय)। अतः अरस्तू ने जिस काव्य रूप को अपने सिद्धान्त प्रतिपादन का मुख्य आधार बनाया वह वास्तव में अनुकरण मूलक ही है।

दूसरेः—तथ्य की ओर गिलबर्ट मरे ने अपनी भूमिका में संकेत किया है यूनानी भाषा में कवि का पयार्यवाची शब्द पोएटेस का अर्थ है कर्त्ता, जिसका व्यवहार में अर्थ हो जाता है अनुकर्त्ता; अतएव कविकर्म के लिए अनुकरण का प्रयोग अरस्तू के समय से पहले से ही यूनान में परम्परासिद्ध था।

इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि अरस्तू ने काव्य-कला का मूल तत्व अनुकरण क्यों माना! इन दो ऐतिहासिक तथ्यों ने सम्भवतः उसको अत्यधिक प्रभावित किया था।

अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त की कुछ सीमाएँ भी हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं।

१. क्या अनुकरण शब्द का उचित प्रयोग अरस्तू ने किया है? अर्थात क्या इसके अर्न्तगत कल्पनात्मक पुर्ननिर्माण 'पुनः सृजन के आनन्द' 'भावतत्व का समावेश' सर्जना के आनन्द की अवस्थिति आदि सहज सम्भव है।[२]

इसका उत्तर यूनानी काव्यशास्त्र के विद्वान (मरे तथा बुचर) ने यह कहकर दिया है कि अरस्तू का शब्द तो मीमोसिस है, अंग्रेजी का इमीटेशन तो उसका असमर्थ अनुवाद है।

परन्तु इससे डा० नगेन्द्र संतुष्ट नहीं हैं। उनके अनुसार मीमोसिस का अर्थ इमीटेशन के अर्थ से इतना भिन्न नहीं है कि उसमें सर्जना का भी अन्तर्भाव हो सके। अतः यह आक्षेप असंगत नहीं हो सकता कि अरस्तू ने उचित शब्द का प्रयोग नहीं

१. वही।

किया। जो अर्थ उन्होंने अनुकरण शब्द में भरना चाहा वह उसकी सामर्थ्य के बाहर है।

२. अनुकरण सिद्धान्त की दूसरी सीमा यह है कि इसकी व्याप्त साहित्य की सभी विधाओं तक नहीं है। गीतिकाव्य अनुकरण सिद्धान्त की सीमा से बाहर रह जाता है। क्योंकि अरस्तू ने गीतिकाव्य को प्रायः उपेक्षित कर दिया है। गीत को उन्होंने काव्य का अलंकार मात्र माना है और व्यक्तिपरक गीतिकाव्यों की उन्होंने गीतिकाव्यों में गणना नहीं की। उनका अनुकरण सिद्धान्त प्रगीतकाव्य को अछूता छोड़ देता है।

३. अरस्तू का अनुकरण क्रोचे के अनुसार कला सृजन के प्रसंग में केवल आनुषंगिक प्रक्रिया मात्र रह जाता है। कला का मूल रूप कलाकार का मानस में घटित होता है— रंग रेखा शब्द लय आदि में उसका अनुकरण सर्वथा आनुषंगिक घटना है। कहने का अभिप्राय यह है कि क्रोचे के अनुसार काव्य-कला का जो मौलिक रूप है वह अनुकरण का विषय नहीं बन सकता और उसका मूर्त रूप जो अनुकरण का विषय है वह सर्वथा आनुषंगिक है। अतः जिस अंश तक क्रोचे का 'सहानुभूति सिद्धान्त मान्य है, उसी अंश तक अरस्तू का 'अनुकरण सिद्धान्त' अमान्य है।[1]

भारतीय काव्यशास्त्र में अनुकरण शब्द अत्यन्त प्राचीन है। भरत धनंजय (अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्) में अनुकरण का प्रयोग मिलता है। नाटक में जिस अनुकृति की व्यवस्था है वह नट कर्म ही है, कवि कर्म नहीं। अभिनवगुप्त ने 'अनुकार' (अनुकरण) शब्द का प्रयोग नट कर्म के लिए ही किया है। अतः भारतीय काव्य-शास्त्र में कवि कर्म के लिए अनुकरण का प्रयोग नहीं हुआ है। नट कर्म के लिए ही हुआ है। क्योंकि काव्य विद्या है, वरन् विद्याओं में भी सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु अभिनय कला उपविद्या है। अतः अभिनेतृभ्यः कवीन एव बहु मन्यामहे अभिनयेभ्यः काव्यमेवेति (भोज-शृङ्गार प्रकाश) अभिनेताओं की अपेक्षा हम कवियों को बड़ा मानते हैं, और अभिनय की अपेक्षा काव्य को। काव्य की इसी बहुमान्यता के कारण अनुकरण जैसे हीन शब्दों का प्रयोग काव्य के लिए नहीं अपितु कला के लिए किया गया है। (अभिनय, नृत्य, चित्र आदि)।

निष्कर्ष यह है कि अरस्तू और भारतीय आचार्यों का मूल मन्तव्य तत्वतः भिन्न नहीं है। किन्तु दोनों के मार्ग भिन्न हैं। अरस्तू कवि प्लेटो द्वारा तिरस्कृत अनुकर्ता है, भारतीय आचार्य का कवि वेद-वन्दित 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' है—दोनों ही वस्तु सत्य से दूर हैं। अरस्तू कवि के तिरस्कार का परिशोध करने के लिए प्रयत्नशील हैं और भारतीय आचार्य उसके अतिरंजित स्तवन को विवेकसम्मत रूप देने के लिए।

---

१. वही।

एक ने अनुकरण की हीनता का उन्नयन किया है, दूसरे ने सृजन की अतिरंजना का संतुलन।[१]

पर दृष्टिकोण भेद कम नहीं होता। अरस्तू जहाँ काव्य को प्रकृति का अनुकरण मानकर चले हैं वहाँ भारतीय आचार्य उसे आत्मा का उन्मेष मानते हैं। अरस्तू का दृष्टिकोण मूलतः भावात्मक रहा और त्रास तथा करुणा का विवेचन उसकी चरम सिद्धि रही है। इधर भारतीय आचार्यों का दृष्टिकोण भावात्मक रहा है और 'रस' उसका परम 'फल' रहा है। यह एक बड़ा अन्तर है, जो भारतीय काव्यशास्त्र के गौरव का द्योतक है।

त्रासदी (ट्रेजेडी)—अरस्तू के अनुसार नाटक काव्य का वह रूप है जिसमें पात्र जीवित जागृत और चलते-फिरते प्रस्तुत किये जाते हैं, अर्थात जिसमें कार्य-व्यापार का प्रदर्शन रहता है।

नाटक के दो भेद हैं, त्रासदी और कामदी। कामदी का विवेचन उपलब्ध नहीं होता। केवल स्फुटित संकेतों के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि कामदी का सम्बन्ध निम्नवर्गीय व्यक्तियों के उन अवांछनीय तथा उपहासपूर्ण कार्यों से है जिनके द्वारा अन्य किसी को पीड़ा नहीं पहुँचती। अतिपूर्ण मानव-स्वभाव, किसी की शारीरिक कुरूपता, आकस्मिक ढंग से हँसा देनेवाली घटना, नैसर्गिक मानव दुर्बलता, मूर्खतापूर्ण कार्य, आदि की असंगतियों का चित्रण करना कामदी का मुख्य लक्ष्य है। उसमें श्लेष प्रयोग द्वारा भी हास्य उत्पन्न किया जाता है।

त्रासदी तथा कामदी में दो प्रमुख अन्तर है—(१) त्रासदी का लक्ष्य त्रास तथा करुणा की उद्‌बुद्धि है और कामदी का हर्ष अथवा हास्य की। (२) कामदी का लक्ष्य होता है यथार्थ जीवन की अपेक्षा मानव का हीनतर चित्रण। और त्रासदी का लक्ष्य होता है भव्यतर चित्रण। अर्थात् त्रासदी के विषय-वस्तु तथा पात्र गम्भीर एवं उदात्त होते हैं, तथा कामदी के विषय-वस्तु तथा पात्र क्षुद्र तथा निकृष्ट होते हैं। किन्तु वे दुष्ट नहीं होते, अभिहस्य ही होते हैं।

त्रासदी की परिभाषा और स्वरूप—त्रासदी की परिभाषा देते हुए अरस्तू का कथन प्रो० बुचर द्वारा प्रस्तुत अनुवाद की भाषा में "Tragedy then, is an unitation of an action that is serious, complete and of a certain magnitude; in language embellished with each bind of artistie ornament, the several kinds being found in seperate parts of the play, in form of action, not of narrative; through pity and fear effecting the proper purgation of these emotions."

१. वही।

"त्रासदी किसी गंभीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है। जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान रूप में न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।"

'यह वास्तव में त्रासदी का लक्षण न होकर उपलब्ध त्रासदी साहित्य के आधार पर उसका वर्णन है।[1] यहाँ अरस्तू ने त्रासदी की समस्त विशेषताओं को सूत्रबद्ध कर दिया है।

१. त्रासदी कार्य की अनुकृति का नाम है। अतः त्रासदी दृश्य काव्य का एक भेद है।

२. यह कार्य गम्भीर, स्वतःपूर्ण होता है—इसका निश्चित आयाम होता है। अर्थात त्रासदी की आधारभूत कथा गम्भीर होती है, उसका एक निश्चित आयाम होता है और वह अपने आप में पूर्ण होती है। अर्थात उसमें जीवन के गंभीर पक्ष का सांगोपांग चित्रण रहता है।

३. इस कार्य का समाख्यान या वर्णन नहीं होता, वरन् प्रदर्शन होता है। पुनश्च इससे यह सिद्ध होता है कि यह दृश्य काव्य का भेद है।

४. भाषा छन्द-लय, गीत आदि से अलंकृत होती है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन के गांभीर्य और भावपक्ष का प्राबल्य होने के कारण त्रासदी की शैली भावपूर्ण और अलंकृत होती है। अलंकृत भाषा से अभिप्राय ऐसी भाषा से है जिसमें लय, सामंजस्य, गीत हो।

५. त्रास तथा करुणा के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का विवेचन त्रासदी का उद्देश्य होता है। अर्थात उसके मूल भाव होते हैं करुणा, और त्रास—इन भावों को उद्बुद्ध कर विरेचन की पद्धति से मानव मन का परिष्कार त्रासदी का मुख्य उद्देश्य होता है।[2]

त्रासदी के अंग :—प्रत्येक त्रासदी के अनिवार्यतः छह अंग होते हैं जो उसके सौष्ठव का निर्धारण करते हैं—१. कथानक २. चरित्र-चित्रण ३. पद-रचना, ४. विचार-तत्व ५. दृश्य-विधान ६. गीत।

इसमें से कथानक, चरित्र-चित्रण तथा विचार तत्व अनुकरण के विषय है, दृश्य-विधान है, पद रचना तथा गीत अनुकरण की विधि है।

१. वही।
२. वही।

कथावस्तु : महत्व—कथावस्तु से तात्पर्य घटनाओं के विन्यास का है। अरस्तू के अनुसार त्रासदी का (सामान्य रूप से समस्त प्रबन्धकाव्य का) महत्वपूर्ण अंग: है कथावस्तु-वह मानों त्रासदी की आत्मा है। इसके अनेक कारण है।

१. त्रासदी अनुकृति है—व्यक्ति की नहीं, कार्य की तथा जीवन की। जीवन कार्य-व्यापार का ही नाम है, अतः जीवन की अनुकृति में कार्य-व्यापार का ही प्राधान्य रहना चाहिए। काव्यगत प्रभाव का स्वरूप है सुख या दुःख और यह कार्यों पर निर्भर रहता है, अतः कार्य या घटनाएँ ही त्रासदी का साध्य है।

२. चरित्र कार्य-व्यापार (कथानक) के साथ गौण रूप से स्वतः ही आ जाता है। बिना कार्य-व्यापार के त्रासदी नहीं हो सकती, बिना चरित्र चित्रण के हो सकती है। चारित्र्य व्यंजक भाषण, विचार अथवा पदावली चाहे वह कितनी ही परिष्कृत क्यों न हों—वैसा सारभूत कारुणिक प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती जैसा कथानक तथा घटनाओं के कलात्मक गुम्फन से उत्पन्न होता है।

३. त्रासदी का सबसे प्रबल रागात्मक तत्व, स्थिति-विपर्यय तथा अभिज्ञान, कथानक के ही अंग हैं।

४. इसीलिए नवोदित कलाकार भाषा के परिष्कार तथा चरित्र चित्रण में तो पहले सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, पर कथानक का सफल निर्माण करने में उन्हें समय लगता है।

कथानक के प्रति अरस्तू का आग्रह अत्यन्त प्रबल था। इसके तीन कारण समझ में आते हैं। पहला—अरस्तू का अनुगमात्मक दृष्टिकोण-अर्थात् तत्तकालीन उपलब्ध साहित्य में कथावस्तु की महत्ता। परन्तु यह कारण सर्वथा अकाट्य नहीं हैं। तत्तकालीन साहित्य में—ऐस्ख्युलस तथा एउरिपिदेस आदि के नाटकों में वस्तु का महात्म होने पर भी चरित्र का गौरव कम नहीं है। दूसरा कारण है अरस्तू का बस्तु परक दृष्टिकोण जो अमूर्त की अपेक्षा मूर्त को ही अत्यधिक महत्व देता है, इसीलिए सूक्ष्म चारित्र्य विश्लेषण के स्थान पर अरस्तू को मूर्त घटना संगठन अधिक रचा।

तीसरा कारण अनुकरण सिद्धान्त का भी हो सकता है। चारित्रिक विशेषताओं की अपेक्षा कार्य-व्यापार का अनुकरण सहज होता है।

पर अरस्तू का उपर्युक्त सिद्धान्त सर्वथा मान्य नहीं है।[1] इस सम्बन्ध में उनके तर्क भी प्रायः अपुष्ट ही हैं। जैसे कि यह धारणा सत्य नहीं है कि बिना चरित्र-चित्रण के त्रासदी हो सकती है, बिना कथानक के नहीं। क्योंकि बिना पात्रों के घटनाएँ कैसे घट सकती हैं। और पात्रों की मनोवृत्तियों का घटनाओं से गहरा सम्बन्ध रहता है। विशेषकर गम्भीर घटनाओं की गम्भीरता का आधार ही यह है कि वे मानव-

१. वह ।

मनोवृत्तियों से कहाँ नक प्रेरित हैं और उन्हें कहाँ तक .प्रभावित करती हैं । और इसी तथ्य के आलेख का नाम चरित्र-चित्रण है ।

उनका एक और तर्क कि राग तत्व प्रायः घटनाओं में ही निहित रहता है—अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट है, इसमें सन्देह नहीं । परन्तु इस राग तत्व के साथ ही तो मानव तत्व (चरित्र-चित्रण) का समावेश हो जाता है । अतः कथानक तो इस राग तत्व का वाहक है, आधार है मानव तत्व (चरित्र चित्रण) और परिणित है रस ।

इस प्रकार अरस्तू का कथानक सम्बन्धी सिद्धान्त काव्यालोचन की प्रारम्भिक अवस्था का द्योतक है । यूरोप के परवर्ती नाट्यशास्त्र का चरित्र विषयक सिद्धान्त उससे भी अधिक विकसित है । (मार्लो, शेक्सपीयर, गेटे, शॉ आदि के नाटकों में चरित्र-चित्रण का ही प्राधान्य है) और उससे भी अधिक विकसित है भारतीय नाट्य शास्त्र का रस सिद्धान्त । जिसके अनुसार घटना से अधिक महत्वपूर्ण उसमें निहित आत्म तत्व (चरित्र) है, और आत्मतत्व से अधिक महत्वपूर्ण उसकी सफल अभिव्यक्ति (रस) है ।

कथानक का आधार—अरस्तू ने प्रायः तीन प्रकार के कथानक का संकेत किया है ।

१. दन्तकथा मूलक—"वैसे त्रासदी का आधार प्रायः यह ही होती है ।" "कारण यह है कि जो सम्भव है वही विश्वसनीय है और जो हुआ नहीं उसकी सम्भवता में हम एकदम विश्वास नहीं कर पाते ।

२. कल्पनामूलक—परन्तु फिर भी यह आवश्यक नहीं कि हम जैसे बने वैसे परम्परागत दन्तकथाओं को ही ग्रहण करें ।" कुछ त्रासदियाँ ऐसी भी हैं जिनमें एक भी प्रसिद्ध नाम नहीं है; जैसे—अगथॉन की अन्थेउस, जिसमें घटनाएँ तथा नाम दोनों काल्पनिक हैं । फिर भी इन कृतियों में से किसी प्रकार का कम आनन्द नहीं मिलता ।

३. इतिहासमूलक : और यदि संयोग से वह ऐतिहासिक विषय भी ग्रहण कर ले तब भी उसका कवि रूप अक्षुण्ण रहता है । क्योंकि ऐसा कोई कारण नहीं है कि कुछ घटनाएँ जो वास्तव में घटी हैं सम्भव तथा सम्भाव्य के नियम के अनुकूल न हों । और उनके इसी गुण के नाते वह उनका कवि या स्रष्टा होता है ।

अरस्तू के अनुसार इन तीनों में सर्वश्रेष्ठ है दन्तकथा साहित्य । क्योंकि इसमें सत्य और कल्पना दोनों का सुन्दर समन्वय रहता है । शेष दोनों आधार भी अग्राह्य नहीं हैं पर वे इतने समृद्ध नहीं हैं ।

---

१. वहीं ।

भारतीय काव्यशास्त्र में दो प्रकार की कथा-वस्तु का विवेचन है—'प्रसिद्ध' जिसमें पुराण दन्तकथाओं और इतिहास का सम्मिलन है। और 'उत्पाद्य' कथा काल्पनिक सृष्टि होती है। महाकाव्य, नाटक आदि गम्भीर काव्य रूपों के लिए यहाँ भी 'प्रसिद्ध' कथा का भी विधान है।

कथानक का आयाम—अरस्तू के अनुसार सुगठित कथानक के लिए निश्चित आयाम की आवश्यकता है। उचित आयाम से अभिप्राय है कि १. कथानक का विस्तार इतना होना चाहिए कि अपने समग्र रूप में स्मृति धारण किया जा सके।

२. वह न इतना सूक्ष्म होना चाहिए कि प्रत्येक के मन में उसका बिम्ब ही न बन सके, और न इतना विराट की मन में समा ही न सके।

३. उसका सर्वाङ्ग स्पष्ट रूप से व्यक्त रहना चाहिए।

४. उससे जीवन की परिणित के लिए सम्यक्-अवकाश रहना चाहिए। जिसमें जीवन का चक्र एक बार पूरी तरह से घूम सके।

कथावस्तु के गुण:

१. एकान्विति—कथावस्तु का आधारभूत गुण है। एकान्विति का यह अर्थ नहीं है कि उसमें एक व्यक्ति की कथा हो। कथानक के ऐक्य का अर्थ है–कार्य का ऐक्य उनके अनुसार 'एक' कथानक वह है जिसमें:—

(क) एक कार्य धुरी रूप में वर्तमान हो।

(ख) प्रत्येक घटना इस कार्य का अभिन्न एवं अनिवार्य अंग हो; अर्थात् कथा-विधान में प्रत्येक घटना का इतना महत्व होना चाहिए कि उसको इधर उधर करने से सर्वांग ही भिन्न भिन्न हो जाए कसाव हो।

(ग) समस्त घटनाएँ मूल कार्य से सम्बद्ध होने के अतिरिक्त परस्पर अनिवार्य रूप से सम्बद्ध हो।

(घ) एक भी अनावश्यक अर्थात् मूल से असंबद्ध घटना न हो।

भारतीय नाट्यशास्त्र में पंचसंधियों तथा पंचअवस्थाओं के विवेचन द्वारा उपर्युक्त एकान्विति का प्रति पादन किया गया है।

२. पूर्णता—त्रासदी ऐसे कार्य को अनुकृति है जो समग्र एवं सम्पूर्ण हो। पूर्ण वह है जिसमें आदि मध्य और अवसान हो। आदि वह है जो किसी के हेतु का परिणाम नहीं होता, पर जिसके पश्चात् स्वभावतः कुछ घटित होता है। अवसान वह है जो स्वयं तो अनिवार्यत किसी अन्य घटना का सहज अनुवर्ती होता है; पर जिसका अनुवर्ती कुछ नहीं होता।

मध्य वह है, जो स्वयं किसी घटना का अनुगमन करता है और अन्य घटना

उसका अनुगमन करती है। इस प्रकार पूर्णता वह गुण है जिसमें जिज्ञासा की क्रमिक पूर्ति की अनिवार्य व्यवस्था हो।

३. **सम्भाव्यता**—जो घटित हो चुका है वही पर्याप्त नहीं है, वरन् जो घटित हो सकता है वह भी काम्य है। पर जो हो सकता है वही, जो नहीं हो सकता वह नहीं सम्भाव्यता कथानक का अत्यन्त आवश्यक गुण है। इसके द्वारा अरस्तू दो तत्वों का निर्देश करना चाहते हैं पहला तो कि घटनाएँ असम्भाव्य नहीं होनी चाहिए क्योंकि उन्हें मानव मन ग्रहण नहीं कर सकता दूसरा यह कि केवल घटित तथ्य काव्य के कथानक के लिए उपयुक्त नहीं होते—वे इतिहास के लिए ही अभीष्ट हैं।

४. **सहज विकास**—कथानक के विभिन्न अंगों का विकास सहज रूप से होना चाहिए, अर्थात-संवृति,-विवृति, स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान आदि की उद्भूति कथानक में से ही होनी चाहिए। घटनाएँ जब एक दूसरे का सहज परिणाम होती हैं, तभी श्रोता या प्रेक्षक का मन उन्हें अनायास ग्रहण कर सकता है। यांत्रिक अवतारणा तथा अन्य बाह्य साधनों का प्रयोग इसीलिए श्लाघ्य नहीं।

५. **कुतूहल**—के लिए आवश्यक है कि घटनाएँ हमारे समक्ष अचानक ही उपस्थित हों। यह प्रभाव उस दशा में और भी गहरा हो जाता है जब इसके साथ ही उनमें कार्य-कारण की पूर्वापरता भी हो। अरस्तू के अनुसार घटनाओं के आकस्मिकता के पीछे, प्रच्छन्न रूप में ही सही, कार्य-कारण की पूर्वापरता रहनी चाहिए। यही विरोधाभास कथा रस का रहस्य है क्योंकि इससे एक ओर विस्मय भाव निगुणित हो जाता है और दूसरी ओर औचित्य की भावना भी परितुष्ट हो जाती है।

६. **साधरणीकरण**—घटना-विन्यास करने के पूर्व कवि को अपने कथानक की एक सार्वभौम सर्वसाधारण रूपरेखा बना लेनी चाहिए। यह रूपरेखा देश काल के बंधनों से मुक्त सर्वग्राह्य एवं सर्वप्रिय होनी चाहिए जिसके साथ सभी तादात्म्य कर सकें। फिर उसके बाद उसमें विशिष्ट नामधारी व्यक्तियों और उनके जीवन घटनाओं का सामावेश करना चाहिए। इस प्रकार प्रबन्ध विधान सार्वभौम रूप धारण कर लेता है।

कथानक के भेद

१. **सरल कथानक**—वह है जिसका कार्य-व्यापार 'एक' और अविच्छिन्न हो। उसमें स्थिति विपर्यय और अभिज्ञान के बिना ही भाग्य परिवर्तन हो जाता है। निम्न गुण हैं।

पहला—उसका कार्य एक हो-किसी प्रकार द्विधा न हो।

दूसरा—चरम घटना की ओर सीधा और अकेले बढ़े।

तीसरा—उसकी परिणित के लिए स्थिति-विपर्यय तथा अभिज्ञान की आवश्यकता है ।

२. जटिल कथानक का आधार होता है जटिल व्यापार । जटिल व्यापार वह है जहाँ यह (भाग्य) परिवर्तन स्थिति विपर्यय या अभिज्ञान अथवा दोनों के द्वारा घटित होता है । इस प्रकार जटिल कथानक में जोड़ और मोड़ होते हैं, वह इकहरा नहीं प्रायः दुहरा होता है ।

कथानक के अंग:—जटिल कथानक के दो अंग होते हैं १. स्थिति विपर्यय, २. अभिज्ञान । प्रबन्ध विधान में इसका बड़ा महत्व है ।

१. स्थिति विपर्यय:—अरस्तू का मूल शब्द है 'पेरोपेतेइआ' । यह ऐसा परिवर्तन होता है जिसमें व्यापार का 'उल्ट फेर' (व्यतिक्रम) होता है । पर यह आवश्यकता और सम्भावना के नियम पर आधारित रहता है । बूचर ने इसे भाग्य विपर्यय माना है । एटकिन्स ने परिस्थित वैषम्य माना है । ल्यूक्स भाग्य की विषमता तथा पाट्स घटनाओं की विषमता मानते हैं । जो भी हो इतना अवश्य कहा जा सकता है कि स्थिति विपर्यय में वैषम्य का अस्तित्व अनिवार्य रहता है । (मेरे मन कछु और है, कर्ता के कछु और) भारतीय कथा-काव्य में भी इसका उपयोग किया गया है । नाटकीय गुण का तो यह मूल आधार है । ईडिपस के कथा में दूत के द्वारा यही होता है–स्थिति एक दम उलट जाती है, दूत चाहता है ईडिपस का पुनः परितोष करना परन्तु परिणाम उसकी इच्छा के विपरीत होता है । शाकुन्तलम् में दुर्वासा शाप, मुद्रिका लोप आदि प्रसंग इसी के अन्तर्गत आ जाएगे ।

२. अभिज्ञान:—अभिज्ञान शब्द से स्पष्ट है उसमें अज्ञान की ज्ञान में परिणित का भाव निहित है । 'अनग्नोरिसिस' मूल शब्द है । बूचर ने इसे सामान्य अभिज्ञान तथा वाईट वाटर ने इसे रहस्योद्घाटन के रूप में माना है । अभिज्ञान में किसी अज्ञात तथ्य-प्रायः महत्व पूर्णरहस्य के सहसा उद्घाटन से कार्य की गति बदल जाती है ।

कथानक के भाग:—संकृति तथा विवृति संवृति का अभिप्राय है उलझन, काव्यशास्त्र के अंगरेजी अनुवादों में इसी शब्द के पर्याय का प्रयोग (काम्पिलकेशन) हुआ है । इसके मतलब यह है कि कथानक के पूर्वाद्ध में त्रासदीकार घटनाओं को उलझा कर कुतूहल की वृद्धि करता है ।

दूसरा भाग है विवृति । जिसका अर्थ है खोलना या सुलझाना । अर्थात् कथा के उतराद्ध में त्रासदीकार पूर्वाद्ध की ग्रन्थि को खोलकर–उलझन को सुलझाकर उसमें उद्बुद्ध कुतूहल का परितोष करता है ।

इसी विभाजन के आधार पर अरस्तू ने पांच अवस्थाओं को माना है। पहला आरम्भिक घटना, दूसरा कार्य विकास, तीसरा चरमघटना. चौथा निगति पांचवा फल का विकास। पहले तीन संवृति के अंग है तथा शेष दो विवृति के अंग है।

२. चरित्र-चित्रण:—कथावस्तु के बाद चरित्र-चित्रण का दूसरा महत्वपूर्ण स्थान है।

अर्थ 'चरित्र वह है जिसके बल पर हम अभिकर्ताओं में कुछ गुणों का आरोप करते हैं तथा 'चरित्र उसे कहते हैं जो किसी व्यक्ति को रुचि विरुचि का प्रदर्शन करता हुआ नैतिक प्रयोजन को व्यक्त करें।

चरित्र-चित्रण के आधारभूत सिद्धान्तः—१. सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह कि चरित्र भद्र हो। भद्रता को वे एक नैतिक गुण ही मानते थे जो वर्ग भेद तथा सामाजिक स्थिति (नारी) से प्रभावित होने पर भी मूलतः निरपेक्ष होता है।

२. चरित्र में औचित्य होनी चाहिए। पुरुष में एक प्रकार का शौर्य होता है पर नारी चरित्र में शौर्य का समावेश अनुचित होगा।

३. चरित्र जीवन के अनुरूप होना चाहिए। अर्थात त्रासदी के पात्र जीवन्त होने चाहिए–वे इस प्रकार जीते जागते चलते फिरते नर नारी होने चाहिए जैसे कि जीवन में होते हैं।

४. चरित्र में एकरूपता होनी चाहिए। चरित्र-चित्रण में एकरूपता का निर्वाह आवश्यक है। चरित्र में अस्थिरता हो सकती है, प्रायः होती है। क्या एक कठोर व्यक्ति आगे चलकर मृदु नहीं हो सकता। अरस्तू परिवर्तन की सम्भावना का निषेध नहीं करते। बड़ा सा बड़ा परिवर्तन मनुष्य के चरित्र में सम्भव है, किन्तु उनको ग्राह्य बनाने के लिए पात्र की प्रकृति में कुछ संस्कार अवश्य रहना चाहिए। परिवर्तनशीलता का धर्म अवश्य रहना चाहिए।

५. चरित्र-चित्रण में कवि को सदैव अवश्यम्भावी या सम्भाव्य को ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिए।

६. चूँकि त्रासदी में ऐसे व्यक्तियों की अनुकृति रहती है, जो सामान्य स्तर से ऊँचे होते हैं, अतः उसमें श्रेष्ठ चित्रकारों का आदर्श सामने रखना चाहिए। ये चित्रकार मूल का स्पष्ट प्रत्येकन करने के अतिरिक्त एक ऐसी प्रतिकृति प्रस्तुत कर देते हैं जो जीवन के अनुरूप होने के साथ ही उससे कहीं अधिक सुन्दर भी होती है। अपितु यथार्थ तथा आदर्श का कलात्मक समन्वय चरित्र चित्रण में रहना चाहिए।

नायक—त्रासदी का नायक कैसा नहीं होना चाहिए।

१. खल पात्र नहीं होना चाहिए। क्योंकि खल पात्र का पतन व त्रास उद्बुद्ध करता है और न करुणा, वरन् न्याय की भावना को पुष्ट करता है।

२. सर्वथा निर्दोष, नितान्त सज्जन भी नहीं होना चाहिए। क्योंकि इसके पतन से न्याय भावना भीषण आघात लगता है, करुणा तथा त्रास के भाव लुप्त हो जाते हैं।

कैसा होना चाहिए : १. हम जैसा हो अर्थात् सहज मानव भावनाओं से युक्त जिसके साथ प्रेक्षक का तादात्मय हो सके।

२. अत्यन्त वैभवशाली, यशस्वी, कुलीन पुरुष (प्रायः राजपरिवार या सामन्त परिवार का व्यक्ति)।

३. उसके चरित्र में सत् के साथ असत् का कुछ अंश में समावेश होना चाहिए। मूलतः सज्जन होने पर भी उसे सर्वथा निर्दोष नहीं होना चाहिए। दुष्टता या पाप तो नहीं, पर स्वभाव में कोई न कोई कमजोरी या भूल करने की प्रवृत्ति अवश्य होना चाहिए।

नायक के विपत्ति के पाँच कारण हो सकते हैं। १. दैवकोप, २. पाप, ३. स्वभाव दोष, ४. अज्ञान, ५. निर्णय सम्बन्धी भूल।

अरस्तू के अनुसार त्रासदी का आदर्श नायक वह है जो या तो स्वभावदोष (आवेश, त्वरा, आदि के कारण स्वभाव से लाचार होकर) या फिर निर्णय सम्बन्धी भूल के कारण अपराध करता हुआ दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है।

विद्वानों के अनुसार अरस्तू का सिद्धान्त सर्वथा पूर्ण नहीं है। उनकी परिधि त्रासदी नायक के सभी प्ररूप नहीं आते। परन्तु प्रो० बुचर के शब्दों में उपर्युक्त सिद्धान्त का महत्व यह है कि उसमें एक गहन सत्य निहित है।

विचार-तत्व :—त्रासदी के आधारभूत तत्वों में इसका तीसरा स्थान है। विचार का अर्थ है प्रस्तुत परिस्थिति में जो सम्भव और संगत हो उसके प्रतिपादन की क्षमता। 'विचार की आवश्यकता तब पड़ती है जब किसी वक्तव्य को सिद्ध किया जाय या सामान्य सत्य का आख्यान किया जाय।

विचार-तत्व का अर्थ व्यापक है—इसमें बुद्धि-तत्व प्राधान्य होते हुए भी भाव-तत्व का अन्तर्भाव है। इसके दो रूप हैं :

१. **वस्तुगत रूप**—जिसमें लेखक अपपात्रों द्वारा उनके विचार का प्रतिपादन, करते हैं।

२. **आत्मगत रूप**—जो उसके अपने विचारों का प्रतिफलन होता है—जिसका प्रतिपादन वह समस्त नाटक अर्थात् उसके समस्त अंगों—कथाविधान, चरित्र-चित्रण, विचार प्रतिपादन, भावाभिव्यक्ति, दृश्य योजना आदि के द्वारा करता है। अरस्तू ने यद्यपि पहले रूप पर ही बल दिया है, पर दूसरा रूप भी उपेक्षित नहीं है।

पदावलीः—पदावली से अभिप्राय है 'शब्दों द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति'—अर्थात् 'अर्थ प्रतिपादक शब्द'—या संक्षेप में 'शब्दार्थ'। त्रासदी का माध्यम, अलंकृत भाषा होती है। अलंकृत से अभिप्राय ऐसी भाषा से है, जिसमें लय, सामंजस्य तथा गीत का सामावेश हो।

सामान्यतः 'भाषा का प्राणतत्व गद्य तथा पद्य दोनों में एक सा रहता है, पर फिर भी त्रासदी के मध्य वातावरण के लिए पद्य अर्थात शब्दों का छन्दोबद्ध विन्यास ही उपयुक्त रहता है।

त्रासदी की भाषा प्रसन्न हो, किन्तु क्षुद्र न हो, समृद्ध और उदात्त हो परन्तु बाह्याडम्बर से मुक्त हो। अर्थात् त्रासदी की भाषा में अलंकृति गरिमा, और औचित्य का सहज समन्वय होना चाहिए। अपने विषयवस्तु और भव्य उद्देश्य के अनुरूप ही उसकी भाषा भी भव्य होनी चाहिए।

गीत—त्रासदी का अनिवार्य तत्व है क्योंकि गीत में त्रासदी के विषय एवं वातावरण को अधिक प्रभावशाली बनाने की क्षमता होती है।

दृश्य विधान—दृश्य विधान का तात्पर्य है रङ्गमंच की साज-सज्जा से। अरस्तू के मत से त्रासदी के विविध अङ्गों में सबसे कम कलात्मक यही है। क्योंकि १. एक तो यह कवि की अपेक्षा मंच शिल्पी की कला पर अधिक निर्भर रहता है।

२. दूसरे इससे स्वतन्त्र भी त्रासदी के प्रबल प्रभाव की अनुभूति होती है। कथानक का सङ्गठन ऐसा होना चाहिए कि प्रेक्षण के बिना भी कथा के श्रवण मात्र से ही सहृदय भय से काँप जाये और करुणार्द्र हो उठे।

इस प्रकार बाह्य तत्व होने के कारण अरस्तू ने इसे अनिवार्य एवम् महत्वपूर्ण तत्व नहीं बतलाया।

त्रासदी के संगठन सम्बन्धी अन्य अंग—कथावस्तु आदि उपर्युक्त छह अङ्गों के अलावा अरस्तू ने त्रासदी के चार अन्य अंगों का उल्लेख भी किया है जो उसके संगठन पर आश्रित हैं। संगठन से अभिप्राय रचना विधान से है।

१. प्रस्तावना—अरस्तू के अनुसार 'प्रस्तावना त्रासदी का वह सम्पूर्ण भाग है, जो गाय वृन्द के पूर्व गान के पहले रहता है। वास्तव में यह वह भाग है जो त्रासदी के लिए—विशेषतः उसकी कथावस्तु के लिए भूमिका प्रस्तुत करता है।

२. उपाख्यान—'उपाख्यान वह समग्र अंश है, जो पूर्ण वृन्दगानों के बीच विद्यमान रहता है। यूनानी त्रासदी में प्रायः तीन उपाख्यान रहते हैं।

३. उपसंहार—त्रासदी का वह अंश जिसके बाद कोई वृन्दगान नहीं होता। यूरोप के परवर्ती नाटकों में इसी का 'अंतिम घटना' या 'कैटेस्ट्रफी' में रूपान्तर हो गया है।

४. **वृन्दगान**—इसके दो भाग हैं। पूर्वगान तथा उत्तरगान। पूर्वगान पहला वृन्द गान है, और उत्तरगान कदाचित् अंतिम। वृन्दगान से अभिप्राय अनेक गायकों के नृत्य युक्त सामूहिक गान से है जिसमें त्रासदी की घटनावली को प्रायः भावात्मक समीक्षा रहती है।

त्रासदी के भेद—त्रासदी के चार प्रमुख भेद हैं।

१. जटिल, जो पूर्णतया स्थिति विपर्यय और अभिज्ञान पर निर्भर होती है।

२. करुणा (भावप्रधान) जिसका प्रेरक हेतु आवेग होता है।

३. नैतिक जहाँ प्रेरक हेतु नैतिक होता है।

४. सरल, ५. शुद्ध दृश्यात्मक। पर अरस्तू ने इसकी गणना प्रमुख भेदों में नहीं किया है।

वास्तव में वर्ग-विभाजन अधिक संगत नहीं है—इनमें दो भेद संघटना पर आधृत हैं, दो उद्देश्य अथवा प्रभाव पर और एक का आधार सर्वथा बहिरंग तत्व पर आश्रित है। वर्ग-विभाजन का आधार दृढ़ होना चाहिए। प्रत्येक वर्ग की सीमा रेखा स्पष्ट होनी चाहिए। परन्तु उपर्युक्त विभाजन ऐसा नहीं है। जटिल त्रासदी करुणा भी हो सकती है और नैतिक भी, सरल त्रासदी के लिए भी यही कहा जा सकता है।

त्रासदी की स्थितियाँ

प्रतिकूल स्थितियाँ—१. किसी (सर्वथा) सत्पात्र का सम्पत्ति से विपत्ति में पतन न दिखलाया जाय। इससे न करुणा को उद्बुद्धि होगी, न त्रास को, इससे तो हमें आघात ही पहुँचेगा।

२. किसी दुष्ट पात्र के विपत्ति से सम्पत्ति में उत्कर्ष का चित्रण भी नहीं रहना चाहिए। क्योंकि त्रासदी की आत्मा के इससे अधिक प्रतिकूल और कोई स्थिति नहीं हो सकती। इसमें त्रासदी का एक भी गुण विद्यमान नहीं है। इससे न नैतिक भावना का परितोष ही और न करुणा और त्रासद्धि हो।

३. किसी अत्यन्त खल पात्र का पतन दिखाना भी संगत नहीं है—इस प्रकार के कथानक से नैतिक भावना का परितोष तो अवश्य होगा, परन्तु करुणा या त्रासक उद्बोध नहीं हो सकेगा क्योंकि करुणा तो किसी निर्दोष व्यक्ति की विपत्ति से जागृत होती है और त्रास समान पात्र की विपत्ति से।

उपर्युक्त स्थितियाँ त्रासदी के नितान्त प्रतिकूल हैं।

अनुकूल स्थिति[1]—१. त्रासदी में किसी ऐसे महिमाशाली व्यक्ति के दुर्भाग्य (उत्कर्ष से अपकर्ष में पतन) का चित्रण रहना चाहिए, जो 'अत्यन्त सच्चरित्र और न्यायपरायण तो नहीं है, फिर भी जो अपने दुर्गुण या पाप के कारण नहीं वरन्

१. वही।

किसी कमजोरी या भूल के कारण दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है। सहज दुर्बलता या भूल के कारण सहज मानव करुणा का उद्रेक होगा।

२. यह स्थिति ऐसी अवस्था में और भी अनुकूल हो जाती है जब यह त्रासद करुणा घटना ऐसे लोगों के बीच होती है जिसमें घनिष्टता या स्नेह सम्बन्ध हो। जैसे यदि भाई-भाई की, पुत्र पिता की, माँ बेटे अथवा बेटे माँ की हत्या करे या करना चाहे अथवा इसी प्रकार कोई कृत्य हो।

इस प्रकार की स्थिति में अनेक रूप हो जाते हैं।

पहला—दारुण कार्य जान बूझकर किया जाने वाला हो, परन्तु न हो। यह रूप सबसे निकृष्ट है। इससे क्षोभ होता है, करुणा नहीं, क्योंकि इसके फलस्वरूप कोई अनर्थ तो होता नहीं।

दूसरा—कार्य जानबूझकर किया जाने वाला हो और हो जाय। दारुण घटना घट जाने से यह क्षोभ करुणा में परिणत हो जाता है। अतः यह पहली स्थिति से अधिक उपयुक्त है।

तीसरा—कार्य अनजाने कर दिया जाय और वस्तु-स्थिति का उद्‌घाटन बाद में हो। यह स्थिति और भी उत्कृष्ट है। इसमें एक ओर जहाँ आश्चर्य होता है वहाँ दूसरी ओर करुणा और भी तीव्र हो जाती है, क्योंकि कर्ता स्वयं ही करुणाभिभूत हो जाता है।

चौथा—कार्य अनजाने किया जाने वाला हो, परन्तु समय रहते वस्तु स्थिति के उद्‌घाटन से अन्त में दुर्घटना होने से बच जाय। यह स्थिति त्रासदी के लिए सर्वश्रेष्ठ है।

अतः अरस्तू अशोक (बिना शोक के) अन्त को त्रासदी के लिए घातक नहीं मानते। जिस त्रासद करुण भाव का परिपाक सम्पूर्ण नाटक कलेवर में स्थायी रूप से होता रहता है वह अन्तिम घटना विपर्यय से नष्ट नहीं हो सकता। त्रासदी की समस्त कथावस्तु में रमा होने के कारण करुण रस प्रेक्षक की चेतना में रम जाता है, अतः एक घटना की विपरीति परिणति उसको निराकृत नहीं कर सकती।[१] (जैसे उत्तररामचरित में अन्त सशोक न होने पर भी करुण रस का परिपाक अक्षुण्ण है।

त्रासदी का रागात्मक प्रभाव—अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों के उपयुक्त विश्लेषण से त्रासदी के रागात्मक प्रभाव का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यह 'एक विशिष्ट प्रकार का आनन्द है जो अनुकरण के माध्यम से करुणा और त्रास जगाकर निष्पन्न होता है।[१]

१. वही।

१. यह अन्ततः आस्वाद रूप होता है।

२. मानव दुर्बलता की करुणा-विवश चेतना से उद्भूत त्रास और करुणा की उद्बुद्धि पर आश्रित रहता है।

३. नैतिक क्षोभ और वितृष्णा से मुक्त होता है।

४. आश्चर्य-समन्वित होता है।

५. प्रत्यक्ष तथा ऐन्द्रिय अनुभूति न होकर 'भावित' अनुभूति रूप होता है।

६. कवि कौशल के प्रति प्रशंसा-भाव से युक्त होता है।

प्रश्न उठता है कि त्रासद करुण भाव की उद्बुद्धि आस्वाद रूप किस प्रकार होती है ? इसका उत्तर अरस्तू ने अपने विरेचन सिद्धान्त द्वारा किया है।

महाकाव्य परिभाषा और स्वरूप:—महाकाव्य काव्य का एक भेद है, इसका रूप समाख्यानात्मक होता है, इसमें उच्चतर चरित्रों का वर्णन रहता है, इसका आकार विपुल होता है, इसके वस्तु संगठन में घनत्व और गरिमा होती है, इसमें एक ही छन्द का प्रयोग होता है।

मूल तत्व:—कथावस्तु, चरित्र, विचार-तत्व, पदावली (भाषा)

१. कथावस्तु—पहला वह प्रख्यात (जातीय दन्तकथाओं पर आश्रित) होना चाहिए और, उसमें यथार्थ से श्रेष्ठतर जीवन का अंकन होना चाहिए।

दूसरा—उसका आयाम विस्तृत होना चाहिए जिसके अन्तर्गत विविध उपाख्यानों का सामावेश हो सके।

तीसरा—उसमें एक ही कार्य होना चाहिए, जो आदि मध्य-अवसान से युक्त अपने आप में पूर्ण हो। समस्त उपाख्यान इसी मूल सूत्र में गुंफित होनी चाहिए।

चौथा—नाटक (त्रासदी) के वस्तु संगठन के सभी अन्तरंग गुण और प्रमुख अंग महाकाव्य में भी यथावत् होने चाहिए।

शैली:—कथा वर्णन की दो प्रमुख शैलियाँ हैं।

१. परोक्ष समाख्यान शैली, २. प्रत्यक्ष नाटकीय शैली। महाकाव्य में सामान्य रूप से पहली का तथा विशेष रूप से दूसरी का प्रयोग होता है। महाकाव्य में भी अरस्तू प्रत्यक्ष नाटकीय शैली को अधिक रोचक और उपयुक्त मानते हैं।

२. **चरित्र-चित्रण**—'महाकाव्य और त्रासदी, में यह समानता है कि उसमें भी उच्चतर कोटि के पात्रों की पद्यबद्ध अनुकृति रहती है

उनके अनुसार महाकाव्य के पात्र:

पहला—भद्र होना चाहिए

---

१. वही।

दूसरा–वैभवशाली, यशस्वी तथा कुलीन होना चाहिए।

तीसरा–सहज मानवगुणों (गुण-दोषों) से विभूषित होने चाहिए-जिनके सुख-दुख के साथ सहृदय का तादात्म्य हो सके।

चौथा–सब मिलाकर उच्चतर कोटि के अर्थात् उदात्त होने चाहिए। महाकाव्य के पात्र उसके कथानक तथा उद्देश्य के अनुरूप उदात्त होना चाहिए।

३. विचार-तत्व—महाकाव्य में प्रतिपादित विचारों में स्वाभाविकता हो तथा भावनाएँ उदात्त हों। इनमें किसी भी प्रकार की कृत्रिमता, अश्लीलता, अस्वाभाविकता एवं निकृष्टता निषिद्ध है।

४. पदावली (भाषा):—(शैली-छन्द) महाकाव्य की शैली का भी 'पूर्ण उत्कर्ष यह है कि वह प्रसन्न हो किन्तु क्षुद्र न हो।' अर्थात् गरिमा और प्रसाद ये दो मूल तत्व हैं।

अरस्तू के मत से महाकाव्य की भाषा शैली त्रासदी की करुण, मधुर अलंकृत शैली से भिन्न, लोकातिक्रान्त प्रयोगों से कलात्मक, उदात्त एवं गरिमा वरिष्ठ होनी चाहिए। साथ ही प्रसन्न होनी चाहिए। उसका आधार व्यापक होना चाहिए। सभी प्रकार के शब्दावली (शब्दों के भेद प्रचलित, अपरिचित, लक्षाणिक, आलंकारिक, नवनिर्मित, संकुचित (६) और प्रयोगों आदि का सामावेश हो सके।

छन्द १. महाकाव्य में केवल एक ही छन्द का प्रयोग आरम्भ से अंत तक होना चाहिए। क्योंकि इससे समाख्यान के अविच्छन्न प्रवाह की रक्षा होती है। अनेक छन्दों का मिश्रण इस प्रवाह को खंडित कर देता है। जिससे महाकाव्य के गरिमा की हानि होती है।

२. वृत्तों में पटपद् वीरवृत्त सबसे अधिक भव्य एवं गरिमामय होता है, अतः काव्य में सबसे अधिक भव्य और गरिमामय रूप महाकाव्य के लिए वही सर्वाधिक उपयुक्त है। उसकी लय इतनी भव्य और उदात्त होती है कि असाधारण शब्द उसमें सहज ही रम जाते हैं। त्रिमात्रिक आदि अन्य छन्द अभिनय आदि के लिए तो अत्यन्त उपयुक्त हैं, परन्तु वीर काव्योचित गरिमा उनमें नहीं हैं।

३. वृत्त का चयन किसी शास्त्रीय नियम के अनुसार, प्रयत्नपूर्वक नहीं किया जाता, काव्यवस्तु की प्रकृित ही स्वानुरूप छन्द का चयन करा लेती है।

महाकाव्य के भेद—महाकाव्य के भी उतने ही प्रकार होने चाहिए जितने त्रासदी के अर्थात् सरल, जटिल, नैतिक, करुण आदि। जैसा कि त्रासदी विवरण में देखा है कि यह विभाजन दोषपूर्ण है। अरस्तू को स्वयं इसका ज्ञान था—इसीलिए उन्होंने होमर के महाकाव्यों को त्रिविधरूप माना है। 'इलियड सरल भी है, और करुण भी। ओड़ेसी जटिल भी है और नैतिक भी।'

(क्योंकि अभिज्ञान दृश्य बराबर आते रहते हैं।

महाकाव्य का प्रयोजन और प्रभाव—१. महाकाव्य का प्रयोजन त्रासदी के प्रयोजन से और इस दृष्टि से काव्य मात्र के प्रयोजन से मूलतः भिन्न नहीं है अतः मानव मन का विरेचन या परिशुद्धि हो उसका मूल प्रयोजन है। किन्तु महाकाव्य की विरेचन प्रक्रिया त्रासदी की अपेक्षा मन्थर और उसी मात्रा में कम सफल होती है।

२. महाकाव्य का प्रभाव भी अन्ततः मनः,शान्ति के रूप में ही होता है, परन्तु उसके परिपाक की प्रक्रिया में तीव्रता अपेक्षाकृत कम और गरिमा तथा विस्मय का तत्व अधिक रहता है।

त्रासदी और महाकाव्य की तुलना:—त्रासदी और महाकाव्य दोनों काव्य कला का उत्कृष्ठ रूप है। अरस्तू ने बड़े मनोयोग से दोनों के साम्य, वैषम्य तथा तारतम्य का विवेचन किया है।

साम्य—१. दोनों काव्यानुकरण के श्रेष्ठ रूप हैं—दोनों की आत्मा प्रायः समान है।

२. दोनों का प्रयोजन तथा प्रभाव भी समान है—अर्थात विरेचन द्वारा मानव मन का परिष्कार दोनों का प्रयोजन है और तज्जन्य मनः शान्ति दोनों का प्रभाव है।

३. गीत तथा दृश्य-विधान के अतिरिक्त दोनों के अंग प्रायः समान हैं। दोनों के कथानक प्रख्यात और यथार्थ जीवन की अपेक्षा अधिक उदात्त, दोनों के पात्र सामान्य से उच्चतर कोटि के होते हैं, दोनों में विचार गरिमा होती है और पदावली भी दोनों की कलात्मक होती है।

वैषम्य:—१. स्पष्ट भेद शैली का है—त्रासदी की रचना नाट्य शैली, तथा महाकाव्य की रचना समाख्यान शैली में होती है। अतः त्रासदी में गीत और दृश्य विधान—ये दो अतिरिक्त तत्व होते हैं।

२. त्रासदी में द्विमात्रिक वृत्त तथा अन्य कई छन्दों का प्रयोग होता है। किन्तु महाकाव्य में केवल एक षठपद वीरवृत्त का ही निरन्तर प्रयोग होता है।

३. भेद है आकार का। त्रासदी की अपेक्षा महाकाव्य में सीमा विस्तार करने की कहीं अधिक क्षमता होती है। "त्रासदी को यथासम्भव सूर्य को एक परिक्रमा (एक दिन) या इससे कुछ अधिक समय तक सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है; परन्तु महाकाव्य के कार्य—व्यापार में काल को सीमा का कोई बन्धन नहीं रहता।

तारतम्य :—अरस्तू ने कई स्थान पर त्रासदी और महाकाव्य के कलात्मक तारतम्य का विवेचन किया है। यद्यपि महाकाव्य के महत्व की उपेक्षा नहीं की है तथापि उनका निर्णय त्रासदी के पक्ष में ही है।

महाकाव्य की विशेषता:—महाकाव्य की प्रक्षम में तीन बाते हैं १. विस्तार, २. वैविध्य ३. और प्रभाव गरिमा ।

विस्तार—देशकाल के बन्धन से मुक्त होने के कारण महाकाव्य की परिधि में जीवन का अपार विस्तार समा जाता है–यह विस्तार अपने आप में एक महान उपलब्धि है ।

वैविध्य—इसी प्रकार वैविध्य के लिए महाकाव्य में कहीं अधिक अवकाश है त्रासदी में घटना ऐक्य का इतनी कठोरता के साथ पालन किया जाता है कि विविधता के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं है । पर महाकाव्य के विस्तार में उपाख्यानों की विविधता और विचित्रता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है ।

प्रभाव गरिमा:—विस्तार और वैविध्य के फलस्वरूप महाकाव्य को एक प्रकार की प्रभाव गरिमा प्राप्त हो जाती है .जो त्रासदी में, कम से कम इस रूप में उपलब्ध नहीं होती ।

त्रासदी की श्रेष्ठता:—१.उसमें महाकाव्य के सभी तत्व विद्यमान रहते हैं– उसके छन्द तक का प्रयोग त्रासदी में हो सकता है ।

२. उधर संगीत और रंग-प्रभाव उसके अपने अतिरिक्त महत्वपूर्ण सहायक तत्व है जिनसे सर्वाधिक प्रत्यक्ष आनन्द की सृष्टि होती है।

३. पाठ और अभिनय दोनों में ही उसका प्रभाव बड़ा विशद होता है ।

४. महाकाव्य की अपेक्षा त्रासदी की अन्विति अधिक दृढ़ होती है, क्योंकि विस्तार में अन्विति की कुछ न कुछ हानि अवश्यम्भावी है ।

५. महाकाव्य के विस्तृत काल पट पर बिखरे हुए तरल प्रभाव की अपेक्षा त्रासदी का सुसंहित सघन प्रभाव अधिक आह्लादकारी होता है ।

६. महाकाव्य की अपेक्षा त्रासदी कला के रूप में अपने लक्ष्य की पूर्ति—अर्थात् विशिष्ट कलागत आनन्द की सृष्टि-अधिक सफलता से करती है; अतः महाकाव्य की अपेक्षा त्रासदी उत्कृष्ट कला है ।

विवेचन—त्रासदी तथा महाकाव्य में कौन श्रेष्ठ है विद्वानों में मतभेद है । यद्यपि त्रासदी के समर्थको की संख्या ही अधिक रही, फिर भी पुर्नजागरण काल में त्रासदी के प्रत्यक्ष प्रभाव की अपेक्षा महाकाव्य के उदात्त प्रभाव को अधिक महत्व दिया गया है । इधर वर्तमान आलोचकों में डा० रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान के प्रकाश में त्रासदी की श्रेष्ठता सिद्ध की है । उनके अनुसार—कला की सिद्धि है अर्न्तवृत्तियों का सामंजस्य । जो कला रूप हमारी अर्न्तवृत्तियों में जितना अधिक सामंजस्य स्थापित करता है, उतना ही अधिक वह मूल्यवान है । इस कसौटी पर त्रासदी सबसे खरी

उतरती है । क्योंकि वह सर्वदा विपरीत अन्तर्वृत्तीय को करुणा को जो आकर्षित करती है और त्रास को जो विकर्षित करती है—समज्जित करती है । यह समञ्जन सबसे अधिक दुष्कर, और सिद्ध होने पर सबसे अधिक पूर्ण एवं मूल्यवान होता है; अतः त्रासदी काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप है ।

'काव्येषु नाटक रम्यम्' की ध्वनि भारतीय काव्यशास्त्र में निरन्तर गूंजती रही । भारतीय काव्यशास्त्र में आरम्भ से ही नाटक के प्रति पक्षपात व्यक्त किया गया । डा० नगेन्द्र के अनुसार भारत में काव्य की आत्मा रस मानी गई है, और रस का मूल सम्बन्ध नाटक से ही रहा है, क्योंकि विभाव, अनुभाव की जितनी प्रत्यक्ष प्रस्तुति नाटक में सम्भव है उतनी काव्य में नहीं हो सकती । अतः रस के सम्बन्ध से नाटक की श्रेष्ठता भारत में अन्त तक अक्षुण्ण रही ।

सामान्यतः विद्वानों की धारणा है कि भारतीय काव्य में त्रासदी का अभाव है । क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र में त्रासद तत्व की वर्जना है । यह धारणा प्रायः शुद्ध तो है—किन्तु संस्कृत काव्य में कतिपय नाटक ऐसे उपलब्ध हो जाते हैं जिसमें त्रासद तत्व निश्चय ही वर्तमान है । भास के नाटकों में 'प्रतिमा' में दशरथ की और 'उरुभंग' में दुर्योधन की मृत्यु सूक्ष्म रूप में नहीं वरन् दृश्य रूप में प्रस्तुत की गई है । अरस्तू ने भी शोकान्त को अनिवार्य नहीं माना था—त्रासदी का प्राणत्व त्रासद करुणा प्रभाव ही माना था ।

विरेचन का सिद्धान्त—विरेचन का सिद्धान्त का उल्लेख अरस्तू के दो ग्रन्थों में मिलता है—'राजनीति' में और काव्यशास्त्र में । राजनीति में संगीत के प्रभाव का वर्णन करते हुए उसके तीव्र उद्देश्यों का वर्णन किया है । पहला शिक्षा के लिए, दूसरा विवेचन के लिए तथा तीसरा बौद्धिक आनन्द के लिए । और यहाँ पर विरेचन के उल्लेख में अरस्तू ने लिखा है कि इसकी व्याख्या वे काव्य के विवेचन के प्रसंग में करेंगे । विद्वानों का मत है कि जिस प्रसंग की ओर उन्होने संकेत किया है वह कदाचित खंडित है उपलब्ध संस्करणों में केवल एक वाक्य है—'अस्तु त्रासदी किसी गम्भीर स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य को अनुकृति का नाम है······जिसमें, करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है ।'

विरेचन का अर्थ—मूलतः यह शब्द चिकित्साशास्त्र का अर्थ है, जिसका औषधि के द्वारा शारीरिक विकारों–प्रायः उदर के विकारों–की शुद्धि । उदर के बाह्य अथवा अनावश्यक पदार्थ का अन्तर्भाव हो जाने से जब आन्तरिक व्यवस्था गड़बड़ हो जाती थी, तब यूनानी चिकित्सक रेचक औषधि देकर उस बाह्य पदार्थ को निकाल कर

रोगी का उपचार करते थे। अरस्तू स्वयं वैद्य के पुत्र थे और इस प्रकार के उपचार आदि का उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव था। अतः -हो सकता है यह शब्द वहीं से ग्रहण कर उन्होंने इसका लाक्षणिक प्रयोग किया है। लक्षण के आधार पर परवर्ती व्याख्याकारों ने इसके प्रायः तीन अर्थ किए हैं।

१. धर्मपरक, २. नीतिपरक, ३. कलापरक।

१. धर्मपरक अर्थ की विशेष पृष्ठभूमि है। यूनान में भी नाटक का आरम्भ धार्मिक उत्सवों से ही हुआ था।

क—गिल्बर्ट मरे का कथन है कि यूनान में दिओन्युसस नामक देवता से सम्बद्ध उत्सव अपने आप में एक प्रकार के शुद्धि का प्रतीक था। विगत वर्ष के कलुष, और विष, तथा पाप और मृत्यु के दुःसंसर्गों से शुद्धि का प्रतीक।

ख—लिपि के अनुसार ३६१ ई० पू० में अरस्तू के जीवन-काल में ही—यूनानी त्रासदी का रोम में प्रवेश कलात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं, वरन् एक प्रकार के धार्मिक अन्धविश्वास के रूप में, किसी महामारी के निवारण के लिए हुआ था।

इन दो तथ्यों के आधार पर विरेचन का अर्थ हुआ—बाह्य उत्तेजना और अन्त में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि और शांति।

२. नीतिपरक—बारनेज नामक जर्मन विद्वान ने विरेचन का नीतिपरक अर्थ प्रस्तुत किया था। मानव मन अनेक मनोविकारों से आक्रान्त रहता है जिनमें करुणा (शोक) और भय ये दो मनोवेग मूलतः दुखद हैं त्रासदी रङ्गमञ्च पर अवास्तविक परिस्थितियों के द्वारा इन्हें अतिरञ्जित रूप में प्रस्तुत कर कृत्रिम अतः निर्दोष उपायों से प्रेक्षक के मन में वासना रूप से स्थित इन मनोवेगों के देश का निराकरण और उसके फलस्वरूप मानसिक सामंजस्य का स्थापन करती है, अतएव विरेचन का नीतिपरक अर्थ हुआ विकारों की उत्तेजना द्वारा सम्पन्न अन्तर्वृत्तियों का समज्जन अथवा मन की शांति एवं परिष्कृति—मनोविकारों के उत्तेजन के उपरान्त उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक विशदता।

३. कलापरक के अर्थ के संकेत गेटे तथा अँग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी कवि-आलोचकों में मिलते हैं। बाद में अरस्तू के प्रसिद्ध व्याख्याकार प्रो० बुचर ने इस अर्थ का अत्यन्त आग्रह के साथ प्रकाशन किया है—"किन्तु इस शब्द का, जिस रूप में कि अरस्तू ने इसे अपनी कला की शब्दावली में ग्रहण किया है, और भी अधिक अर्थ है। यह केवल मनोविज्ञान अथवा निदानशास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर एक कला-सिद्धान्त का अभिव्यजक है……इस प्रकार त्रासदी का कर्तव्य कर्म केवल

करुणा या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नहीं है, किन्तु इन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना है, इनको कला के माध्यम में ढालकर परिष्कृत तथा स्पष्ट करना है।"

प्रो० बुचर का आशय सर्वथा स्पष्ट है; उनके अनुसार विरेचन का केवल चिकित्सा शास्त्रीय अर्थ करना अरस्तू के अभिप्राय को सीमित कर देना है।

निष्कर्ष:—वास्तव में कैथार्सिस (विरेचन) शब्द का प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण करना चाहिए। विरेचन सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय अरस्तू का ध्यान समाज कल्याण की ओर ही था। यह तो सर्वमान्य है कि अन्य भावों के अतिरिक्त मनुष्य के हृदय में भय और करुणा के भाव भी होते हैं और साथ ही वे सुखद भी नहीं होते। वे मनुष्य का जीवन विचलित करने की काफी शक्ति रखते हैं। अभिनय देखने आए हुए व्यक्तियों में उस समय में भाव उत्तेजित भी नहीं रहते। जीवन की संकटापन्न एवं दुःखपूर्ण परिस्थितियों का चित्रण कर ट्रेजेडी उनमें ये भाव उत्पन्न करती है और होम्योपैथी प्रणाली की भाँति हृदय में उनके विकारों का शमन कर, उनकी कुरूपता दूर कर मनुष्य का जीवन निरापद, विभिषिकाहीन, शांत, गम्भीर और संतुलित बनाती है। भारतीय जीवन से एक उदाहरण ग्रहण करते हुए कहा जा सकता है कि जिस प्रकार आग पर पक रही दाल में उफान आने से उसकी गन्दगी निकल जाती है, वह शुद्ध हो जाती है, उसी प्रकार ट्रेजेडी मनुष्य के हृदय में भय और करुणा नामक भावों का उफान पैदा कर विकार दूर करती और चित्त का परिमार्जन करती है।[1] ये भाव वास्तविक जीवन में व्यावहारिक रूप धारण कर लें तो उनके घातक परिणाम का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

रंगशाला में ट्रेजेडी का अभिनय देखते समय न भावों का उदय व्यवहारिक रूप धारण नहीं करता। उनसे थोड़ी देर के लिए मन आन्दोलित अवश्य हो उठता है, किन्तु रंगशाला से बाहर आने के समय तक ये भाव शान्त हो लेते हैं और मनुष्य में फिर इन भावों का 'उपभोग' करने की इच्छा उत्पन्न नहीं होती।

विरेचन सिद्धान्त और आनन्द:—अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त अपने ढंग से त्रासदी के आस्वाद की समस्या का समाधान करता है। त्रास तथा करुणा दोनों ही कटुभाव हैं। मानसिक विरेचन की प्रकिया द्वारा यह कटुता अथवा देश नष्ट हो जाता है और प्रेक्षक एक प्रकार की मनः शान्ति का उपभोग करता है। विरेचन के द्वारा उत्तेजना समाहित हो जाती है और मन सर्वथा विशद हो जाता है। यह मनः स्थिति

१. पश्चिमी आलोचनाशास्त्र—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।

कटु विकारों से मुक्त होने के कारण निश्चय ही सुखद होतो है–पीड़ा या कटुता का अभाव भी अपने आप में सुख है।

प्रो० बुचर ने 'दुख में सुख' को इस समस्या के समाधान में अरस्तू के विरेचन के आधार पर दो और प्रमुख कारण दिये हैं। त्रास और करुणा प्रत्यक्ष जीवन में दुःखद अनुभूतियाँ हैं, परन्तु त्रासदी में वे वैयक्तिक देश से मुक्त, साधारणीकृत रूप में उपस्थित होती हैं। 'स्व' की भौतिक सीमा में बद्ध वे कटु अनुभूतियाँ हैं, परन्तु 'स्व' की क्षुद्रता से मुक्त होकर उनकी कटुता नष्ट हो जाती है। 'स्व' का यह विस्तार अथवा उन्नयन एक उदात्त और सुखद अनुभूति है। दूसरा कारण है कलात्मक प्रक्रिया कला की प्रक्रिया का आधारभूत सिद्धान्त है समजन-अव्यवस्था में व्यवस्था की स्थापना ही अरूप को रूप देना है। यही कलात्मक सृजन है जो सुखद है। इस प्रक्रिया में पड़कर त्रास और करुणा का देश नष्ट हो जाता है, दुःख सुख में परिणित हो जाता है।

उपर्युक्त दोनों कारण विरेचन-प्रक्रिया से समृद्ध होते हुए भी उसके अन्तर्भूत है। विरेचन में न तो 'स्व' का उन्नयन अन्तर्भूत है और न कला का आनन्द। परन्तु यह विरेचन सिद्धान्त का अँग नहीं है, अतएव विवेचन सिद्धान्त में सुख का केवल अभावात्मक रूप प्रतिपादित है—मनःशांति, विशदता या राहत से आगे वह नहीं जाता। यह अनुभव भी निश्चय ही सुखद है। परन्तु यह सुख ऋणात्मक है, धनात्मक नहीं है—भारतीय दर्शन के अनुसार आनन्द की भूमिका है, आनन्द नहीं है।

विरेचन का मनोवैज्ञानिक आधारः—त्रासदी से प्रेक्षक की केवल कवि तथा नट की कला का चमत्कार ही प्राप्त होता है, उस पर रागात्मक प्रभाव नहीं पड़ता यह मानना त्रासदी के महत्व का घोर अवमूल्यन करना है। त्रासदी का चमत्कार तो मूलतः रागात्मक ही होता है अन्यथा वह काव्य न होकर शिल्प मात्र रह जाता है।[१]

वास्तव में विरेचन सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक आधार सर्वथा पुष्ट है। पहले तो मनोविज्ञान ही इस प्रक्रिया को आरम्भ से स्वीकार करता आया है और अब मनोविश्लेषण-शास्त्र ने तो इसे अपने आधारभूत सिद्धान्तों में ग्रहण कर लिया है। मनोविश्लेषण भावनाओं की अतृप्ति या दमन को मानसिक रोगों का प्रमुख कारण मानता है–अतः उनका उपचार वह भावों की उचित अभिव्यक्ति और परितोष द्वारा ही करता है। प्रायः सभी भाव, जो मूलतः प्रवृत्तियों पर आश्रित रहते हैं, अवचेतन मन में स्थित रहते हैं। जीवन में उनको यदि उचित अभिव्यक्ति तथा परितोष न मिले तो उससे अनेक प्रकार के रोग और ग्रंथियाँ उत्पन्न ही जाती हैं, अतः मन को स्वस्थ रखने के

१. वही।

लिए यह अनिवार्य है कि चेतन अनुभव का विषय बनाकर उनको तृप्त किया जाये। इस प्रकार मन की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, घुमड़न दूर हो जाती हैं और चित विशद हो जाता है। मनोविश्लेषण-शास्त्र की उन्मुक्त विचार-पद्धति का आधार यही है। फ्रायड आदि ने अनेक स्थलों पर अरस्तू के वाक्यों से समर्थन प्राप्त किया है।

प्लेटो तथा अरस्तू में मौलिक अन्तर यह था कि प्लेटो स्वयं कलाकार होते हुए कला के प्रति उचित न्याय न कर सका, और अरस्तू शायद इसलिए कला का उचित मूल्यांकन न कर सका क्योंकि वह कलाकार नहीं था, केवल दार्शनिक होने के कारण उसकी रचनाओं में वैज्ञानिकता और कलात्मकता मिलती है। इसी कारण वह कला के अलग अस्तित्व को समझ सका। जब कि प्लेटो कला तथा दर्शन को अलग-अलग न रख सका। प्लेटो ने अनुकरण से मतलब नकल और वह भी झूठ की नकल से लगाया था। अतः उनकी दृष्टि में कवि नक्काल था। इसके विपरीत अरस्तू ने अनुकरण का अर्थ पुनःनिर्माण से लगाया था। उनके अनुसार काव्य अनुकरण नहीं, अपितु नवीन सृष्टि है। वह सत्य से दूर नहीं है, वरन् उसमें इतिहास से अधिक व्यापक तथा सार्वभौम सत्य निहित रहता है। प्लेटो ने काव्य प्रेरणा को दैवी बतलाया था। पर अरस्तू ने काव्य-सृजन को किसी दैवी-प्रेरणा का परिणाम न मानकर मानव-मन की दो प्रवृत्तियों—अनुकरण तथा सामंजस्य को कवि-कर्म के लिए उत्तरदायी ठहराया। ये दोनों प्रवृत्तियाँ मानव के अधीन हैं, जिनका उचित विकास सम्भव है। काव्य के सम्बन्ध में प्लेटो की धारणा थी कि काव्य हमारी भावनाओं को उद्वेलित करती है, जब कि अरस्तू ने यह स्थापित किया कि काव्य या कला वासनाओं का संपोषण न करके उनका विवेचन करना है। अतः प्लेटो ने काव्य के सम्बन्ध में जो आरोप लगाए थे उसका वैज्ञानिक एवं तार्किक दृष्टि से आज अरस्तू ने स्वयं खंडन किया।

अरस्तू का पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। ये पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। उनका 'काव्यशास्त्र' शास्त्रीय दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण है। उनके अनुगम-शैली के आधार पर ही ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात हुआ। उनका विवेचन का सिद्धान्त उस मनोवैज्ञानिक सत्य की ओर संकेत करता है, जिसकी पूरी खोज आधुनिक युग में मनोविश्लेषण-शास्त्र ने किया। उनका काव्यालोचन सिद्धान्त पारिभाषिक जटिलताओं से मुक्त है। अरस्तू के पाश्चात्य काव्यशास्त्र में वैसा ही गौरवपूर्ण स्थान है, जैसा कि भारतीय काव्यशास्त्र में भरत का है। अरस्तू ने भी भरत के समान कवि को सृष्टा के पद पर आसीन किया।

अध्याय | ५

बेनेदेतो क्रोचे

आधुनिक युग के प्रसिद्ध दार्शनिक क्रोचे का जन्म सन् १८६६ में हुआ था। वे इटली के शिक्षा-मन्त्री भी थे। वे मूलतः सौन्दर्यशास्त्री थे। सन् १९०२ में उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'एस्थेटिक' प्रकाशित हुआ। उनकी धारणा थी कि समीक्षा सौन्दर्यशास्त्र का ही एक अङ्ग है। यह एक व्यावहारिक सौन्दर्यशास्त्र है, क्योंकि इसमें सौन्दर्यशास्त्र के सिद्धान्तों को दार्शनिक अनुशासन के रूप में अधिक प्रश्रय दिया जाता है। अतः साहित्य तथा समीक्षा के लिए सौन्दर्यशास्त्र के पास एक ठोस भूमिका है। क्रोचे ने इसीलिए आलोचना को सौन्दर्यशास्त्र में मिला लिया।

सहज ज्ञान—उनके अनुसार आत्मा या परमशक्ति के अभिव्यक्ति के मूल में दो शक्तियाँ मूल रूप से क्रियाशील रहती हैं। एक विचारात्मक शक्ति (थियोरिटीकल एक्टीविटी) दूसरी व्यवहारात्मक शक्ति (प्रेटिकल एक्टीविटी) व्यवहारात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र में होती है। अतः कला की दृष्टि से इसका महत्व नहीं है। विचारात्मक ज्ञान-शक्ति दो प्रकार की होती है। पहला सहजज्ञान तथा दूसरा तर्कज्ञान। सहजज्ञान (इन्ट्यूशन) में किसी वस्तु या व्यक्ति के पूर्ण रूप का ज्ञान रहता है। यह सहजज्ञान विशेष व्यक्तियों अथवा वस्तुओं का ही ज्ञान है। यह ज्ञान कल्पना के सहारे प्राप्त किया जाता है। अतः हमें 'यह कुर्सी', 'यह मेज' का बोध होता है। यह बोध हमें बिम्बों (Images) के रूप में मिलता है। क्रोचे कला को इसी ज्ञान के अन्तर्गत समाहित करता है। उसकी धारणा है कि सहज ज्ञान की आभ्यान्तरिक अभिव्यक्ति ही कला है। कला सहजानुभूति है। इसके विपरीत तर्क ज्ञान सामान्य अथवा जाति का बोधक होता है, विशेष का नहीं। तर्क से हमें विशेष व्यक्तियों तथा वस्तुओं के बीच का सम्बन्ध विदित होता है। इसे प्राप्त करने में मूल रूप से बुद्धि का ही हाथ रहता है। इससे 'अच्छाई', 'बुराई' 'न्याय' आदि का बोध होता है। ये वस्तुएँ यद्यपि विशेष वस्तुओं से संलग्न हैं, पर इन्हें विशेष नहीं कहा जा सकता। तर्क विज्ञान का ज्ञान इसी के अन्तर्गत आता है।

सहजज्ञान या सहजानुभूत ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से स्वतन्त्र है। क्रोचे की धारणा है कि 'उसे किसी का सहारा नहीं चाहिए, उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह

दूसरे की आँख उधार ले, कारण उसकी आँखें स्वयं काफी तेज हैं।' सहजानुभूति ज्ञान में अवधारणाओं का समिश्रण आवश्यक नहीं है। और जो अवधारणाएँ सहजानुभूतियों में घुल मिल जाती हैं वे फिर अवधारणाएँ नहीं रहतीं। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वे सहजानुभूति के साधारण तत्व मात्र रहते हैं। जैसे किसी छवि-चित्र में एक व्यक्ति का मुख लाल रंग से रँगा हुआ है। यहाँ पर लाल रंग भौतिकशास्त्र वेत्ताओं के रंग को सूचित नहीं करता, वह तो छवि-चित्र का तत्व मात्र है।[1]

सहजानुभूति प्रत्यक्षीकरण से भी भिन्न है। यद्यपि यह सत्य है कि सहजानुभूति में प्रत्यक्षीकरण का योगदान रहता है। जैसे कमरे में मैं लिख रहा हूँ, वस्तुओं का स्पर्श कर रहा हूँ, आदि सहजानुभूति है। पर इसका मूल आधार प्रत्यक्षीकरण के यहाँ सहजानुभूति हो ही नहीं सकती। पर इस समय मेरे मन में जो बातें घूम रही हैं 'कि मैं दूसरे नगर में हूँ' आदि, इसे हम क्या कहेंगे? यह सहजानुभूति तो है, पर प्रत्यक्षीकरण नहीं। अतः निष्कर्ष निकला कि 'सहजानुभूति यथार्थ के प्रत्यक्षीकरण एवं सम्भाव्य की सरल प्रतिमा के प्रत्यक्षीकरण की अभिन्न एकता है।[2]

क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति का सम्बन्ध स्थान और काल से होता है। पर बहुत सी ऐसी सहजानुभूतियाँ हैं जो स्थान और काल से परे हैं। जैसे आकाश का वर्ण, भावना का रंग, दर्द की आवाज आदि। ऐसी सहजानुभूतियों में स्थान और काल का कोई योगदान नहीं रहता। क्रोचे लिखता है......'कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जो किसी रेखा-चित्र अथवा दृश्य को देखते समय स्थान के सम्बन्ध में सोच सकता है? कहानी या संगीत सुनते समय कौन ऐसा व्यक्ति है जो समय की कोटि का ध्यान रखता है।' इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि कलाकृति में सहजानुभूति जो कुछ प्रकाशित करती है, वह स्थान और काल नहीं वरन् चरित्र और वैयक्तिक रूपाकृति है।

सहजानुभूति और अभिव्यक्तिः—क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति उस अंश तक सहजानुभूति होती है जिस अंश तक वह उसे अभिव्यक्ति करती है। इससे जो विरोधाभास दिखता है वह यथार्थ नहीं वरन् मिथ्या है। इस विरोधाभास का कारण यह गलत धारणा है कि अभिव्यंजना केवल शाब्दिक होती है। पर ऐसी बात नहीं है। अभिव्यंजनाएँ अशाब्दिक भी होती हैं, जैसे रेखा, रंग और ध्वनि की अभिव्यंजनाएँ। इस प्रकार अभिव्यंजना का विस्तार व्यापक है। व्यक्ति का प्रकाशन चित्र,

१. पाश्चात्य काव्य—शास्त्र की परम्परा—डॉ० नगेन्द्र।
२. वही।

शब्द, संगीत या अन्य रूप में सहजानुभूति अभिव्यंजना का कोई न कोई रूप खोज लेती है। अतः अभिव्यंजना अभिव्यक्ति का अभिन्न अंग है। क्रोचे लिखता है कि 'रेखागणित की एक आकृति की सहजानुभूति वस्तुतः कैसे हो सकती है, जब तक कि हमारे अन्दर उसकी एक ऐसी सही प्रतिमा न हो जिसे हम शीघ्र ही कागज पर अंकित न कर सकें।' यह आन्तरिक प्रकाश रूपाकार की क्रिया से सम्बद्ध है। भाव शब्दों के द्वारा आत्मा के अज्ञात प्रदेश से चिन्तन के स्पष्ट स्तर पर उतर जाते हैं।[1] ज्ञान को इस प्रक्रिया में सहजानुभूति को अभिव्यंजना से अलग नहीं किया जा सकता। एक के उत्पन्न होते ही, उसी क्षण दूसरा भी उत्पन्न हो जाता है। वे दो नहीं हैं। वस्तुतः सहानुभूति और अभिव्यक्ति दोनों एक ही हैं। क्रोचे का विचार है कि यदि विचारों या अनुभूतियों की सफल अभिव्यक्ति नहीं होती तो उसे सफल सहज अनुभूति नहीं कह सकते। चेतना रचना-प्रक्रिया में सहजानुभूति कर लेती है।

यह कहना कि हमारी अनुभूतियाँ अधिक हैं किन्तु हम उन्हें पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति नहीं दे पा रहे हैं, भ्रामक बात है। यह असम्भव है कि व्यक्ति के मन में विचार स्पष्ट हों और वह उन्हें अभिव्यक्त न कर पा रहा हो। क्रोचे की मान्यता है कि शिल्प की बारीकी या कुशलता हमारी अभिव्यक्ति में किसी तरह भी सहायक नहीं होती। राफेल ने मेडोना की अभिव्यक्ति अभिव्यंजना के बल पर की है, शिल्प के बल पर नहीं। कामा, कोलन, से लेकर महाकाव्य तक अभिव्यंजना ही है। पूरे काव्य तथा कला में आदि से अन्त तक अभिव्यंजना की ही प्रधानता रहती है। वास्तव में एक आह में पूरा काव्य अभिव्यक्ति पा लेता है। क्रोचे ने माइकेल ऐन्जलो को उद्धृत करते हुए अपने मन की पुष्टि की है। माइकेल ऐन्जलो ने कहा था कि 'कलाकार हाथ से नहीं, मस्तिष्क से चित्र खींचता है'। 'चित्रण हाथ से नहीं मन से किया जाता है'।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सहजानुभूति ज्ञान ही अभिव्यंजना है। अनुभूति ही अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति कहने के अलावा उसे और कुछ नहीं कह सकते। इस प्रकार क्रोचे के अनुसार दोनों एक हैं।

कला:—कला के सम्बन्ध में क्रोचे स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि कला सहजानुभूति है। कलाकार एक बिम्ब को अभिव्यक्त करता है।

कला के सम्बन्ध में क्रोचे का मत है कि कला भौतिक तथ्य नहीं है। यह कहना कि कला भौतिक सत्य है, सिर्फ इस बात को दुहराता है कि भौतिक-विज्ञान कला का विश्लेषणता नहीं कर सकता। विज्ञान की विधि अपनाने पर हमारी सद्वपयता पर आघात लगता है। जैसे हम जब किसी कविता की मात्रा, शब्द आदि की गणना करने लगते

१. वही।

हैं तब हम वास्तविक काव्य के रस को खो बैठते हैं। किसी मूर्ति का मूल्यांकन सहजानुभूति के माध्यम से न करके, जब हम उसके भार तथा वजन आदि से करने लगते हैं तब उसके कलात्मक बोध की हत्या कर देते हैं। अतः कला भौतिक विज्ञान की सीमा के बाहर है।

कला को उपयोगिता का सिद्धान्त भी नहीं कहा जा सकता। उपयोगिता के नियम से संचालित होने वाले कार्य का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है। उसमें मूल रूप से किसी दुःख से दूर हटने तथा सुख को प्राप्त करने की प्रवृति बनी रहती है। पर कला में ऐसी स्थिति नहीं रहती। यदि यह कहा जाय कि कला भी आनन्ददायक होती है, इसलिए वह उपयोगी है; तो ठीक न होगा। कला आनन्द देती है, पर उसका आनन्द उपयोगितामूलक क्रियाओं के आनन्द से भिन्न रहता है। कला का आनन्द विशिष्ट तथा अन्य आनन्दों से भिन्न होता है।

कला नीतिशास्त्र से भी भिन्न है। नैतिक सिद्धान्तों को कला पर नहीं लागू किया जा सकता। कोई कलाकार एक नैतिक या अनैतिक चरित्र का सृजन कर सकता है, पर उसकी रचना-प्रक्रिया नैतिक निर्णय की वस्तु नहीं हो सकती।

क्रोचे के अनुसार कला तार्किक ज्ञान से भी भिन्न है। यदि कला सहजानुभूति है तो निश्चित रूप से वह तार्किक ज्ञान से प्रथक होगा। इस अन्तर को क्रोचे स्पष्ट रूप से स्वीकारते हैं। तार्किक ज्ञान हमेशा सत्य और असत्य के स्वरूप को निश्चित करता है। इस प्रकार तार्किक ज्ञान का दृष्टिकोण हमेशा यथार्थवादी होता है। अतः तर्क ज्ञान का सम्बन्ध कला से है, दर्शन से नहीं है। सहजानुभूतिमूलक चेतना, तर्कमूलक चेतना से भिन्न है। पहली स्वप्नावस्था में रहती है, तो दूसरी जाग्रत अवस्था में रहती है। पहली अवस्था से कलाकार जन्म पाता है, तथा दूसरी अवस्था से दार्शनिक जन्मता है। स्वप्न टूटने पर ही, दर्शन आरम्भ होता है।

इस प्रकार कला के सम्बन्ध में क्रोचे की पहली स्थापना है कि कला सहजानुभूति है। दूसरे, कला एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। वह लिखता है **'The Intution becomes art when the spirit persists in it'** वह अभिव्यंजना को भी आंतरिक क्रिया मानता है। कलाकार सच्चे अर्थों में कलाकार अपने प्रेरणा के क्षणों में रहता है। इस स्थिति में वह विषय के साथ मिल जुल जाता है। वह अपने को गरिमामंडित अनुभव करता है [१] पर इसके बाद जब वह कला कृति की रचना करता है तब सच्चे अर्थों में कलाकार नहीं कहलाएगा। तीसरे कला की वाह्य अभिव्यक्ति जैसे चित्र, मूर्ति कविता आदि को क्रोचे कला मानने को तैयार नहीं है। उसके अनुसार ये स्मृति की

१. पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त—डॉ शान्तिस्वरूप गुप्त।

सहायक वस्तुएँ (aids of memory) हैं। इनकी सहायता से कलाकार अपनी सहजानुभूति को पुनः प्रस्तुत (reproduce) करता है। इन कलाकृतियों के कारण कला की सहजानुभूतियाँ नष्ट नहीं होतीं। उनको देखकर कलाकार पुनः उस मानसिक स्थिति को प्राप्त होता है जिससे उसके मन में सुन्दर सहजानुभूतियों का जन्म होता है। चौथे क्रोचे कला सृजन की पूरी प्रक्रिया को पाँच भागों में विभाजित करता है। (क) अरूप संवेदन। (ख) अरूप संवेदनों की आत्मा की शक्ति द्वारा आन्तरिक अन्विति। (ग) सफल अभिव्यंजना तथा आनंदानुभूति। (घ) आन्तरिक अभिव्यंजना का शब्द, रंग, रेखा आदि में मूर्तिकरण। क्रोचे इसे शिल्प-विधान कहते हैं। (ङ) इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप कलाकृति का निर्माण।

आलोचना—यह संक्षेप में क्रोचे का सिद्धान्त है। इस पर आलोचकों की सबसे पहले यह आपत्ति होती है कि वह बाह्य अभिव्यंजना को अनावश्यक मानकर कलाकार को ऐसी स्वच्छन्दता दे देता है जिससे अराजकता फैल सकती है। क्रोचे कहता है कि प्रत्येक वस्तु कलाकार के मस्तिष्क में घटित होती है, सौन्दर्य की अभिव्यंजना आन्तरिक है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है। कि यदि कला केवल कलाकार के मन में ही छिपी है, तो आलोचक उनका मूल्यांकन कैसे करेगा? एक तुच्छ तथा महान् कला में किस प्रकार अन्तर निर्देशित किया जायगा? अतः इससे कला के क्षेत्र में अराजकता बढ़ेगी। जो सच्चे कलाकार नहीं हैं, वे भी कलाकार होने का दम्भ करेंगे। वे कहेंगे कि उन्होंने मन में सहजानुभूति उपलब्धि की है। इस प्रकार यह समस्या भी बनी रहती है कि जब सहजानुभूति वैयक्तिक होती है और उसका पुनर्भाव नहीं हो सकता तो सहृदय उसका अनुभव कैसे करेगा? अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि क्रोचे अतिवादी थे। वे तो अभिव्यंजना को इतना असीम देते हैं कि उसके अभाव में प्रातिभ ज्ञान का अस्तित्व नहीं रहता, न प्रातिभज्ञान के अभाव में अभिव्यंजना का ही अस्तित्व रहता है।[1]

दूसरे, क्रोचे ने कला के बारे में तो बहुत लिखा, पर कलाकार के बारे में लिखना ही भूल गया। कलाकार का कार्य दूसरों तक अपने भावों को पहुँचाना है। अतः कला में प्रषणीयता का होना बहुत ही आवश्यक है। कलाकार दुनिया से कटकर नहीं जी सकता। क्रोचे ने कलाकार को कल्पना लोक में बन्द कर दिया है। कलाकार को वाह्य अभिव्यंजना की स्वतन्त्रता न देकर वास्तव में उसने उनके साथ अन्याय किया है।

तीसरे, क्रोचे ने अपने सिद्धान्त में जीवन के प्रति उपेक्षा प्रकट किया है। कला और जीवन का अटूट सम्बन्ध है। कलाकार को जीवन की वास्तविकता पर ही कला

---

१. पाश्चात्य साहित्य शास्त्र: सिद्धान्त और सम्प्रदाय—डॉ० कृष्णवल्लभ जोशी।

का निर्माण करना चाहिए, इस बात को वह भूल गया था। कलाकार जीवन की उपेक्षा नहीं कर सकता। कला अभिव्यंजना अवश्य है पर यह जीवन की अभिव्यंजना है। जीवन के उस रूप को कला अभिव्यक्ति करता है, जिसकी उसने स्वंय अनुभूति की हो। पर यह अभिव्यंजना ऐसी होनी चाहिए जिससे दूसरा कोई समझ सके। बिना प्रेषणीयता के कला का सब महत्व समाप्त हो जाता है।

क्रोचे और कुन्तक :—कुन्तक का सिद्धान्त भारतीय काव्य-शास्त्र में वक्रोक्ति वाद के नाम से प्रसिद्ध है। क्रोचे के मत को अभिव्यंजनावाद कहा जाता है। इन दोनों की समानता के सम्बन्ध में सबसे पहले आचार्य शुक्ल ने अपने इन्दौर के भाषण में उल्लेख किया था। उन्होंने यह स्थापित किया था कि 'अभिव्यंजनावाद भारतीय काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध वक्रोक्ति सिद्धान्त का ही विलायती उत्थान है' पर शुक्लजी का यह निर्णय बहुत सुविचारित नहीं है। क्रोचे तथा कुन्तक के सिद्धान्तों में समानता भी है और असमानता भी।

समानताः— १. दोनों ही अभिव्यंजना को काव्य का प्राण तत्व मानते हैं। क्रोचे की वक्र उक्ति दूसरे शब्दों में अभिव्यंजना ही है। इस दृष्टि से दोनों कलावादी आचार्य हैं।[1]

२. दोनों ने ही काव्य में कल्पना तत्व को प्रधानता प्रदान किया है। क्रोचे की सहजानुभूति निश्चित रूप से कल्पनात्मक क्रिया है। कुन्तक ने शब्द का प्रयोग नहीं किया है, पर उनकी 'वक्रता', 'कवि-व्यापार', 'वैदग्ध', आदि में कल्पना की व्यंजना मिलती है। डॉ० डे आदि का मत है कि वक्रोक्ति का आधार कल्पना ही है।[2]

३. दोनों ने ही अभिव्यंजना या उक्ति को मूलतः अखण्ड, अविभाज्य और अद्वितीय माना है।

४. दोनों ही सफल अभिव्यंजना में श्रेणियाँ नहीं मानते। कुन्तक ने स्पष्ट रूप से यह लिख दिया था कि उनमें मूलतः प्रकार का भेद है; सौंदर्य की मात्रा का भेद नहीं। उसी प्रकार क्रोचे ने भी यह स्थापित किया कि एक सफल अभिव्यंजना तथा दूसरी सफल अभिव्यंजना में सौन्दर्य की मात्रा का भेद नहीं है। दोनों अपने आप में पूर्ण हैं।

असमानताः—१. दोनों के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर है कि क्रोचे मूलतः दार्शनिक थे जिन्होंने समूचे अलंकारशास्त्र का निषेध किया था। इसके विपरीत कुन्तक मूलतः आलंकारिक थे, जिन्होंने लोकोत्तर-चमत्कार भरी वैचित्र्य की सिद्धि और उसके द्वारा काव्य की उत्पत्ति के लिए अलंकारशास्त्र की रचना की।

१. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका—डॉ० नगेन्द्र।
२. वही।

२. क्रोचे ने उक्ति में वक्रता और वार्ता का भेद नहीं माना है, जब कि कुन्तक ने वक्रता और वार्ता में स्पष्ट भेद माना है। कुन्तक ने चमत्कारपूर्ण उक्ति तथा चमत्कारहीन उक्ति में स्पष्ट भेद माना है।

३. क्रोचे के अनुसार काव्य की आत्मा सहजानुभूति है। कुन्तक के अनुसार काव्य की आत्मा कवि-व्यापार है। कवि-व्यापार में अभिव्यंजना तथा रचना प्रक्रिया दोनों ही आ जाते हैं। कुन्तक ने मूल तत्व अन्तःस्फुरण को ही माना, पर उनकी यह धारणा थी कि कवि, व्यापार-रचना के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। इसके विपरीत क्रोचे ने वाह्य-रचना की सत्ता तो स्वीकार किया है, पर उसे आनुषंगिक माना है। उसे काव्य का मूल अंग नहीं माना है। दोनों आचार्यों के दृष्टिकोण का यह मौलिक भेद है।[1]

४. क्रोचे के अनुसार अभिव्यंजना अपने आप ही में उद्देश्य है। आनन्द उसका सहचारी भाव है, उसे कला का उद्देश्य नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत कुन्तक आनन्द को सौन्दर्य की सिद्धि ही नहीं वरन् कारण भी मानते हैं। सौन्दर्य का निर्णायक धर्म उसका आह्लादकत्व ही है।

५. वस्तु तत्व के सम्बन्ध में भी दोनों में अन्तर है। क्रोचे के सिद्धान्त की अपेक्षा कुन्तक के सिद्धान्त में वस्तु-तत्व का महत्व अधिक मिलता है।

कुन्तक शुद्ध काव्यशास्त्री हैं, जबकि क्रोचे का सिद्धान्त अभिव्यंजना का दर्शन काव्यशास्त्र है भी नहीं। क्रोचे की महत्ता इसमें है कि उन्होंने अपने युग की थोथी बौद्धिकता को चुनौती दी। उनकी स्थापना थी कि काव्य मात्र बुद्धि का खेलवाड़ नहीं है, वह तो सहजानुभूति है।

———❀———

१. वही।

अध्याय | ६
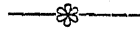
आइवर आर्मस्ट्राँग रिचर्ड्स

सन् १९३० ई० के लगभग अंग्रेजी विचारक आई० ए० रिचर्ड्स तथा उनके सहयोगियों ने जिस नवीन समीक्षा प्रणाली का आरम्भ किया उसका महत्व इंगलैण्ड, अमरीका तथा संसार के अन्य देशों में समान रूप से स्वीकार किया जाता है। उनके सहयोगियों में एम्पसन, लीविस प्रभृति गम्भीर विचारक तथा प्रवीण शिक्षक उल्लेखनीय हैं। टी० एस० इलियट से इस समुदाय का विचार की दृष्टि से समानता थी। अमेरिका में भी इसका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। रैनसम, वारेन, केनेथ, वर्क तथा नवीन आलोचना के अन्य प्रवर्तक रिचर्ड्स के अनुयायी हैं और उन्हीं का नवीन सुझाव लेकर अग्रसर हुए हैं। कविता के महत्व की स्थापना का प्रश्न पाश्चात्य समीक्षा में प्रबल रूप से समीक्षकों के अवधान का विषय बना रहा। सरफिलिप सिडनी, पर्सी बीसी शेली, मैथ्यू आर्नल्ड तथा रिचर्ड्स कॉर्डवेल—ये प्रमुख नाम हैं जो कविता के डिफेन्स के प्रयत्नों के इतिहास से सम्बद्ध हैं। कविता को असत्य तथा अनैतिक बनाने का प्लेटो का आरोप इंगलैण्ड में १६वीं सदी में पुनः दोहराया गया जब वहाँ के 'प्यूरिटन' लेखकों ने थियेटर पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इन्होंने इसके विरुद्ध प्रचार युद्ध छेड़ दिया। क्योंकि उनका विश्वास था कि नौजवानों का थियेटर पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है। इस प्रचार युद्ध में पादरी गॉ सौन के आक्षेपों में वह बल न था जिसमें कविता के सामने कोई खतरा पैदा हो जाय। पर विज्ञान की ओर से कविता पर भीषण सकट आया। विज्ञान के प्रभाववश कविता को जादू, भ्रम तथा मानसिक अस्वास्थ्य जैसे विशेषणों से सम्मानित किया गया। रिचर्ड्स ने गहराई से अनुभव किया कि कविता के महत्व को काव्यात्मक उद्गारों द्वारा प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। कविता के बचाव की नयी भूमिका तैयार की। कविता की प्रकृति के विश्लेषण के लिए एवं वैज्ञानिक प्रतिपादन से उसका अन्तर दिखाने के लिए उसने मनोविज्ञान की सहायता लीं।

डायकेस का कथन सही है कि जिस तरह कवियों पर प्लेटो द्वारा किए गये आरोपों का उत्तर शेली ने 'प्लातोनिज़्म' का उपयोग करके दिया ठीक, उसी तरह रिचर्ड्स ने विज्ञान द्वारा कविता को दी गई चुनौती का जवाब विज्ञान का उपयोग करते हुए दिया।

अपने पूर्ववर्ती आलोचना साहित्य के भ्रान्त मान्यताओं की रिचर्ड्स ने चर्चा की है। जिसे संक्षेप में यों रखा जा सकता है :

१. उनकी धारणा है कि यद्यपि काव्यालोचन का विपुल साहित्य उपलब्ध है। और महान् आलोचक प्रायः अपने युग के महान् विचारक भी रहे हैं तथापि आलोचना के मौलिक और प्राथमिक प्रश्नों के समीचीन एवं संतोषजनक उत्तर काव्यालोचन में अलभ्य है। रिचर्ड्स के अनुसार आलोचना सिद्धान्त के नाम पर अनुमान, उपदेश, कविता, वक्तृता, मतवाद, पूर्वग्रह, रहस्यात्मकता, अस्पष्टता तथा गर्भित संकेत की ही भरमार दिखाई पड़ती है।

२. आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र ने जीवन की अन्य अनुभूतियों से सौन्दर्यानुभूति के मूलतः भिन्न और विशिष्ट होने की जिस मान्यता का प्रचार किया है, वह मनःकल्पना मात्र है। रिचर्ड्स कला से प्राप्त अनुभूतियों को वस्त्र पहनने से प्राप्त होने वाली अनुभूति से सर्वथा भिन्न नहीं मानते। कलात्मक अनुभूति जिस ढंग से हमें प्राप्त होती है वह अवश्य भिन्न है और नियमतः कलागत अनुभूति अधिक संकुल और एकीकृत होती है। किन्तु हमारी कलानुभूति की क्रिया मूलतः भिन्न प्रकार की नहीं होती। यदि मूलतः भिन्न मानें तो उसके वर्णन और व्याख्या में कठिनाई हो जाएगी।

३. आलोचना साहित्य के तीसरे बड़े अभाव की रिचर्ड्स ने 'प्रिंसिपुल्स' के तीसरे अध्याय में चर्चा की है। उनके अनुसार काव्यालोचन में प्रयुक्त भाषा वक्तव्य को स्पष्ट करने की अपेक्षा आच्छन्न करने में अधिक समर्थ रही है तथा उसमें आलोचना के प्राविधिक (टेकनिकल पार्ट) और समीक्षात्मक (क्रिटिकल पार्ट) पक्षों में अन्तर दिखा सकने की योग्यता नहीं रही है। फलतः काव्य कृतियों के मूल्यांकन में साध्य और साधन का अन्तर स्पष्ट नहीं रहा और काव्य के आन्तरिक मूल्य के उद्घाटन की जगह उसकी वाह्य विशेषताओं को ही मूल्यांकन का आधार बनाने की भूल होती रही है।

रिचर्ड्स मनोविज्ञान का उपयोग मूलतः पाठक या भावक की मनःस्थिति के लिए किया। काव्यानुभूति पाठक को किस प्रक्रिया से प्राप्त होती है, उस अनुभूति का उसके ऊपर कैसा प्रभाव पड़ता है, उसका मूल्य क्या है, सफल भाव संचार के लिए भावक (पाठक) की कौन सी योग्यताएँ आपेक्षित हैं आदि विषयों का विशद विश्लेषण किया गया है। रिचर्ड्स का मनोविज्ञान इसीलिए प्रधानतः 'भावक (पाठक) मनोविज्ञान है। स्रष्टा के मनोविज्ञान में उनकी अपेक्षाकृत कम अभिरुचि थी। उनका मनोवैज्ञानिक विचार अनेक अंशों में असाम्प्रदायिक (हेटरोडॉक्स) है। तथापि मुख्य रूप से वे व्यवहारवादी, मनोविश्लेषण तथा गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के विचारों आदि के समर्थक हैं।

रिचर्ड्स मूल्यवादी समीक्षक हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि आलोचना सिद्धान्त के आधारभूत स्तम्भ दो हैं। १. मूल्य का लेखा और २. संप्रेषण व्यापार। हम क्रम से इसकी चर्चा करेंगे।

मूल्य सिद्धान्त

१. कला के मूल्य निर्णय में भ्रान्ति—रिचर्ड्स के अनुसार आलोचकों सौन्दर्यशास्त्रियों आदि द्वारा मानवीय व्यापारों की सम्पूर्ण आयोजना में कला के स्थान और महत्व को समझ पाने में गलती हो रही है। जिन्होंने महत्व को समझा, वे व्याख्या में प्रवृत्त नहीं होते, और जो व्याख्या में प्रवृत्त हुए उन्हें भाषा की कठिनता के कारण अपने प्रयास में सफलता नहीं मिली।

२. आलोचक और मूल्यांकन:—'प्रिंसिपुल्स' की रचना के पूर्व यह सामान्य विश्वास चल पड़ा था कि आलोचक का सम्बन्ध कला कृति से ही हैं, उसके किसी वाह्य प्रभाव से नहीं। अतः आलोचक को कलाकृति से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। इन विचारों से कलाकृति को प्रमुखता अवश्य मिली, पर कला तथा नैतिकता के सम्बन्ध विच्छेद की धारणा को प्रोत्साहन मिला जो रिचर्ड्स की दृष्टि में कलालोचन के लिए दुर्भाग्यपूर्ण था। कलालोचन के स्थूल नैतिक दृष्टि की प्रबलता देख नैतिक विचारों से आलोचकों का विरत हो जाना रिचर्ड्स के लिए वैसा ही है जैसे नीमहकीमों के ढिठाई के कारण योग्य और कुशल चिकित्सकों का अपने पेशे से विरत हो जाना। क्योंकि वे आलोचक को मानव-मन के स्वास्थ्य के लिए उसी प्रकार जिम्मेवार मानते हैं जिस प्रकार डाक्टर को मनुष्य के शारीरिक स्वास्थ्य के लिए।

अतः कलालोचन के क्षेत्र में मूल्य सिद्धान्त का अनुसंधान रिचर्ड्स आवश्यक समझते हैं जिसमें कला को श्रेष्ठता-हीनता को संतोषजनक व्याख्या करने की क्षमता हो।

३. निरपेक्ष मूल्य सिद्धान्त और उसकी (रिचर्ड्स द्वारा) आलोचना:—रिचर्ड्स ने सबसे पहले मूल्य को निरपेक्ष मानने वाली विचारणा की परीक्षा की है। इस प्रकार के मत के प्रमुख समर्थक डा. जी. ई. मूर हैं (प्रिंसिपिया 'एथिका')। यह मत नैतिक बिशेषताओं को सहज ज्ञान (इण्ट्यूशन) का विषय मानता है और शिवम् को अव्याख्येय समझता है। कुछ चेतन अनुभूतियां-जैसे सौन्दर्य की परख, विशिष्ट परि स्थितियों में प्रेम-श्रद्धा के भाव 'साध्यरूप में शिव हैं'। शेष वस्तुएँ जैसे पुस्तक साहसिक कार्य 'साधन रूप में शिव है"। वास्तविक शिव अपना साध्य आप, अव्याख्येय और हेतु निरपेक्ष है।

रिचर्ड्स ने 'शिवम्' जैसे निरपेक्ष समझे जाने वाले प्रत्ययों के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने का आग्रह किया है। पहले बहुत-सी वस्तुएँ जो अव्याख्येय समझी

जाती थीं, विज्ञान द्वारा उनकी तर्क-संगत व्याख्या की जा चुकी है। अतः यह आशा करनी चाहिए कि विचारजगत में अभी जो अव्याख्येय लगती हैं उनकी भविष्य में तर्क सम्मत व्याख्या हो सके। फिर मूल्य के निरपेक्ष सिद्धान्त का खंडन करना यदि सम्भव न भी हो तो भी उसके बदले मूल्य की एक ऐसी धारणा ग्राह्य होनी चाहिए जो तथ्यों से प्रमाणित की जा सके और अपेक्षाकृत कम रहस्यात्मक हो। उन्होंने मनोविज्ञान की सहायता से ऐसी ही मूल्य धारणा का रूप प्रस्तुत किया।

४. **मूल्य का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तः**—मूल्य सम्बन्धी अनुसंधान के लिए नृवंश-शास्त्र तथा मनोविश्लेषण-शास्त्र द्वारा जो तथ्य प्रस्तुत किए गए हैं उनके कारण निराश होने की आवश्यकता नहीं है। नृवंशशास्त्र द्वारा विविध जातियों एवं सभ्यताओं के मूल्य धारणाओं में व्याप्त घोर विषमता का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है उसे देखकर कोई सोच सकता है कि मनुष्यता के 'शिव' का कोई सामान्य सिद्धान्त ढूँढ़ निकालना असंभव है। उसी प्रकार मनोविश्लेषण द्वारा बच्चों के मूल्य निर्णय के आधार पर आवेगों, पसन्दों का जो चित्र सामने आता है उससे भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है। रिचर्डस के अनुसार आंतरिक मूल्य और साधन स्वरूप मूल्य में अन्तर न देख पाने के कारण ही मानवीय मूल्य धारणा में इतनी अधिक विभिन्नता देखने को मिलती है।

मनुष्य के प्रारंभिक आवेग सामाजिक दबावों के कारण प्रच्छन्न हो जाते हैं और उनका दिशापरिवर्तन हो जाता है। रीतिरिवाज, अन्ध विश्वास, जनमत आदि के नियंत्रण में मनुष्य अपने भीतर नयी सहज प्रवृत्तियों का विकास प्राप्त करता है। इस प्रकार आदिम मानव पशु धर्मात्मा के रूप में परिणित हो सकता है।

विकास की प्रत्येक स्थिति में मनुष्य के आवेग, इच्छाएँ, और झुकाव नया रूप ग्रहण करते हैं और उनमें व्यवस्था तथा क्रमबन्धन की अधिकाधिक मात्रा होती चलती है। यह व्यवस्था कभी पूरी नहीं होती। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन आवेगों को व्यवस्थित करने का प्रयास है। यहीं मूल्यों का प्रश्न उठ खड़ा होता है, हम कैसे निश्चय करें कि अमुक आवेग दूसरे की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है।

आवेगों को एषणाओं (एपेटेन्सी) तथा विमुखताओं (एवर्शन्स) में बाँटते हुए रिचर्ड्स ने मूल्य की परिभाषा इस प्रकार दी है : "कोई भी वस्तु मूल्यवान है जो किसी दूसरी समान या अधिक महत्वपूर्ण एषणा को कुंठित किए बिना हमारी किसी एषणा को संन्तुष्टि करे।"[1] रिचर्ड के अनुसार हर मनुष्य अपनी अधिकतम एषणाओं की संतुष्टि चाहता है पर एक एषणा की सन्तुष्टि कभी-कभी दूसरी एषणा के लिए बाधक हो जाती है। अतः यदि अन्य एषणाओं को निराश किए बगैर कोई वस्तु हमारी

१. रिचड्‌स के आलोचना सिद्धान्त—शम्भुदत्त झा।

किसी एषणा को सन्तुष्ट करती है तभी वह मूल्यवान है अन्यथा उससे प्राप्त होने वाला सन्तोष अन्य एषणाओं से प्राप्त असंतोष द्वारा घट जाएगा। इस प्रकार "नैतिकता का स्वरूप बुद्धिमता को अतिरिक्त और कुछ नहीं है और आचार संहिताएँ काम चलाऊपन की सामान्य योजना से अधिक महत्व नहीं रखतीं।" बुद्धिमता का तकाजा है कि हम अधिक से अधिक आवेगों की अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करें।

इस विवेचन से एक महत्वपूर्ण तत्व प्रकाश में आता है कि एषणाओं के महत्व निर्णय का आधार क्या है? रिचर्ड्स के अनुसार आवेगों में एक को दूसरे की अपेक्षा प्राथमिकता स्पष्ट है। मनुष्य की कुछ आवश्यकताएँ, जैसे खाना, पीना, सोना, साँस लेना आदि अवश्य पूरी होनी चाहिए जिससे दूसरे आवेगों की सन्तुष्टि सम्भव हो सके। जो वस्तुएँ आरम्भ में एक आवश्यकता की पूर्ति के रूप में मूल्यवान थीं,' बाद में दूसरी आवश्यकताओं की तृप्ति का साधन बनी हैं। उदाहरण के लिए पोशाक को ले सकते हैं जो आज एक साथ अनेक आवश्यकताओं की तृप्ति का साधन बनी है। किन्तु रिचर्डस आवेगों की प्राथमिकता के इन उदाहरणों को उदाहरण मात्र समझते हैं। यानी उनके अनुसार मनुष्य के आवेगों की प्राथमिकता की स्थायी सूची नहीं प्रस्तुत की जा सकती। ये प्राथमिकताएँ परिवर्तनशील हैं।

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि जीवन में अधिकाधिक मूल्य की प्राप्ति आवेगों के सामंजस्य पर निर्भर है। किन्तु किसी भी व्यक्ति के जीवन में आवेगों का समन्वय तथा सामंजस्य घटित करने वाली मनोव्यवस्था सदैव एक समान नहीं रहा करती—उसमें परिवर्तन होता रहता है। अब प्रश्न उठता है कि विभिन्न प्रकार की मनोव्यवस्थाओं में से हम किसे अधिक मूल्यवान मानें और किसे कम। इस सम्बन्ध में रिचर्ड्स का मत है कि जिस मनोव्यवस्था से मानवीय संभावनाओं की कम से कम व्यर्थता लाजिमी होती है, वह सर्वोत्कृष्ट है। किसी भी मनोव्यवस्था में सभी आवेगों का पूर्ण सन्तोष सम्भव नहीं है। कुछ आवेग किसी सीमा तक कुंठित होंगे हो। अतः कितने आवेग किस सीमा तक अतृप्त रहते हैं, उनका कितना महत्व है, इन बातों पर किसी मनोव्यवस्था का मूल्य निर्भर है। रिचर्ड्स उन लोगों को सौभाग्यशाली मानते हैं जिनकी मनोव्यवस्था एक प्रकार के 'समायोज्यशोधन ग्रह (क्लियरिंग हाउस) का विकास कर लेती है जिसके द्वारा विविध आवेगों के हकों को एक दूसरे के साथ समायोजित करते हुए पूरा किया जाता है। ऐसे लोगों की इसलिए प्रसंशा करता है क्योंकि इन्हें अधिकतम संतुष्टि मिलती है और अल्पतम दमन तथा त्याग करना पड़ता है।

मूल्य या नैतिकता का उपर्युक्त प्रतिपादन व्यक्ति की दृष्टि से किया गया है। किन्तु रिचर्डस ने उक्त वैयक्तिक नैतिकता को ही सामाजिक नैतिकता के रूप में परि-

णित करके दिखाया है। इस सम्बन्ध में उसने एक महत्वपूर्ण बात यह कहा है कि समूह के नैतिक मानदंडों की अपेक्षा अच्छी मनोव्यवस्था विकसित कर लेने वाले व्यक्तियों के प्रति समाज उतना ही कठोर रहा है जितनी बुरी मनोव्यवस्था रखने वालों के प्रति रहा है। सुकरात तथा ब्रूनो के प्रति उतना ही कठोर रहा है जितना टॉर्पन या वॉटम्ले के प्रति। अतः रिचर्ड्स किसी व्यक्ति का सामाजिक वहिष्कार समाज से भिन्न मनोव्यवस्था रखने के कारण करना उचित नहीं समझता।

वह गतिशील सामाजिक नैतिकता के पक्ष में है। परिस्थितियों की अपेक्षा रिवाज देरी से बदलते हैं। पर यह समझ लेना चाहिए कि परिस्थिति का हर परिवर्तन नये ढंग की मनोव्यवस्था की सम्भावना ला देता है। अतः परिस्थितियों के द्रुत परिवर्तन के साथ-साथ नैतिक मानों के परिवर्तन को श्रेयस्कर समझते हैं—

जिस मनोव्ययस्था की चर्चा हमने मूल्य सिद्धान्त में की उसे रिचर्ड्स चेतन योजना का विकास नहीं मानते। यह व्यवस्था हमारी गैरजानकारी में विकसित होती चलती है।

'कविता, कविता के लिए' सिद्धान्त की आलोचना:—मूल्य सिद्धान्तों को अपनाने के कारण ही रिचर्डस ने 'कविता कविता के लिए या 'कला कला के लिए' सिद्धान्त की गहरी आलोचना की है।

इसकी आलोचना के पहले इस सिद्धान्त का संक्षिप्त इतिहास भी जानना आवश्यक है। 'कला कला के लिए सिद्धान्त का जन्म फ्रांस में हुआ था। कुछ आलोचना के अनुसार इस सिद्धान्त (L' art hour L' art) का सर्वप्रथम संकेत हमें विक्टर क़ाजिन में मिलता है। किन्तु इसका सर्वप्रथम पोषक 'थीयोफ़ील गोतियों' को ही मानना चाहिए जिनके अनुसार "कलात्मक प्रक्रिया स्वंय अपने में ध्येय है।" इस सिद्धान्त की पराकाष्ठा जे. के. हिज़्मेन के प्रसिद्ध उपन्यास 'अ रेवर्स में मिलती है।

'कला कला के लिए' सिद्धान्त को उसकी जन्मभूमि फ्रांस से इंगलैण्ड में लाने का श्रेय ह्विसलर को है। इसने रस्किन के सिद्धान्त 'कि कला का धर्म कलाकार की स्वंय तुष्टि न होकर लोकसेवा है' से उत्तेजित है। कला में उपदेश का कड़ा विरोध किया और 'कला-कला के लिए' सिद्धान्त की स्थापना की आस्कर ह्वाइल्ड तो एक कदम और बढ़ गया 'कोई भी पुस्तक नैतिक दृष्टिकोण से अच्छी अथवा बुरी नहीं कही जा सकती पुस्तकें या तो भली भाँति लिखी जाती हैं अथवा बुरी तरह, बस यही कहा जा सकता है। 'किसी भी कलाकार में नैतिक सम्वेदना नहीं होती। उसमें नैतिक संवेदना का होना अक्षम्य है।" वाइल्ड ने 'ए पिक्चर ऑव डोरियन ग्रे' जीवन में समस्त नैतिक मूल्यों के वहिष्कार के दृष्टिकोण का परिचय मिलता है।

इंगलैंड में इस सिद्धान्त की शास्त्रीय पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने में वाल्टर पेटर का नाम मुख्य है। उसके अनुसार 'महान् कवियों का कार्य उपदेश देना, नियम लागू करना अथवा श्रेष्ठ कृत्यों के लिए प्रेरित करना नहीं होता'। पर पेटर का सिद्धान्त भोगवाद

हीन था उसमें परिष्कृत स्वभाव का नियंत्रण भी था। उसके अनुसार कलाकार के आत्मिक जीवन ही में कला के सिद्धान्त अंतर्निहित रहते हैं, उन्हें जानने के लिए अन्यत्र जाने के लिए आवश्यकता नहीं है। किसी सच्चे कलाकार के आत्मिक जीवन को अनावृत कर सकें तो कला विषयक सब सिद्धान्त मिल जाएगा यही कार्य उसने अपने उपन्यास 'मेरियस द एपीक्यूरियन' में किया है।

'कला कला के लिए' सिद्धान्त की पुष्टि करने वालों में जे. ई. स्पिगर्व, क्लाइव बेल, तथा ए. सी ब्रेडले महत्व पूर्ण हैं। स्पिगर्न के अनुसार, "काव्य को विशुद्ध काव्य के रूप में देखते हुए यह कहना कि वह नैतिक अथवा अनैतिक है इतना ही अनर्गल है जितना कि यह कहना कि एक समत्रिबाहु त्रिकोण नैतिक है, और एक समद्विबाहु त्रिकोण अनैतिक"। इसी प्रकार क्लाइव बेल ने साहित्य में किसी आचरणात्मक अथवा सामाजिक मूल्य को अस्वीकार किया है।

ब्रेडले का मत:—'कला के लिए कला' सिद्धान्त का सर्वाधिक सन्तुलित रूप ब्रेडले के 'काव्य काव्य के लिए' वाले निबन्ध में मिलता है (पुस्तक-आक्सफोर्ड लेक्चर्स आन पोइट्री)।

१. प्रथम तो यह कि 'एस्थाटिक' अनुभव साधन न होकर स्वयं अपने में साध्य हैं। अतः उसमें किसी अन्य प्रयोजन की खोज किये बिना उसे ज्यों का त्यों ग्रहण करना ही वांछनीय है। अतः साहित्य के मूल्य की चर्चा ही निरर्थक है क्योंकि साहित्य स्वयं में मूल्य होता है और उस पर किन्हीं बाहरी मूल्यों का आरोप न तो आवश्यक ही है और न वांछनीय।

२. द्वितीय यह है कि 'एस्थेटिक' अनुभव के अन्दर निहित मूल्य उसका काव्यगत मूल्य है न कि कोई अन्य बाहर से आरोपित मूल्य। इसका आशय नहीं कि काव्य का कोई वाह्य प्रयोजन हो ही नहीं सकता। काव्य स्वंय साध्य होते हुए भी साधन हो सकता है; वह संस्कृति का प्रसार कर सकता है। धर्म की स्थापना कर सकता है। वह उपदेश दे सकता है, मनोवेगों का परिष्कृत कर सकता हैं, किसी महान् उद्देश्य को बल दे सकता है, अथवा कवि की प्रशंसा का अस्त्र बन सकता है और आर्थिक लाभ करा सकता है तथा उसे चरित्रवान् बना सकता है। यदि काव्य यह सब कार्य सम्पन्न कर सकता तो उसका मूल्य इन कारणों से प्रशस्त हो जाता है, किन्तु काव्य के ये वाह्य प्रयोजन सम्बन्धी मूल्य उसके काव्यगत अथवा 'ऐस्थेटिक' मूल्य को निश्चित नहीं करते। काव्यगत मूल्य आंकने की कसौटी तो काव्य के अन्तर ही में निहित रहती है, काव्य मानदंड उसे निर्धारित करने में असमर्थ है। सच तो यह है कि यदि कलाकार कलात्मक प्रक्रिया के समय किन्हीं काव्यमूल्यों को अपने ध्यान में रखता है तो वह अपनी कृति के काव्यगत मूल्य को घटा देता है। यही बात समीक्षक के सबंन्ध में भी

है। यदि समीक्षा करते समय वह अपना मानदंड किन्हीं प्रयोजन-संबन्धी मूल्यों को बनाता है तो वह समीक्षा का स्तर नीचा कर देता है। काव्य न तो वास्तविक जगत का कोई अंग है और न उसकी अनुकृति मात्र। काव्य का जगत तो अपना जगत है जो स्वतन्त्र है। स्वयं अपने में पूर्ण है और अपने ही बनाये नियमों से संचालित है।

रिचर्ड्स द्वारा ब्रैडले की आलोचना :—रिचर्ड्स ने ब्रैडले के मान्यताओं को चार भागों में बांटा है। और उससे अपनी असहमति प्रकट की है।

१. रिचर्ड्स का कथन है कि ब्रैडले ने जिन्हें वाह्यमूल्य (अल्टीरियर वैल्यूज) कहा है (जैसे धर्म, संस्कृति, उपदेश, मनोरागों को कोमल बनाना, सदुपदेश का प्रचार और कवि द्वारा यश, द्रव्य तथा शान्त अन्तःकरण की प्राप्ति) वे सभी एक स्तर के न होकर विभिन्न स्तरों के हैं। ब्रैडले इनमें से किसी को भी कविता के काव्यात्मक मूल्य निर्णायक मानने में असमर्थ है। पर रिचर्ड्स का कहना है कि उपर्युक्त वाह्य मूल्यों से कुछ जैसे धर्म, संस्कृति, उपदेश, मनोरागों को कोमल बनाना तथा सदुद्देश्य का प्रचार काव्यानुभूति के काव्यात्मक मूल्य के निर्णय में प्रत्यक्षतः सम्बद्ध हो सकते हैं अन्यथा (काव्यात्मक) शब्द निरर्थक हो जायगा। दूसरी ओर यश, द्रव्य, या शान्त अन्तःकरण की प्राप्ति जैसे लक्ष्य काव्यात्मक मूल्य के विवेचन के लिए स्पष्टतः अनावश्यक हैं।

२. काव्यानुभूति का मूल्यांकन पूर्णतः भीतर से करने की बात भ्रमात्मक है। अपवाद स्वरूप ही कभी कविता का मूल्यांकन उसके भीतर से होता है। रिचर्ड्स के अनुसार, नियमतः हमें कविता के मूल्यांकन के लिए काव्यानुभूति से बाहर आना पड़ता है, और हम स्मृति द्वारा या मन में अवशिष्ट (रेजी डुअल) प्रभावों द्वारा, जिन्हें हम मूल्य का अच्छा संकेतक (इण्डिसेज) मानना सीखते हैं, कविता का मूल्यांकन करते हैं। कविता का मूल्यांकन करते समय हम मानव जीवन के विशाल ढांचे में इसके स्थान की उपेक्षा नहीं कर सकते। कविता का मूल्य इसी तथ्य पर भी निर्भर करता है। इसी कारण कविता के मानव-जीवन में स्थान का और इससे सम्बध अन्य वाह्य मूल्यों का लेखा जोखा किये बिना इसका सम्यक मूल्यांकन हो ही नहीं सकता।

३. रिचर्ड्स डा० ब्रैडले की यह बात भी समीचीन नहीं मानते कि वाह्य मूल्यों का विचार कविता के काव्यात्मक मूल्य को घटा देता है। रिचर्ड्स के अनुसार, सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि वाह्य कैसे हैं और कविता किस प्रकार की है। कुछ ऐसी कविताएँ होती हैं जिनमें वाह्य मूल्यों को स्वीकार करना वस्तुतः उनके काव्यात्मक मूल्य के अवमूल्यन का कारण हो सकता है। किन्तु कुछ दूसरे प्रकार की कविताएँ भी हैं जिनका मूल्य उनसे सम्बद्ध वाह्य मूल्यों पर निर्भर करता है। जोन बनयान, दाँते

तथा बायरन की रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। हिन्दी में 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' भी ऐसी ही हैं। जबकि बच्चन की आरंभिक रचनाएँ प्रथम प्रकार की कविताओं के उदाहरण हैं। दूसरे प्रकार की रचनाओं के निर्माण के समय कवि का ही ध्यान वाह्य मूल्यों की ओर था, अतः पाठक के लिए भी उनका विचार आवश्यक होता है।

४. रिचर्डस प्रधानतः ब्रेडले के इस चौथी बात से अपनी असहमति प्रकट करते हैं कि वास्तविक जगत से कविता के जगत का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह बात रिचर्डस सर्वाधिक आपत्तिपूर्ण मानते हैं, चूँकि इससे कविता और जीवन का सम्बन्ध विच्छेद स्वीकार करना पड़ता है। ब्रेडले ने भी कविता और जीवन के प्रच्छन्न सम्बन्ध की बात स्वीकार की है। रिचर्डस के अनुसार यह प्रच्छन्न सम्बन्ध ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उनके मत में कविता के जगत का शेष जगत से किसी भी अर्थ में अलग अस्तित्व नहीं है और इसके कोई विशिष्ट नियम या अन्य जातीय विशेषताएँ नहीं हैं। यह वैसी ही अनुभूतियों से बना है जैसी दूसरे मार्गों से हमें प्राप्त होती हैं। यह अवश्य है कि काव्यानुभूति अधिक उच्च एवं सूक्ष्म ढंग से व्यवस्थित होती है तथा इसमें भावसंचार की विशेष योग्यता भी होती है। इसके अलावा कविता की अनुभूति का शेष अनुभूतियों से एक कृत्रिम विच्छेद बनाये रखना इसके सम्यक आस्वाद के लिए आवश्यक होता है। लेकिन रिचर्डस के अनुसार यह विच्छेद असमान वस्तुओं का विच्छेद नहीं है। अपितु एक ही क्रिया की विभिन्न व्यवस्थाओं का विच्छेद है।

डा० रिचर्डस का कथन है कि स्वयं डा० ब्रेडले ने अपने व्यवहारिक आलोचनाओं में अपने सिद्धान्त का अनुसरण नहीं किया है। रिचर्डस के अनुसार यदि डा० ब्रेडले के सिद्धान्त का इमानदारी से अनुसरण किया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि हम किसी कविता के पाठक को सौन्दर्य-भोगी, नैतिक, व्यवहारिक, राजनीतिक आदि व्यक्तियों के रूप में बांटकर देखें। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। क्या यह सम्भव है कि हम शेली का (प्रोमीथियस अन्बाउण्ड) पढें और यह मानें कि मनुष्य की पूर्णता अवांछनीय आदर्श है, या फाँसी देने वाले जल्लाद उत्तम व्यक्ति होते हैं हिन्दी से उदाहरण लें तो क्या यह संभव है कि 'गोदान' पढ़ें और जमींदार तथा महाजनों के शोषण का समर्थन करें ? रिचर्डस का मत है कि किसी भी महान् कविता को ठीक से और पूर्णरूप से पढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि पाठक में नितान्त वैयक्तिक तत्व को छोड़कर जो कुछ है उसका बेरोक-टोक प्रवेश हो। पाठक के लिए अपनी आंखों पर किसी प्रकार की पट्टी रखना बिलकुल गलत है। तथा अपने व्यक्तित्व के किसी भी अंग को भाग लेने देने से रोक रखना अनुचित है। यदि पाठक किसी कल्पित सौन्दर्य तत्व के अतिरिक्त बाकी सब कुछ का परित्याग कर बिलक्षण रुख अपनाता है तो रिचर्डस उसे हेनरी जेम्स के 'ऑस्मण्ड' का उसके

टावर में साथ देने वाला तथा ब्लेक के राजाओं और पुरोहितों के ऊँचे महलों तथा मीनारों का साथी मानते हैं। यथार्थ से दूर ऐसा पाठक कविता का सम्यक आस्वादन एवं अध्ययन कर पाने में असमर्थ होता है।

मूल्य सिद्धान्त के गुण तथा दोष

१. समन्वयात्मक गुण : रिचर्ड्स के मूल्य विचार प्राकृतवाद (नैचुरिलिज्म) तथा उपयोगितावाद का मिला जुला रूप है।[1] मनुष्य की मूल्यांकन प्रक्रिया को कैमरे के यथार्थ चित्रण प्रकिया के समान ही उपस्थित किया है। पर पूर्ण प्राकृतवाद नहीं है। इसमें आदर्शवादिता की गंध है। और यह आदर्शवादिता सूक्ष्म और बुद्धिवादी ढंग से निरूपित की हुई है। अतः इसे मध्यममार्गी दृष्टिकोण कहा जा सकता है।

२. मूल्य दृष्टि सापेक्षवादी है—रिचर्डस ने अनेक अच्छी प्रकार की मनोव्यवस्थाएँ मानी हैं। पर प्रोफेसर, गणितज्ञ या नाविक की मनोव्यवस्थाएँ समान नहीं हो सकतीं। किसी विशिष्ट मनोव्यवस्था को सर्वोत्तम बताने की अपेक्षा रिचर्ड्स ने सर्वोत्तम मनोव्यवस्था का लक्षण यह दिया है कि जिसमें मानवीय संभावनाओं की कम से कम निरर्थकता लाजिमी हो। यह एक ऐसी आदर्श स्थिति है जिसके लिए व्यक्ति और समाज को अपने सामने हमेशा नवीन नीतिव्यवस्था की आवश्यकता पड़ेगी। और उत्तरोत्तर एक की अपेक्षा दूसरी मनोव्यवस्था श्रेयसी प्रमाणित होगी। इस तरह रिचर्ड्स का मूल्य सिद्धान्त सापेक्ष हो जाता है।

३. गतिशील नैतिकता का समर्थक—रिचर्ड्स का मूल्य सिद्धान्त गतिशीलता को प्रश्रय देता है। आचारशास्त्र का विरोधी इसी कारण रिचर्ड्स ने किया है कि उसमें विहित नियमों को जड़ माना जाता है। वे आचारशास्त्र की अपेक्षा कला को नैतिकता का अधिक विश्वसनीय प्रतिफलन इसीलिए मानते हैं कि आचारशास्त्र जहाँ स्थूल और सामान्य नीति नियमों के रूप में नैतिकता को सूत्रबद्ध करता है वहाँ कला उसके सूक्ष्म विषयों को उद्घाटित करती है। रिचर्ड्स के अनुसार नैतिकता का सही रूप जीवन के इन्हीं सूक्ष्म विशेषों में हैं। जीवन के ये सूक्ष्म विशेष परिस्थिति सापेक्ष और इसी कारण गतिशील होते हैं। रिचर्डस नैतिकता की गतिशीलता का वेग वैसा ही रखने का आग्रह करते हैं जैसा परिस्थितियों के परिवर्तन का हो। उनके अनुसार, व्यतीत नैतिक सिद्धान्तों से चिपटे रहने की अपेक्षा मानवता के लिए अधिक कष्टकर कोई दूसरी बात नहीं। उनका कथन है कि हमें किसी शरण देने वाले चट्टान की नहीं, तेजी से ले चलने वाले वायुयान की आवश्यकता है।

---

१. वही।

४. सुखवाद (हेडोनिज़्म) का विरोधी है :—रिचर्डस मनुष्य की समस्त क्रियाओं का उद्देश्य आनन्द को मानने वाले विचार का उपहास यह करते हुए करते हैं कि यह तो घोड़े के आगे गाड़ी रख देना है। आनन्द प्राप्ति के लिए कोई व्यक्ति कविता पढ़ता है, यह मानना रिचर्डस के अनुसार वैसा ही बेतुका है जैसा यह मानना कि कोई गणितज्ञ किसी समस्यो के समाधान में आनन्दप्राप्ति के लिए प्रवृत्त होता है। कविता पढ़ने में या समस्या के समाधान में बहुत आनन्द मिल सकता है पर यह आनन्द वस्तुतः उक्त क्रियाओं का लक्ष्य नहीं है अपितु उनकी प्रक्रिया में उत्पन्न वस्तु है, ठीक उसी तरह जैसे मोटर साईकिल चलने की प्रक्रिया में उत्पन्न शोर उसके चलने का कारण नहीं है अपितु उसके चलने की सूचना देने वाला है। इस प्रकार सुखवाद का एक प्रकार से विरोध किया है। आवेगों के संतुष्टि का अर्थ आनन्द नहीं है। कविता मिठाई की पिटारी नहीं है।

५. व्यक्ति को आधार मानकर नैतिकता का निरूपण करता है। वैयक्तिक नैतिकता को ही सामाजिक नैतिकता के रूप में परिणत करके दिखाते हैं। इसके लिए उन्होंने वेन्थम के सूत्रों का हवाला दिया है। वे सामाजिक नैतिकता की अपेक्षा वैयक्तिक नैतिकता को अधिक गतिशील मानते हैं। इस प्रकार रिचर्डस का झुकाव व्यक्ति के पक्ष में अधिक हुआ है।

दोष :—रिचर्डस के मूल्य सिद्धान्त की सबसे बड़ी सीमा यह है कि उन्होंने सामाजिक वास्तविकताओं पर ध्यान न देकर केवल व्यक्तिवादी मनोविज्ञान की दृष्टि से मूल्यांकन के मानदंड स्थिर किये हैं। सम्भवतः विचारों की यह एकांगिता प्रत्ययवादी (आइडियलिस्ट) दर्शन के परिणाम स्वरूप है। रिचर्डस ने यद्यपि अपने मनोवैज्ञानिक मत को प्रत्ययवाद और भौतिकवाद में से किसी एक का समर्थक नहीं माना है पर वस्तुतः मूल्य की सत्ताव्यक्ति की अनुक्रियाओं में देखना प्रत्ययवाद की स्वीकृति है

काडवेल ने ठीक ही कहा है कि कला की समीक्षा का अर्थ कला से बाहर आना है जिसके माने हैं समाज के अन्दर प्रवेश करना। अतः कला समीक्षा का प्रधान-तत्व समाजशास्त्रीय है। रिचर्डस की कला समीक्षा समाजशास्त्रीय नहीं हो सकी है अतः कला को जोवन से सम्बद्ध करने के लिए उन्होंने जिस मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद का सहारा लिया है वह बेतुका सा लगता है।

संप्रेषण (कम्युनिकेशन) (प्रेषणीयता) :—सर्वप्रथम रिचर्डस ने संप्रेषण के तीन प्रचलित अर्थों को गल्त बताया। वे अर्थ निम्नप्रकार के थे :—

१. कुछ लोग संप्रेषण का अर्थ अनुभूतियों का वास्तविक स्थानान्तरण समझते थे। जैसे एक के जेब का पैसा दूसरे की जेब में चला जाता है।

२. ब्लेक के अनुसार शक्ति के रूप में एक ही समान मनः स्थिति कभी एक मन को, कभी दूसरे को, और कभी एक साथ अनेक मनों को व्याप्त कर लेती है।

३. एक ही मन की सत्ता है और उसी के विविध पक्ष्य अलग-अलग रूपों में प्रतिभासित होते हैं।

रिचर्डस ऐसी व्याख्याओं को भ्रान्त मानते थे। उन्होंने संप्रेषण की सीधी व्याख्या यह कह कर दी है कि कुछ खास स्थितियों में अलग अलग मनों को प्रायः सामान्य अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं। जब एक मन अपने परिवेश के प्रति इस प्रकार से प्रतिक्रिया व्यक्त करता है कि दूसरा मन उससे प्रभावित हो जाता है और उस दूसरे मन में ऐसी अनुभूति उत्पन्न होती हैं जो प्रथम मन की अनुभूति के समान और अंशतः उसके कारण उत्पन्न होती हैं। सामान्य अनुभूति तो संप्रेषण नहीं है—फ्रांस के राजा थी।

सप्रेषण एक संकुल प्रक्रिया है। कम से कम दो दृष्टियों से इसकी अलग-अलग कोटियाँ सम्भव हैं। मान लिया जाय 'क' 'ख' दो मित्र किसी रास्ते पर चले जा रहे हैं और मुख्य न्यायधीश को गुजरते देखते हैं 'क' ख को टोकते हुए कहता है— वह देखो मुख्य न्यायाधीश जा रहे हैं। यहाँ 'ख' का अनुभव आकस्मिक रूप से ही 'क' के अनुभव पर ही आधृत हैं। किन्तु यदि ख क के साथ न होता, और क ने अकेले मुख्य न्यायाधीश को देखा होता और बाद में ख के समक्ष उसका वर्णन किया होता तो ख का अनुभव बहुत कुछ तो अतीत में देखे गए विशिष्ट न्यायधीशों की स्मृति पर निर्भर होता और शेष के लिए उसे क के वर्णन पर निर्भर रहना पड़ता। ऐसी स्थिति में यदि ख के पास असाधारण ग्राहिका शक्ति न हो और क के पास असाधारण वर्णन कौशल न हो तो दोनों के अनुभव मोटे तौर पर एक दूसरे से मेल खाएँगें।

रिचर्डस का कहना है कि वक्ता-श्रोता के समान अनुभव स्रोतों के बावजूद कठिन स्थितियों मे संप्रेषण की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि अतीत अनुभवों की समानताओं का किस मात्रा में उपयोग किया गया है। यदि पिछले समान अनुभवों का उपयोग किया जाता है तो संप्रेषण सफल होगा। यदि नहीं किया जाता तो उसमें बाधा होगी। संप्रेषण के लिए कलाकार में मुख्यतः दो योग्यताओं का होना आवश्यक है।

पहला :—अतीत अनुभवों की सुलभता : रिचर्डस के अनुसार अतीत अनुभव की सुलभता संप्रेषण की दृष्टि से कलाकार की पहली खूबी है। पर इसका अर्थ अच्छी स्मृति से नहीं है। जिन लोगों का अतीत सम्पूर्ण रूप से उनके पास लौट कर आता है उनके लिए पागलखाने में जाने की सम्भावना अधिक रहती है। इसलिए अनुभव की सुलभता का अर्थ स्मृति मात्र नहीं है, वरन् उनका मुक्त पुनरुत्पादन है। किसी अनुभव को पुनरुउजीवित रखने का अर्थ यह नहीं है कि इस बात का स्मरण किया जाय कि वह

अनुभव कब और कहां और किस प्रकार घटित हुआ था। कोई अनुभव कहाँ तक पुनरुत्पाद्य है, यह मुख्यतः इस बात पर निर्भर है कि कौन सी अभिरुचियाँ और आवेग उसमें सक्रिय थे। जब तक समान अभिरुचियाँ और आवेग फिर सक्रिय न हों, अनुभव का पुनरुत्पादन कठिन होता है।

दूसरा:—दूसरी शर्त सफल प्रेषणीयता के लिए कवि की सामान्यता 'नार्मेल्सी, का है। सामान्य होने का अर्थ है मानक (स्टैंडर्ड) बनाना है न कि औसत बनना। कलाकार औसत स्थिति त्याग कर आगे बढ़ता है तो उसकी कृति में हमारी दिलचस्पी होती हैं।

संप्रेषणता से सम्बन्धित अन्य प्रश्न—कविता कभी इस लिए बुरी होती है क्योंकि उसकी संप्रेषण योग्यता दोष पूर्ण होती है—ऐसी कविता को रिचर्डस 'बुरी कविता' न कह कर दोषपूर्ण कविता कहते हैं। और संप्रेषण की दृष्टि में सफल होते हुए भी अनुभूति के मूल्य की दृष्टि से निकृष्ट रचनाओं को वे 'बुरी रचना' कहना चाहते हैं। एलाह्वीलर 'विल्कॉक्स' (हिन्दी फिल्मों के अधिकांश गीत) बुरी कविता के उदाहरण हैं।

रिचर्ड्स और रामचन्द्र शुक्ल

साम्य—१. शुक्ल जी ने रसानुभूति को लौकिक अनुभूति से भिन्न नहीं माना है वरन् वह उसी का उदात्त और अवदात रूप है। इस दृष्टि से रिचर्ड्स और शुक्ल जी में समानता है।

२. शुक्ल जी ने काव्यानुभूति के अनिवार्यतः आनन्दमय होने का भी समर्थन नहीं किया है। रिचर्ड्स के भी विचार लगभग इसी प्रकार के हैं। पर यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि आनन्द के प्रति दोनों का दृष्टिकोण एक नहीं था। रिचर्ड्स ने 'आनन्द' को काव्यानुभूति की अनिवार्य विशेषता न मानने में प्रयोजनवादी मनोविज्ञान का अनुसरण किया है। इसके विपरीत शुक्ल जी ने काव्यास्वाद के व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर अपना मत स्थिर किया है।[1]

३. शुक्ल जी और रिचर्ड्स ने प्रत्यक्ष विषयों की वास्तविक अनुभूति में भी वह विशेषता मानते हैं जो काव्यानुभूति की विशेषता है। दोनों समीक्षक वास्तविक जीवन की अनुभूतियों में भी काव्यानुभूति या रसानुभूति की विशेषता देखते हैं।

४. काव्य में रूप विधान या बिम्ब सृष्टि के महत्व के विषय में भी रिचर्ड्स और शुक्ल जी के विचारों में साम्य है। रिचर्ड्स ने कविता में बिम्ब सृष्टि को साधन माना है तथा संवेग और अभिवृत्तियों को साध्य। शुक्ल जी ने यद्यपि रिचर्ड्स की

---

१. रिचर्ड्स के आलोचना सिद्धान्त—शम्भुदत्त झा।

अपेक्षा बिम्ब विधान पर अधिक बल दिया है तथापि उसे वे भावपक्ष की तुलना में गौण ही मानते हैं।

५. आलोचना की भाषा में भी दोनों के विचारों में पर्याप्त समानता है। जिस प्रकार रिचर्ड्स ने काव्य के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए भावात्मक तथा रहस्यपूर्ण उद्गारों की आलोचना की है, उसी प्रकार शुक्ल जी ने भी ऐसे उद्गारों की आलोचना की है।

वैषमय :—१. रिचर्ड्स का दृष्टिकोण मूलतः मनोवैज्ञानिक है, जब कि शुक्ल जी का दृष्टिकोण विशेष रूप से नैतिक एवं आदर्शमय है।

२. रिचर्ड्स ने अपने मूल्य सिद्धान्त में आन्तरिक सामंजस्य को आधार बनाया, जबकि शुक्ल जी ने आन्तरिक के साथ-साथ बाह्य सामंजस्य पर भी बल दिया।

३. कविता को शुक्ल जी हृदय की मुक्तावस्था की अभिव्यक्ति मानते थे। उन्होंने रसानुभूति का मूल्य तत्व निर्वैयक्तिता माना। रिचर्ड्स ने इसके साथ संप्रेषण के तत्व पर भी अधिक बल दिया।

४. रिचर्ड्स सौन्दर्य को वस्तुगत न मानकर विषयगत मानते हैं। जबकि शुक्ल जी सौन्दर्य को वस्तुगत ही मानते हैं।

५. शुक्ल जी में हृदयपक्ष की प्रधानता है, जगह-जगह पर उनकी सहृदयता झलकती है, जबकि रिचर्ड्स में बौद्धिक विश्लेषण को ही प्रमुखता मिली है।

पाश्चात्य समीक्षा में रिचर्ड्स का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। इसका कारण यह था कि उन्होंने मनोविज्ञान, अर्थ विज्ञान, दर्शन, एवं सौन्दर्य-शास्त्र के गहन अध्ययन के फलस्वरूप ही अपने चिन्तन को प्राप्त किया है। उनका पांडित्य, बौद्धिकता तथा प्रतिपादन की शैली विलक्षण है। समीक्षा शास्त्र को विज्ञान के धरातल पर स्थापित करने वाले समीक्षकों में रिचर्ड्स का नाम सबसे आगे है।

—❀—

अध्याय | ७

टी० एस० इलियट

अँग्रेजी के श्रेष्ठ कवि, आलोचक तथा सफल नाटककार टी० एस० इलियट का जन्म सन् १८८८ में अमरीका के सेंट लुई, मिसोरी में हुआ था। वे २०वीं सदी के सबसे प्रभावशाली आलोचक माने जाते हैं। उन्होंने 'स्वच्छन्दतावाद' या "रोमान्टिस्ज़िम" विचारधारा के विरोध में 'क्लासिकवाद' की स्थापना की। दूसरे उन्होंने परम्परा पर बहुत अधिक बल दिया। उनका प्रसिद्ध लेख 'परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा' (Tradition and Individual Talent) उन लोगों पर कड़ा प्रहार है। जो आलोचना के सिद्धान्तों का आधार रोमांटिक मूल्य मानते थे। तीसरे उन्होंने कला में निर्वैयक्तिकता (Impersonal) को महत्वपूर्ण स्थान दिया। चौथे कला के क्षेत्र में उन्होंने वस्तुनिष्ठ समीकरण के सिद्धान्त को प्रस्थापित किया। संक्षेप में हम उनके सिद्धान्तों को समझने का प्रयास करेंगे।

क्लासिकवाद से तात्पर्य परिपक्वता या प्रौढ़ता से है। इलियट ने अपने को क्लासिकवादी कहा है। सभ्यता, भाषा, साहित्य एवं साहित्यकार के मस्तिष्क के प्रौढ़ होने पर ही क्लासिक साहित्य की रचना हो सकती है। कवि को अपनी मानसिक प्रौढ़ता के लिए इतिहास तथा ऐतिहासिक चेतना को ग्रहण करना पड़ता है। कवि को अपने अतीत की पूरी जानकारी होनी चाहिए। फिर कवि का हृदय व्यापक तथा विश्वजनीन होना चाहिए। इस प्रकार इलियट के अनुसार क्लासिक का अनिवार्य गुण मस्तिष्क की प्रौढ़ता, शील-प्रौढ़ता, शैली की प्रौढ़ता और पूर्णता, तथा विश्वजनीनता आदि हैं क्लासिकवाद में किसी प्रकार की संकीर्णता को स्थान नहीं है। क्लासिकवाद के सम्बन्ध में इलियट ने लिखा है कि 'यदि क्लासिक वास्तविक आदर्श है, तो उसे ईसाई धर्म की उच्चाशयता (Catholicity) की अभिव्यक्ति करनी होगी।' सम्भवतः यहाँ 'कैथोलिसिटी' से उनका अभिप्राय उच्चाशय, उदार, आस्तिक धार्मिक दृष्टिकोण से है।

क्लासिकवाद के संदर्भ में ही उन्होंने भाषा की प्रौढ़ता पर बल दिया। भाषा की प्रौढ़ता से उनका मतलब मात्र वैसी भाषा से नहीं था जिसमें शक्ति का पूर्ण निखार झलकता हो। उनका मत था कि महान् क्लासिक कवि भाषा विकास की सम्भावनाओं

को निश्शेष कर देता है। उसके बाद विकास की सम्भावना ही नहीं रहती। यह मत ठीक नहीं है। इस मत को मानने का मतलब यह होगा कि किसी भी क्लासिक कृति की रचना तब तक न हो सकेगी, जब तक कोई भाषा मर न जाए।

इलियट ने परम्परा को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनके अनुसार कवि परम्परा का अनुयायी होता है। परम्परा का काव्य-रचना में प्रमुख स्थान है। कवि की प्रतिभा तो परम्परा को ही प्रतिफलित होने में सहायता प्रदान करती है। परम्परा से उनका तात्पर्य पिछली पीढ़ी के कवियों का अन्धानुकरण नहीं था। परम्परा के सम्बन्ध में इन्होंने लिखा—'परम्परा से मेरा तात्पर्य उन सभी स्वाभाविक कार्यों रीति-रिवाजो से है जो एक स्थान पर रहने वाले एक समुदाय के व्यक्तियों के रक्त सम्बन्धों को व्यक्त करते हैं।' अतः इलियट ने परम्परा का व्यापक अर्थ लिया है परम्परा का सम्बन्ध संस्कृत से है। अतः परम्परा के माध्यम से संस्कृति की धारा निरन्तर रूप से प्रवाहित होती रहती है। इसके साथ ही परम्परा से कवि के अन्दर ऐतिहासिक दृष्टिकोण का विकास होता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से तात्पर्य यह है कि कवि अपने भूत और वर्तमान दोनों ही से परिचित है। दोनों का ही बोध उसे हो। अतः परम्परा एक ऐसी बनी बनाई वस्तु नहीं है जो किसी कवि को स्वयं मिल जाती हो। इसे प्राप्त करने के लिए कवि को घोर परिश्रम करना पड़ता है। परम्परा को प्राप्त करने का ढंग व्यक्ति विशेष पर निर्भर रहता है। कुछ अपनी पिछली पीढ़ियों की उपलब्धियों को स्वाभाविक ढंग से आत्मसात् कर लेते हैं, किन्तु दूसरों को इसे प्राप्त करने के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ता है। इस प्रकार परम्परा को स्वीकार करना भी किसी लेखक के लिए सम्भव नहीं।[1]

परम्परा से इलियट का तात्पर्य यह है कि समस्त महान् कला के लिए अतीत की पूरी जानकारी होनी चाहिये। परम्परा का अर्थ रूढ़ि पालन से नहीं लेना चाहिए परम्परा से तात्पर्य यह है कि कलाकार को अपने अतीत के प्रति जागरूक होना चाहिए अतीत का उपयोग वर्तमान समस्याओं को सुलझाने में करना चाहिये। अतीत को वर्तमान में देखना ही कवि की मौलिकता है।

परम्परा पर इतना बल देते हुए भी वह निर्व्यक्तिकरण पर भी बल देता है। उसका मत है कि कविता व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति न होकर व्यक्तित्व से पलायन है। इस सम्बन्ध में इलियट की स्थापना को तीन भागों में बाँटा जा सकता है सर्वप्रथम वह कहता है कि काव्य और कवि का व्यक्तित्व दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। काव्य के भाव

१ पाश्चात्य साहित्यलोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव—रवीन्द्र सहाय वर्मा।

और व्यक्ति के भाव एक नहीं हैं। उसका मत है कि पूर्ण कलाकार में भोक्ता व्यक्ति और सृष्टा मन में सर्वथा अंतर रहता है। इस तथ्य को और स्पष्ट करने के लिए वह एक उदाहरण देता है। यदि एक ऐसे स्थान में जहाँ ऑक्सीजन और सल्फ़रडाई-ऑक्साइड मौजूद हों तब उसमें एक प्लैटिनम का तार लगाने से रसायनिक क्रिया होने लगती है। इसी क्रिया से सल्फ्यूरिक ऐसिड बनती है। यद्यपि इस प्रक्रिया के बाद भी प्लेटीनम का तार अपनी पूर्वावस्था में बना रहता है। कला-सृजन में भी एक कदम यही प्रक्रिया होती है। मन के मूलतः दो कार्य हैं पहला सहना (Suffer) और दूसरा सृष्टि करना। सहने वाला मन ही कलाकार का व्यक्तित्व है, जो कला-सृजन की प्रक्रिया में प्लेटिनम की तार की तरह अपनी पूर्वावस्था मे बना रहता है। अतः काव्य-निर्माण की प्रक्रिया में यह व्यक्तित्व सर्वथा निष्क्रिय रहता है। पर इसके उपस्थित होने से अपने आप एक विचित्र रूप से संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ कला-कृतियों में प्रविष्ट हो जाती हैं। अतः कवि का व्यक्तित्व और उसकी कृतियाँ दो अलग वस्तुएँ हैं। जीवन की भावनाओं का काव्य के भावनाओं से सम्बन्ध नहीं है। भोगने या सहने वाला मन अर्थात् कवि का व्यक्तित्व कला-सृजन के बाद बिना किसी विकार के शुद्ध रूप में बच जाता है।

इस सम्बन्ध में इलियट की दूसरी स्थापना आत्मविनाशीकरण के सिद्धान्त की स्थापना है। वह काव्य सृजन की प्रक्रिया में कवि के व्यक्तित्व को कोई भी स्थान नहीं देता। पर प्रश्न उठता है कि बिना व्यक्तित्व के कवि कला-सृजन की प्रक्रिया में कैसे अग्रसर होता है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए इलियट कहता है कि यद्यपि कला-सृजन में कवि के व्यक्तिव का कोई हाथ नही रहता, किन्तु काव्यगत बिम्ब, अनुभूतियाँ तथा संवेदनाएँ कला-कृतियों के रूप में कलात्मक दबाव के कारण ढल जाती हैं। कला-सृजन की प्रक्रिया में अनुभूतियों और संवेदनाओं की तीव्रता से अधिक कलात्मक-दबाव का प्रभाव पड़ता है। कला-निर्माण की अवस्था में उसका बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहता है। पर यह कलात्मक दबाव क्या है, इसका स्पष्टीकरण इलियट नहीं कर पाता।

निर्व्यक्तीकरण के सिद्धान्त के सम्बन्ध में इलियट की तीसरी स्थापना है कि कवि कला में अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन नहीं करता, वह तो अपने व्यक्तित्व से कला के क्षेत्र में पलायन करता है। अतः कलाकार एक माध्यम है जिसके द्वारा काव्य की अनुभूतियाँ और भावनाएँ मिल कर गठित होती हैं। कलाकार की महानता उसके व्यक्तित्व के निषेध पर निर्भर करता है।

कला के क्षेत्र में इलियट का चौथा महत्वपूर्ण सिद्धान्त वस्तुनिष्ठ समीकरण का सिद्धान्त था। इलियट का मत है कि 'कला में भाव-प्रदर्शन का एक ही मार्ग है, और वह यह है कि उसके लिए वस्तुनिष्ठ समीकरण प्रस्तुत किया जाय। दूसरे शब्दों

में, ऐसी वस्तु संघटना, स्थिति, घटना-शृङ्खला प्रस्तुत की जाए जो उस नाटकीय भाव का सूत्र हो; ताकि ज्योंही वे बाह्य वस्तुएँ जिनका पर्यवसान मूर्त मानस-अनुभव में ही प्रस्तुत की जायँ, त्योंही भावोद्रेक हो जाए'।

काव्य की भाषा के सम्बन्ध में इलियट का विचार है कि कविता भाव प्रधान होती है। इस भाव को व्यक्त करने का श्रेय कविता को होता है। जो बोध गम्य नहीं है उसे बोध गम्य बनाने के लिए कवि को भाषा-शक्तियों का विकास करना होगा, शब्दों को अर्थ सम्पन्न बनाना होगा, प्रतीकों और रूपकों को गढ़ना होगा। कविता की भाषा के सम्बन्ध में इलियट का विचार है कि कवि की भाषा को युग की भाषा के इतना निकट होना चाहिए कि श्रोता या पाठक उसे सुनकर यह कह उठे कि "यदि मैं कविता में बात करना जानता, तो इसी प्रकार बात करता।"

समीक्षा के सम्बन्ध में इलियट का विचार था कि दार्शनिक विवेचक ही निष्पक्ष समीक्षक हो सकता है। समीक्षक में विवेक का होना अनिवार्य है। समीक्षक का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसका उत्तरदायित्व भी कम नहीं है। अतः समीक्षक में सूक्ष्म तथा प्रचुर संवेदन शक्ति का होना आवश्यक है। समीक्षक को मर्मज्ञ के साथ ही साथ साहित्य के मूल्यों से परिचित होना चाहिए। साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषयों में भी उसकी रुचि होनी चाहिए। इलियट के अनुसार समीक्षा का मूल कार्य साहित्य का बोध तथा साहित्यक आनन्द की अभिवृद्धि ही है। इलियट कविता के बोध प्राप्त करने को ही उसका आनन्द लेना ही मानते हैं।

इस प्रकार कुल मिला जुला कर इलियट के काव्य-सिद्धान्तों के प्रति यह कहा जा सकता है कि वे क्लासिकी विचारक थे। रोमांटिक चिन्तकों की उसने कड़े शब्दों में निन्दा की। इलियट उन पर आरोप लगाते हुए कहता है कि वे अपने व्यक्तित्व का उचित नियमन नहीं कर पाते। इसी कारण उनकी अभिव्यक्ति भी धुंधली, गड़बड़ और असम्बद्ध रहती है। यही कारण हैं कि इनकी उपमाएँ और बिम्ब चित्र हमारे हृदय पर स्पष्ट अर्थ नहीं उतार पाते। अपने 'दाँते' नामक निबन्ध में इलियट ने इन्हीं बातों को उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। दाँते की 'डिवाइन कॉमेडी' का एक चित्र है—हम लोगों की तरह उसकी आँखें सतेज हो गईं, भौहें घुरच गईं। लगता था कि कोई बूढ़ा दरजी अपनी सूई की आँखों में देख रहा हो।[1] इस चित्र की विशेषता इसकी बिम्ब-योजना और चित्रमयता में निहित है। दाँते की यह उपमा बिल्कुल सीधी, स्पष्ट और मूर्त है। अब शेक्सपीयर का एक उदाहरण ले लें—"वह नींद सी प्रतीत होती थी, जैसे वह फिर किसी ऐनटोनो को अपने सौन्दर्य में फँसाएगी।"[2]

1. And sherpeued their vision (Knitted thir brows) as us, like an old tailor peer[illegible]g at the eye of hies needle.'
2. She looks like sleep
As she would eatch another Antomy
In her strong toil of grace.

इलियट का कहना है कि शेक्सपीयर की कल्पना धुंधली और निर्बोध है। वह एक निश्चित जीवन-दर्शन भी नहीं दे पाती। जब कि श्रेष्ठ काव्य की सबसे पहली आवश्यकता है कि वह एक निश्चित जीवन दर्शन दे। श्रेष्ठ कलाकार की कृति में अपनेपन के तार नहीं बजते। उसमें आत्मा अभिव्यक्ति न होकर परिष्कृत होती है।

इलियट के कला सिद्धान्त की आलोचना स्टीफेन स्पेन्डर ने की है। वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि काव्यगत भाव, जीवनगत भाव से भिन्न है।

इस सम्बन्ध में उनकी स्थापना है कि इलियट के सिद्धान्त में विरोधाभास है। स्पैंडर लिखता है कि 'किन्तु व्यक्तित्व से पलायन जो कि भावना से भी पलायन है, व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। यह स्पष्ट है कि इलियट वही बात दूसरे शब्दों में कहना चाहता है जो कि बहुतेरे 'व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति' की बात कहकर निवेदन करना चाहते हैं। इस 'व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति' से उनका तात्पर्य मन की ऐसी अनात्म अवस्था से होता है जिसमें व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत भावनाओं को कुछ दूरी से, बिना उसमें लीन हुए देखता है। किन्तु यह बात आत्म-निरीक्षण की स्थिति पर निर्भर है।"[१] इस प्रकार स्पेंडर का यह मत है कि कलाकार का यथार्थ व्यक्तित्व उन भावनाओं से परे है जो कि क्षण में बनती और मिटती है। अतः यदि कलाकार अपने भावनाओं के ऊपर उठ सकता है, यदि वह अपनी भावनाओं में लीन नहीं होता, तो वह मन की अनात्म-अवस्था को प्राप्त हो लेगा और तब वह जो साहित्य-रचना करेगा उसमें उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हो सकेगी। अतएव व्यक्तित्व के उस पलायन में जिसमें भावनाओं से पलायन है, उनके प्रति तटस्थता है, वस्तुतः व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही है।

इलियट का सिद्धान्त एकांगी तथा अतिवाद के दोष से मुक्त नहीं है। स्वच्छन्दतावाद के अतिवाद के विरोध में उसने दूसरे अतिवाद को जन्म दिया। ऐसा प्रतीत होत है कि जैसेइलियट आलोचना के पेंडुलम को एक छोर से पकड़कर उसे विपरीत दिशा में दूसरो छोर को ओर ढकेल देते हैं।[२]

---

१. स्पेंडर द 'डेस्ट्रक्टिव एलीमेंट'।

२. पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव'—रवीन्द्र सहाय वर्मा

अध्याय ८

हिन्दी आलोचना का संक्षिप्त इतिहास

हिन्दी आलोचना के इतिहास को अध्ययन की सुविधा के लिए तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है। पहला प्रारम्भिक काल, दूसरा मध्य काल और तीसरा आधुनिक काल।

प्रारम्भिक काल वास्तव में निर्माण काल था। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सारे देश की परिस्थिति के साथ ही हिन्दी-क्षेत्र की अवस्थाओं में भी आमूल परिवर्तन हो गया था। इस परिवर्तन के कारण नवीन बौद्धिक जागृति आई और आधुनिक-समीक्षा प्रणाली के लिए एक अच्छा वातावरण बन रहा था। इस काल के बीच के अन्वेषण के लिए विशेष रूप से तीन पुस्तकों पर विचार करना आवश्यक है। पहली पुस्तक है मानसी नन्दन पाठक द्वारा लिखी गई 'मानस संकावली' दूसरी पुस्तक है शिवलाल पाठक द्वारा सम्पादित मानस-मयंक' तथा तीसरी पुस्तक हैं शिवरामसिंह द्वारा लिखी गई 'मानस तत्व प्रबोधिनी'। व्यापक अर्थ की दृष्टि से यदि देखा जाय तो इन पुस्तकों को टीका कहा जा सकता है। पर इन ग्रन्थों में कवि की दार्शनिक विचारधारा तथा उनकी भक्ति-पद्धति के निरूपण का भी प्रयास है। इन लेखकों की दृष्टि केवल छन्दों के अर्थ को स्पष्ट करने तक ही सीमित नहीं है। इन्होंने आलोचना का भी प्रयास किया है। 'मानस-मयंक' में विश्लेषण की प्रवृत्ति बहुत स्पष्ट रूप से मिलती है। कवियों की भक्ति पर तो रीतिकाल के पहले भी विचार होता था। पर आलोचना के महत्वपूर्ण एवं गूढ़ पक्षों पर इसके पहले कभी विचार नहीं हुआ था। अतः आधुनिक आलोचना के बीज इन ग्रन्थों में मिलते हैं। आधुनिक काल की आलोचना का पूर्वाभास इन रचनाओं में मिल जाता है।

इस युग के पहले महत्वपूर्ण स्तम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। भारतेन्दु और उनके बाद महावीर प्रसाद द्विवेदी। 'आलोचना' के इस प्रारम्भिक काल के दो ऐसे व्यक्तित्व हुए हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य के वर्तमान स्वरूप निर्धारण में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। वैसे 'आलोचना' इस युग में 'पुस्तक:परिचय' तक ही सीमित रही। 'आनन्द-कादम्बिनी' की संयोगिता-स्वयंवर, और 'बंग-विजेता' तथा 'हिन्दी-प्रदीप' की सच्ची समालोचना इसी शैली के प्रौढ़ उदाहरण हैं। ये आलोचनाएँ पुस्तक-परिचय शैली पर

हैं, तब भी उनमें हल्के पन के स्थान पर गम्भीरता और गुरुता का परिचय मिलता है। इनमें सत्-साहित्य को प्रोत्साहन मिलता है। इसमें विश्लेषण की गरिमा मिलती है। कहीं-कहीं कुछ कटु प्रहार भी किए गए हैं, जो वास्तव में समीक्षा की गरिमा के अनुकूल तथा उपयुक्त नहीं हैं। फिर भी सदिच्छा के कारण इनको क्षम्य माना जा सकता है।

'संयोगिता-स्वयंवर' की आलोचना में दोष उद्भावना ही अधिक है। ऐतिहासिक नाटक की क्या विशेषताएँ हैं, पात्रों के व्यक्तित्व का चित्रण प्रभावोत्पादक कैसे हो, कौन से चरित्र स्वाभाविक होते हैं आदि अनेक सिद्धान्तों पर विवेचन किया गया है और उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर नाटक की परीक्षा हुई है। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो जाती है। "'संयोगिता-स्वयंवर' दिल्ली-निवासी लाला जी निवासदास-रचित एक ऐतिहासिक नाटक है। लाला जी यदि बुरा न मानिये, तो एक बात आपसे धीरे से पूछें। वह यह हैं कि आप ऐतिहासिक नाटक किसको कहेंगें, क्या केवल किसी पुराने समय की ऐतिहासिक पुनरावृत्ति की छाया लेकर लिख डालने से ही वह ऐतिहासिक हो गया......यहाँ तक कि संयोगिता बिचारी भी अपना पांडित्य ही प्रकाश करने के यत्न में हैरान ....नाटक में पांडित्य नहीं वरन् मनुष्य के हृदय से आपका कितना गाढ़ा परिचय है, यह दर्शाना चाहिए।[1]" यह शैली एक जवाब तलब की शैली है। पर इस विवेचन में ऐतिहासिक नाटकों के स्वरूप का निरूपण हुआ है, और अपने कसौटी पर लेखक की परीक्षा आलोचक ने की है।

'बंग-विजेता' की आलोचना अधिक गम्भीर एवं संयत है। इसके आलोचक थे बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'। इन्होंने उपन्यास शिल्प की दृष्टि से बड़ी व्यापक समीक्षा प्रस्तुत की है। आलोचक ने आलोचना में अपनी सहृदयता और अपनी विवेचन शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। वह इस उपन्यास के सम्बन्ध में लिखता है—'यह हिन्दी में मनोहर और अनूठा उपन्यास बना और इसमें कोई संन्देह नहीं कि यह ग्रन्थ उपन्यास के समग्र गुणों से युक्त है।...चौथा परिच्छेद बहुत ही मनोहर है, विशेषतः सरला और अमला सी साँचे सी ढली ललनाओं की स्वाभाकिक अरसीली और भोली-भोली बाते।[2]

इस उदाहरण से यह प्रतीत होता है कि आलोचना विकास की ओर उन्मुख हो रही थी। इसमें आलोचना का व्यवस्थित और संतुलित रूप प्राप्त होता है। प्रेमघन जी ने कृति की समीक्षा पर ही अपनी दृष्टि रक्खी है अलोचना के इस प्रारम्भिक चरण में विज्ञापन-शैली का प्रभाव मिलता है। विज्ञापनों के रूप में पुस्तक परिचय में ही आलोचना का रूप धीरे-धीरे विकसित होने लगा।

---

१. हिन्दी-प्रदीप

२. आनन्द कादम्बिनी

इस काल के दूसरे महत्वपूर्ण स्तम्भ 'महावीर प्रसाद द्विवेदी' थे। इस युग में कवि व्यक्तित्व की समीक्षा पर अलोचकों की दृष्टि अधिक प्रवृत्त हुई। इसी लिए धीरे-धीरे अलोचकों में कटु प्रहार और व्यंग्योक्तियों के कसने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ने लगी। आलोचना का मूल कार्य दोष और त्रुटियों की खोज करना ही हो गया। द्विवेदी जी स्वंय एक कटु आलोचक थे पर उनकी कटु आलोचना में उनका विधायक रूप ही अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। रीतिकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियों के गंदे नाले को रोकने में द्विवेदी जी का कठोर व्यक्तित्व सहायक सिद्ध हुआ। आलोचक का उद्देश्य कवियों एवं जनता में सुरुचि का जागरण होना चाहिये। द्विवेदी जी के नेतृत्व में आलोचकों ने पहली बार इस युग चेतना को पहचानने का प्रयत्न किया। अतः आलोचना का प्रमुख उद्देश्य जीवन और समाज में सात्विक भावों की जाग्रृति करना समझा जाने लगा। द्विवेदी जी के आलोचना के आदर्शों को स्पष्ट करते हुए आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी जी ने लिखा, 'द्विवेदी जी अपनी आलोचनाओं में स्थान-स्थान पर कवियों को आदेश देते रहते हैं। यह आदेश केवल शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करके कवि-कर्म तक ही सीमित नहीं रहता अपितु इसमें काव्य के वर्ण्य-विषय, छन्दों, भाषा आदि के चुनाव तथा स्वरूप का निर्देश भी है। द्विवेदी जी ने कवि का कार्य उच्च-आदर्श का निर्माण माना। कला-कला के लिए, सिद्धान्त उनको मान्य नहीं था। कवि को वे अवतार मानते थे। मनोरंजन, उनके अनुसार काव्य का गौण गुण है। काव्य का प्रधान उद्देश्य धर्म अथवा मंगल विधान है। द्विवेदी जी की धारणा थी कि सादगी, असलियत और जोश ही उत्तम काव्य के मूल गुण हैं इन तीनों के सामंजस्य से ही काव्य आदर्श रूप को प्राप्त कर सकता है।

हिन्दी आलोचना के प्रारम्भिक काल के बाद के समय को 'मध्य-काल' के नाम से अभिहित किया जा सकता है। यह काल आलोचना की दृष्टि से अधिक परिपक्व और प्रौढ़ है। इस काल में आलोचना का शास्त्रीय रूप विकसित हुआ और निर्णयात्मक तथा तुलनात्मक आलोचना का पूर्ण विकास हुआ। इस युग के प्रमुख आलोचकों में मिश्रबंधुओं और रामचंद्र शुक्ल का नाम महत्वपूर्ण है। 'मिश्रबंधु' तीन भाइयों पन्डित गणेश बिहारी, पन्डित श्याम बिहारी और शुकदेव बिहारी का संयुक्त नाम है। इन तीनों की संयुक्त रचना 'हिन्दी-नवरत्न' और 'मिश्रबंधु-विनोद' है। आलोचना के क्षेत्र में इन दोनों ग्रंथों का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। हिन्दी नवरत्न में कवियों की आलोचना में गुण-दोष निरूपण पर अधिक दृष्टि रही है। इनकी आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता श्रेणी विभाजन है। जैसे इनके अनुसार प्रथम श्रेणी में सूर, तुलसी और देव, दूसरी में बिहारी, भूषण और केशव तथा तीसरी में मतिराम और हरिश्चन्द्र

हैं। इस प्रकार श्रेणी विभाजन द्वारा तुलनात्मक प्रणाली से कवियों की काव्य शैली का मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है। मिश्रबंधु विनोद की भूमिका में देव, बिहारी और तुलसी के कतिपय छंदों की विस्तृत आलोचना है। पर तीनों कवियों की श्रेष्ठता और श्रेणी विभाजन में उन गुणों का उल्लेख नहीं मिलता जिसके कारण देव अथवा तुलसी को बिहारी या अन्य किसी कवि से ऊँचा स्थान दिया जा सके। 'मिश्रबंधु विनोद' और 'हिन्दी नवरत्न' में आलोचना पद्धति के आधुनिक स्वरूप के दर्शन होते हैं। मिश्रबंधुओं ने संदेश और उसकी सफल अभिव्यक्ति को ही आलोचना का प्रधान आधार माना था। इसीलिए उन्होंने 'हिन्दी-नवरत्न' में कवियों के संदेश का निर्देश किया है। मिश्र-बंधु द्विवेदी जी की तरह कवियों की भाषा-सम्बन्धी दोषों को निकालने के चक्कर में नहीं पड़े। हर कवि को इसी दृष्टि से देखना वे आलोचना की छीछालेदर मानते थे। मिश्रबंधु की आलोचना में कवियों की विशेषताओं और गुण-दोष निरूपण में विश्लेषणात्मक पद्धति का आश्रय तो अवश्य लियो गया है। पर फिर भी इनकी आलोचनाओं में परिचय की प्रवृत्ति ही अधिक मिलती है। यद्यपि आलोचना विश्लेषण की ओर झुकी है, पर वह परिचय की परिधि से बाहर नहीं निकल पाई।

इस काल में आलोचना को विकास की ओर ले जाने का कार्य 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' ने किया। शुक्ल जी ने हिन्दी में 'व्याख्यात्मक' और 'निगमनात्मक समीक्षा' का श्री गणेश भी किया। वे प्रथम आलोचक हैं जिन्होंने 'प्रयोगात्मक' और 'सैद्धान्तिक' समालोचना को ऐसा मिला-जुला दिया कि जिससे वे एक दूसरे के विकास में सहायक हो गए। उन्होंने पहले कुछ सिद्धान्तो को निरूपित किया, और उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर आलोलना के मानदण्ड को स्थापित किया। इन सिद्धान्तों तक अपनी प्रयोगात्मक आलोचना द्वारा ही वे पहुँचे हैं। तुलसी, सूर आदि काव्य ग्रंथों से उन्हें कुछ सिद्धान्त प्राप्त हुए और उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर उन्होंने इन कवियों की आलोचना की। ऐसी आलोचना को ही 'निगमनात्मक आलोचना' कहा जाता है। निगमनात्मक आलोचना में प्रतिमान आलोच्य ग्रंथों के आधार पर ही निर्मित होता है। बाहर से आरोपित नहीं किया जाता।

काव्य के सम्बन्ध में शुक्ल जी के विचार पूर्णतया भारतीय हैं। उनका सैद्धान्तिक पक्ष विशेष रूप से भारतीय अलंकार शास्त्र पर आधारित है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य विचारधाराओं का भी प्रभाव शुक्ल जी पर पड़ा। शुक्ल जी की मौलिकता इस बात में निहित है कि उन्होंने विभिन्न परम्पराओं के सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया। दोनों परम्पराओं का गम्भीर अध्ययन कर अपने चिंतन द्वारा उसे आत्मसात कर लिया। अतः उनकी आलोचना में सर्वत्र उनके गम्भीर और मौलिक चिंतन की

छाप दिखाई पड़ती है। उन्होंने भारतीय सिद्धान्तों की व्याख्या की है और अपने मत के समर्थन में पाश्चात्य सिद्धान्तों को उद्धृत् किया है। वे 'ब्रैडले' आदि कलावादियों के विचारों से सहमत नहीं थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने 'रिचर्ड्स' का समर्थन किया है। वे काव्य को मनोरंजन का साधन नहीं मानते थे। उनके अनुसार ऐसा मानना काव्य के गौरव को कम कर देना है। उनकी दृष्टि में काव्य 'दूसरे लोक' की वस्तु नहीं है। काव्य के उद्देश्य पर उन्होंने २ दृष्टियों से विचार किया है—पहला है—काव्य का मानव समाज पर प्रभाव और दूसरा है—उसकी प्रेषणीयता। काव्य का जनसाधारण के लिए प्रभावोत्पादक और प्रेषणीय दोनों ही होना आवश्यक है। शुक्लजी की धारणा थी कि 'एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना ही कला का लक्ष्य होता है।

अनुभूतियों को सहृदजन के लिए प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कवि को अपने भावों को सामान्य भाव भूमि पर आधारित करना होता है। काव्य में व्यक्ति के राग-द्वेष और योग-क्षेत्र के लिए स्थान नहीं रहता है। इसे प्रेषणीय बनाने के लिए यह विभाजन आवश्यक है। इसी को साधारणीकरण कहा जाता है। शुक्लजी ने साधारणीकरण का यही अर्थ ग्रहण किया है। उनकी धारणा है कि 'जब तक किसी भाव की कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसबोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इस रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहा जाता है।[१] शुक्ल की स्थापना है कि "एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना यही कला का लक्ष्य होता है। इसके लिए दो बातें अपेक्षित होती हैं। भावपक्ष में तो अनुभूति का कवि के अपने व्यक्तिगत सम्बधों या योग क्षेम की वासनाओं से मुक्त या अलग होकर लोकमान्य भाव—भूमि पर प्राप्त होना।"[२]

शुक्लजी के मतानुसार साधारणीकरण मूलतः आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का होता है। अर्थात् कवि आलम्बन का इस प्रकार वर्णन करता है कि वह अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए भी साधारण धर्मों के कारण पाठकों के मन में वैसा ही भाव उद्बुध करता है जैसा कि काव्य प्रसंग के अंतर्गत आश्रय के मन में आता है।[३] लेकिन आलम्बन के साधारणीकरण का तात्पर्य यह नहीं है कि उसका व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाय अर्थात् वह व्यक्ति न रह कर जाति बन जाय। उसका व्यक्तित्व तो वैसे ही बना रहता है पर उसमें कुछ ऐसे गुणों का समावेश हो जाता है जिससे वह समस्त सहृदय समाज के भाव का विषय बन जाता है। अतः सीता के साधारणीकरण का तात्पर्य

१. चिंतामणि
२. चिन्तामणि
३. रस-सिद्धान्त—डा० नगेन्द्र

यह नहीं होगा कि सीता कामिनी मात्र बनकर रह जाय। साधारणीकरण की प्रक्रिया में सीता अपने शक्ति-सौंदर्य आदि सामान्य गुणों के कारण सभी के प्रेम का विषय बन जाती है। अतः आलम्बन के व्यक्तित्व के साथ उसका साधारणीकरण होना आवश्यक है। इसीलिए शुक्लजी ने अपनी मूल स्थापना में थोड़ा संशोधन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि साधारणीकरण वस्तुतः आलम्बन धर्म का होता है अर्थात् उन सामान्य गुणों का होता है जिनके कारण सीता राम को प्रिय लगती हैं।

शुक्लजी कवि में अनुभूति, भावुकता और कल्पना तीनों ही को आवश्यक मानते हैं। भावुकता कवि की अनुभूति का मूल आधार है। कल्पना कवि कर्म में सहायता प्रदान करती है। अतः उनकी धारणा है कि कवि के लिए कल्पना और भावुकता दोनों ही अनिवार्य हैं। भावुक जब कल्पना-सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखने वाला होता है तभी कवि होता है।"[१] भावुकता के कारण कवि का अन्तःकरण विशाल हो जाता है। इसीलिए शुक्लजी का मत था कि जिसमें चराचर की कल्पना से ही देखने की क्षमता आ जाती है वही वास्तव में कवि है। उनके अनुसार कवि अपने आप को किसी भी मानव स्थिति में डालकर उससे अपने हृदय को तदाकार कर लेता है। यही उसकी भावुकता है। इसी से सच्चे कवि को लोक-हृदय की पूरी पहचान होती है। वह सब प्रकार की विचित्रताओं में लोक-सामान्य हृदय को देख सकता है।[२] भावुक कवि की आँखें प्रकृति के नाना विचित्र रूपों को देखने के लिए हमेशा खुली रहती हैं। उसमें हमेशा ही प्रकृति के मृदु संगीत सुनने की क्षमता रहती है।[३] शुक्ल जी अनुभूतिहीन निरी कल्पना को काव्य का खिलवाड़ मानते हैं। केवल भाव-प्रेरित काव्य-विधायिनी कल्पना ही काव्य के लिए उपादेय है। वही काव्य की अनुभूति की सहयोगिनी है।

शुक्लजी को रसवादी आचार्य कहा जा सकता है। वे एक मात्र चमत्कार या मनोरंजन को काव्य का उद्देश्य नहीं मानते। उनके अनुसार सहृदय को सहानुभूति में तल्लीन कर देना ही काव्य का चरम लक्ष्य है। इसीलिए वे काव्य और सूक्ति में अंतर मानते हैं। उनका मत है कि ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे तो वह काव्य नहीं सूक्ति है।"[४] "जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागृत कर दे या उसे

१. काव्य में रहस्यवाद—
२. चिंतामणि
३. इंदौर वाला भाषण
४. चिंतामणि

प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो काव्य है। जो उक्ति केवल कथन के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे वह है सूक्ति।"[१]

शुक्लजी के अनुसार काव्य के तीन भेद होते हैं। पहला, जिसमें केवल चमत्कार हो दूसरा, जिसमें केवल रस या भावुकता हो और तीसरा, जिसमें रस और चमत्कार दोनों हो। शुक्लजी दूसरे प्रकार को ही काव्य का प्रकृत स्वरूप मानते थे। पहले प्रकार का काव्य उनकी दृष्टि में केवल काव्य का आभास है। इसीलिए शुक्लजी ने बिहारी और रीतिकालीन अधिकांश कवियों की रचनाओं को ऐसे उक्ति चमत्कार, अनूठेपन के कारण सूक्ति अथवा काव्य का आभास मात्र माना है। इसी मानदण्ड के आधार पर ही उन्होंने केशव को हृदय-हीन घोषित कर उनमें कवित्व का आभास माना है। इसी दृष्टिकोण को अपनाने के कारण ही वे तुलसी और सूर को आदर्श कवि मानते थे।

संस्कृत काव्य-शास्त्र में आचार्यों ने चमत्कार और वक्रता का विशेष अर्थ लिया था। इन दोनों शब्दों का संस्कृत आचार्यों ने व्यापक अर्थ में प्रयोग किया था। चमत्कार को संस्कृत आचार्य एक विशिष्ट आनन्द के रूप में स्वीकारते थे। पर शुक्ल जी ने चमत्कार का अर्थ—उक्ति चमत्कार से लगाया है जिसमें वर्ण-विन्यास की विशेषता (जैसे—अनुप्रास में), शब्दों की क्रीड़ा, (जैसे श्लेष; यमक आदि) वाक्य की वक्रता (जैसे- परिसंख्या; विरोधाभास आदि में) आदि बातें आती हैं। इस प्रकार शुक्लजी ने चमत्कार से उक्ति-वैचित्र्य का भाव ही ग्रहण किया है। वक्रता से भी उनका यही तात्पर्य था। उन्होंने उक्ति वैचित्र्य को काव्य का मूल तत्व न मानकर सहायक तत्व माना है। उनके अनुसार यह गौण वस्तु है। उनकी धारणा है कि इससे काव्य में मनोरंजन की मात्रा अवश्य बढ़ जाती है, पर इसके बिना भी तन्मय करने वाली कविता बराबर हुई है और होती है। पर इससे यह अर्थ नहीं लगा लेना चाहिये कि शुक्लजी ने उक्ति-वैचित्र्य की एकदम उपेक्षा की है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि "उमड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अकसर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है। ऐसी वक्रता काव्य की प्रेरणा के भीतर रहती है।"[२] उनका विचार है कि कवि अपने हृदय की भावानुभूति पाठक में भी उत्पन्न करना चाहता है इसलिए उसे उस वक्रता का उपयोग करना पड़ता है।[३] अतः शुक्लजी की दृष्टि समन्वयवादी थी उनके चमत्कार या वक्रता सम्बन्धी विचारों में भी रसवादी दृष्टि है। रस की दृष्टि से ही

१. वही
२. चिंतामणि
३. जायसी ग्रन्थावली

उन्होंने वक्रता के औचित्य पर विचार किया है । अतः उनके अनुसार वचन की जो वक्रता भाव प्रेरित होती है उसे ही काव्य कहा जा सकता है । भाव और वस्तु दोनों की व्यंजना में अनूठापन सम्भव है । इसे ही भावपक्ष और विभावपक्ष का अनूठापन कहा जा सकता है । उन्होंने बिहारी के विभावपक्ष में कहीं-कहीं औचित्य का उल्लंघन पाया है ! 'पत्रा ही तिथि पाइये........' आदि उक्तियों को शुक्लजी काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं मानते थे । अतः वक्रता की दृष्टि से शुक्लजी का मत समन्वयवादी' था उनके लिए काव्य में बिना भाव के वक्रता का कोई महत्व नहीं है ।

अलंकार के सम्बन्ध में शुक्लजी का विचार था कि वह वर्णन प्रणाली-मात्र है । वे अलंकार को साधन मात्र मानते थे । उनकी धारणा थी कि कविता में अलंकारों को साध्य मानने से काव्य का स्वरूप विकृत हो जाता है । काव्य के इस विकृति के उदाहरण में उन्होंने केशव की 'है शोड़ित कलित कपाल यह किंवा कापालिक काल को......'उद्धृत किया है । उनके अनुसार इसमें दूर की सूझ अधिक है । भावात्मक अभिव्यक्ति कम । अतः अलंकारों में भी रमणीयता होनी चाहिये । उनकी धारणा थी कि अलंकार भाव के सौंदर्य को बढ़ा तो सकते हैं पर एकदम असुंदर वस्तु को कभी भी सुन्दर नहीं बना सकते । जिस प्रकार कुरूपा स्त्री अलंकार लाद करसुन्दर नहीं लग सकती उसी प्रकार रमणीयता के अभाव में अलंकार काव्य को सजीव नहीं बना सकता । अतः अलंकार के सम्बंध में शुक्ल जी की दृष्टि समन्वयवादीथी । वे अलंकारों के विरोधी नहीं थे, पर केवल शाब्दिक खिलाड़ी और चमत्कार के पक्षपाती भी नहीं थे । उनका मत था कि अलंकारों का प्रयोग रसानुकूल होना चाहिये । यदि अलंकार सुन्दर अर्थ बढ़ाने की शोभा में समर्थ नहीं हैं तो उन्हें काव्यालंकार नहीं कहा जा सकता । इसी से शब्द साम्य की झड़ी लगाना वह काव्य के लिए आवश्यक नहीं मानते थे । अपनी इसी दृष्टि के कारण केशव आदि रीतकालीन आचार्यों की उन्होंने कटु आलोचना की ।

काव्य शैली के अन्य पक्षों पर विचार करते हुए शुक्लजी ने यह स्थापित किया कि काव्य की भाषा साधारण बोलचाल की भाषा अथवा शास्त्र की भाषा से भिन्न है । काव्य में केवल अर्थ ग्रहण करने से काम नहीं चलता । वहाँ बिम्ब ग्रहण करना भी आपेक्षित होता है । प्रकृति चित्रण में कवि के उद्देश्य और सफलता पर विचार करते हुए शुक्लजी ने लिखा था कि 'उसमें कवि का लक्ष्य विम्ब-ग्रहण कराने का रहता है । अंतःकरण में वस्तु का चित्र उपस्थित हो जाय यही विम्ब ग्रहण है । काव्य में इसी तत्व का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है वस्तुओं की गणना मात्र से विम्ब ग्रहण नहीं सम्भव है । उसके लिए वस्तु के संश्लिष्ट और सांगोपांग वर्णन की आवश्यकता है । विम्ब ग्रहण की सफलता इन्हीं तत्वों पर आधारित है काव्य में मूर्त पदार्थों के साथ ही साथ अमूर्त भावनाओं का भी विम्ब ग्रहण आवश्यक है । शुक्ल जी का मत है कि अगोचर

बातों या भावनाओं को भी जहाँ तक हो सकता है कविता स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है। इस मूर्त विधान में वह भाषा की लक्षणा शक्ति से काम लेती है। जैसे 'समय बीतता जाता है' कहने की अपेक्षा समय भागा जाता है कहना वह अधिक पसन्द करेगी।[१] अतः शुक्लजी का विचार था कि भावों को अधिक से अधिक प्रेषणीय बनाने के लिए और उनको अधिक सजीव एवं मूर्त रूप देने के लिए कवियों को कभी वस्तु वाचक शब्दों के स्थान पर भाववाचक और भाववाचक के स्थान पर वस्तुवाचक का प्रयोग करना पड़ता है। इससे अभिव्यंजना अधिक सजीव व सुन्दर बन जाती है। इस प्रकार जो तथ्य लाक्षणिक वक्रता का आश्रय लेकर रक्खे जाते हैं वे बहुत भव्य, विशाल और गम्भीर होकर सामने आते हैं। शुक्ल जी की इस शैली के कारण कवि काव्य में चित्रकला के समान मूर्ति-विधान कर सकता है। प्रेषणीयता के लिए उन्होंने संगीत को भी आवश्यक माना है। उनकी धारणा है कि इससे काव्य की आयु बढ़ती है। अतः नाद सौन्दर्य भी काव्य का एक सहायक अंग है। लेकिन यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि शुक्लजी छंद, नाद या लय को काव्य के लिए उपयोगी मात्र समझते हैं अनिवार्य नहीं।

शुक्लजी रसवादी थे, और उन्होंने रस को आनन्द की एक दशा माना है। पर उनकी यह धारणा थी कि आनन्द-पक्ष को अत्यधिक महत्व देने से काव्य का जीवन से सम्बंध और उसका व्यक्ति तथा समाज पर पड़ने वाला प्रभाव उपेक्षित हो जाता है। इसीलिए वे मनोरंजन अथवा आनन्द को काव्य का परम लक्ष्य नहीं मानते थे। किस्से कहानियों में मनोरंजन की क्षमता है, पर कविता को किस्से-कहानियों के बराबर मानना समीचीन नहीं। मनोरंजन अथवा आनन्द को ही काव्य का चरम लक्ष्य मानना ठीक नहीं। यदि मन को अनुरंजित करना तथा उसे सुख पहुँचाना ही कविता का लक्ष्य है तो कविता केवल विलास की सामग्री मात्र बन कर रह जायगी। यही कारण है कि रस-सिद्धान्त को मानने वाले होते हुए भी शुक्ल जी ने काव्य के उद्देश्य पर विचार करते हुए काव्य की अनुभूति पक्ष की अपेक्षा हृदय और बुद्धि पर पड़ने वाले प्रभाव की ओर अधिक ध्यान रक्खा है।

शुक्लजी के अनुसार रस-दशा हृदय की मुक्तावस्था है जो ज्ञान-दशा के बहुत समीप है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इसी साधना को भाव-योग कहते हैं तथा कर्मयोग और ज्ञान योग समकक्ष मानते हैं। इस प्रकार शुक्लजी ने काव्य को भी उपनिषद आदि के समान महत्व दिया है। उन शास्त्रों की तरह काव्य का भी उद्देश्य जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति है।

१. चिंतामणि

काव्य ही मनुष्य को संकुचित घेरों से मुक्त करती है । शुक्लजी की धारणा थी कि 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठा कर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है......इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किए रहता है ।[१] अतः शुक्ल जी ने रस दशा की तुलना हृदय की मुक्तावस्था से की है। जिस प्रकार जब जीवन को यह ज्ञान हो जाता है कि वही ब्रह्म है तो इस स्थिति में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का अंतर नहीं रह जाता है। इस प्रकार रस दशा जीव की इस मुक्तावस्था के ही समान है । इसीलिए इसको ब्रह्मानन्द सहोदर भी कहा गया है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि रस दशा मुक्तावस्था की तरह विशुद्ध अनुभूति नहीं है। इसीलिए काव्य में विशुद्ध अनुभूति का तात्पर्य केवल राग द्वेष और योग-क्षेम का लोक सामान्य हो जाना है। यही कारण है कि शुक्लजी ने "लोक सामान्य भाव-भूमि पर लाना" "सर्वभूत का आत्मभूत हो जाना" आदि वाक्यांशों को इतना अधिक महत्व दिया है। ज्ञान-दशा से रसानुभूति की तुलना करने से शुक्लजी का मतलब यह नहीं था कि दोनों का स्वरूप एक सा है। इस तुलना के द्वारा वे निर्वैयक्तिकता को स्पष्ट करना चाहते थे। अतः काव्यानुभूति की अलौकिकता से उनका तात्पर्य 'पृथक् सत्ता के भावना का परिहार' था। वे रस को स्वर्गीय अनुभूति नहीं मानते थे। उनका रस विवेचन भारतीय आचार्यों के दृष्टिकोण का ही स्पष्टीकरण है।[२].

शुक्लजी यह मानते थे कि कविता द्वारा मनोविकारों का परिष्कार हो जाता है। संकुचित, स्वार्थयुक्त भावभूमि से मुक्त होकर जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में रम जाना ही मनोविकारों का परिष्कार है । शुक्लजी के अनुसार मनोविकारों के मूल में तुच्छ स्वार्थ वृत्ति नहीं अपितु लोकमंगल की भावना ही प्रधान रहती है। इन परिष्कृत- भावनाओं द्वारा मानव अपना शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बंध स्थापित करता है।[३] इतना ही नहीं, काव्य द्वारा मानव की स्वयं की विरोधी वृत्तियों तथा बाह्य और उसके अंतर में सामंजस्य स्थापित हो जाता है।[४] लोकरक्षक रूप धारण कर लेने पर विश्व की सभी वस्तुओं में और सभी मनुष्यों में मंगलमय आत्मा के दर्शन होने लगते हैं इसीलिए इस स्थिति में विरोध का कोई स्थान नहीं रहता । क्रोध, घृणा आदि में भी सौंदर्य और मंगल की आत्मा के दर्शन का यही रहस्य है । शुक्लजी का लोकमंगल की साधना अवस्था के सौंदर्य से यही तात्पर्य था। शुक्लजी का विचार था कि काव्य का मूल उद्देश्य शील का विकास है। काव्य एक महत्वपूर्ण और सर्वांगीण साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति के शील का विकास हो सकता है । शुक्लजी की शील

१. चिंतामणि
२. हिन्दी आलोचना, उद्भव और विकास--डा० भगवत् स्वरूप मिश्र
३. चिंतामणि
४. वही।

सम्बधी धारणा बहुत व्यापक है उसमें शील, शक्ति और सौंदर्य तीनों ही का सामंजस्य है।

पश्चिम में स्थूल रूप से तीन प्रकार की आलोचना पद्धति 'का विकास हुआ। पहला, निर्णयात्मक, दूसरा, निगमनात्मक, और तीसरा, प्रभावाभिव्यंजक। पहली प्रकार की समालोचना में आलोच्य रचना के गुण-दोषों का विवेचन होता है। आलोचक के सामने एक मानदण्ड होता है और इसी मानदण्ड के आधार पर की रचना के सम्बंध में निर्णय देता है। इस प्रकार की आलोचनाओं में पाण्डित्य की आवश्यकता अधिक रहती है। दूसरे प्रकार की आलोचना अर्थात् निगमनात्मक आलोचना में विश्लेषण द्वारा आलोचना की जाने वाली रचना में से ही आलोचना का मानदण्ड निकाला जाता है। इसमें आलोचक कवि पर बाहर से आलोचना के मानदण्ड नहीं थोपता। इसमें कवि की मानसिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के साथ-साथ उसके उद्देश्य को भी समझने का पूरा प्रयास किया जाता है। अतः इसमें विश्लेषण की प्रधानता रहती है। इस पद्धति में आवश्यकता पड़ने पर आलोचक को ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक पद्धतियों का भी सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार इस पद्धति में ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि अनेक प्रकार की समालोचनाएँ अन्तर्भूत हो जाती हैं। तीसरे प्रकार की आलोचना प्रभावाभिव्यंजक होती है। इसमें आलोचक रचना के अध्ययन के फलस्वरूप अपने हृदय पर पड़े प्रभावों को व्यक्त करता है। आलोचक का हृदय ही उसमें अलोचना का मानदण्ड है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निगमनात्मक पद्धति को ही श्रेष्ठ माना है। उनकी दृष्टि में विश्लेषणात्मक आलोचना ही ऊँची आलोचना है। शुक्लजी की स्थापना थी कि समीक्षा का अर्थ अच्छी तरह देखना और विचार करना है। वह जब होगी तब विचारात्मक ही होगी।[1] वे प्रभावाभिव्यंजक आलोचना को ठीक-ठिकाने की वस्तु नहीं मानते थे। उन्होंने लिखा है, प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु ही नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कवि की आलोचना कोई इसलिए पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य का, उसके भाव को ठीक-ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले, इसलिए नहीं कि आलोचक की भावभंगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे।[2]

---

१ चिंतामणि

२. इतिहास

इस प्रकार शुक्लजी ने विश्लेषणात्मक आलोचना पर ही विशेष बल दिया है। उनकी पद्धति समन्वयवादी थी इसीलिए उन्होंने तीनों पद्धति के सामंजस्य पर अधिक बल दिया। उनकी धारणा थी कि आलोचना का सर्वाङ्गीण और सम्यक् विकास तीनों पद्धतियों के सामंजस्य से ही हो सकता है। क्योंकि विश्लेषण के बाद निर्णय देना स्वाभाविक है, इस सम्बन्ध में शुक्लजी ने लिखा कि 'सभ्य और शिक्षित समाज में निर्णयात्मक आलोचना का व्यवहार पक्ष भी है। उसके द्वारा साधनहीन अधिकारियों को यदि कुछ रोक-टोक न रहे तो साहित्य क्षेत्र कूड़ा-करकट से भर जाय। इस प्रकार शुक्लजी ने विश्लेषणात्मक समीक्षा में तीनों पद्धतियों का समन्वय और सामंजस्य आवश्यक माना। विश्लेषणात्मक आलोचना में भी उन्होंने ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक आदि पद्धतियों का आवश्यकतानुसार प्रयोग किया है। इस प्रकार शुक्लजी में आलोचना की सर्वाङ्गीण पद्धति का विकास हुआ है। कहीं कहीं आलोचना के मान में उनकी व्यक्तिगत रुचि प्रधान अवश्य हो गई है, अन्यथा उनकी पद्धति सर्वाङ्गीण और समीचीन अवश्य है। यह पद्धति ही उनकी हिन्दी साहित्य की देन है।[१]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अतिरिक्त इस युग के आलोचकों में डा० श्याम-सुन्दरदास, बाबू गुलाब राय; पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। बाबू श्यामसुन्दरदास की प्रसिद्धि का कारण उनका महत्वपूर्ण ग्रंथ 'साहित्या लोचन' है। वे सैद्धांतिक समीक्षा के ही समर्थक थे। इसी का प्रयोग साहित्यालोचन में भी किया है। उन्होंने पाश्चात्य और भारतीय सिद्धान्तों को समन्वित कर अपने निष्कर्ष निकाले हैं। उनके अनुसार आलोचक को विद्वान्, बुद्धिमान्, गुणग्राही और निष्पक्ष होना चाहिये। आलोचक का मुख्य कार्य है कि वह आलोच्य ग्रन्थ को वास्तविक रूप में देखे।

बाबू गुलाब राय के प्रसिद्ध समीक्षा ग्रंथ 'काव्य के रूप' तथा 'सिद्धान्त और अध्ययन' हैं। इन्होंने सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना प्रणालियों को अपनाया है। उनके आलोचना सिद्धान्तों में पूर्व और पश्चिम के सिद्धान्तों का समन्वय हुआ है। उन्होंने प्रचलित भारतीय मतों की अपनी दृष्टि से समीक्षा की है।

हिन्दी आलोचना के तीसरे काल को 'आधुनिक काल' कहा जाता है। इस काल में सामान्य रूप से मध्य युगीन समीक्षा पद्धतियों का ही विकास हुआ है। आधुनिक युग के प्रसिद्ध आलोचकों में आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि के नाम महत्वपूर्ण हैं।

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी—बाजपेयी जी स्वच्छन्दतावादी आलोचना पद्धति के प्रतिनिधि आलोचक थे। उन्होंने शुक्लजी के समान आलोचना के क्षेत्र में

१. हिन्दी आलोचना, उद्भव और विकास—डा० भगवत् स्वरूप मिश्र

वैचारिक प्रक्रिया पर अधिक बल दिया परन्तु पूर्व निश्चित किसी भी कसौटी पर रचना विशेष की परख करने के वे सर्वथा विरोधी थे। बाजपेयीजी ने शुक्लजी को लक्ष्य करके लिखा था 'साहित्य काव्य अथवा किसी भी कलाकृति की समीक्षा में जो बात हमें सदैव स्मरण रखनी चाहिये, किन्तु शुक्ल जी ने जिसे बार-बार भुला दिया है, यह है कि हम किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धांत को लेकर उसके आधार पर कला की परख नहीं कर सकते। सभी सिद्धान्त सीमित हैं किन्तु कला के लिए कोई भी सीमा नहीं है। कोई बन्धन नहीं है जिसके अन्तर्गत आप उसे बाँधने की चेष्टा करें (सिर्फ सौंदर्य ही उसकी सीमा या बन्धन है, किन्तु सौंदर्य की परख किसी सुनिश्चित सीमाओं में नहीं की जा सकती) इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाजपेयी जी किसी रचना के सम्यक् सौंदर्योद्घाटन और मूल्यांकन के लिए पूर्व निश्चित सिद्धांतों का समीक्षा क्षेत्र से वहिष्कार चाहते थे। इसीलिए उनके अनुसार शुक्लजी का 'लोकधर्म-सिद्धांत' श्रेष्ठ काव्य की पहचान में असफल रहा। बाजपेयी जी का कहना था कि 'उन्होंने (शुक्लजी ने) राम के निरूपण में ही रस की सत्ता मानी है, रावण में नहीं।' बाजपेयी जी के अनुसार शुक्ल जी विश्लेषण का समारोह, ऐतिहासिक अध्ययन, और मनोवैज्ञानिक तटस्थता उतनी नहीं दिखा सके जितनी सामान्य रूप से साहित्य मात्र और विशेष रूप से २०वीं शताब्दी के नवोन्मेषपूर्ण और प्रसरणशील साहित्य के लिए अपेक्षित थी। बाजपेयी जी की धारणा थी कि शुक्लजी ने स्थूल व्यवहारवाद को निस्सीम बता कर और रहस्यवाद की कनकौए से तुलना कर नवीन कविता के साथ अन्याय किया है।

बाजपेयी जी वाद निर्पेक्षता के भी प्रबल पोषक थे। उनकी स्थापना थी कि 'वाद-पद्धति पर चलने का नतीजा साहित्य में कृत्रिमता बढ़ाना, दलबन्दी फैलाना और साहित्य की निष्पक्ष माप को क्षति पहुँचाना ही हो सकता है।' उनके अनुसार किसी राजनैतिक या आर्थिक या सामाजिक सिद्धांत का लोहा मान कर उसकी चौहद्दी में बन्द हो जाना साहित्य के लिए एक बड़ी कुण्ठा है, मनुष्य के लिए भी एक पंगुकारी रोग है।

बाजपेयीजी के अध्ययन और आलोचना का प्रमुख क्षेत्र आधुनिक साहित्य ही है। उन्होंने रीतिकालीन साहित्य पर भी छुट-पुट रूप से अपने विचार प्रकट किए हैं। साधारणीकरण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा कि 'साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है केवल किसी पात्र विशेष का नहीं। इस तथ्य को न समझने के कारण ही साधारणीकरण के प्रश्न पर अनेक निरर्थक विवाद होते रहे हैं।' इस प्रकार बाजपेयीजी ने बड़े सरल शब्दों में साधारणीकरण

जैसी गम्भीर समस्या पर स्पष्ट रूप से विचार किया है। रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में उन्होंने प्रचलित सिद्धान्तों की व्याख्या की है। वे लिखते हैं–भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित रस निष्पत्ति विषयक सूत्र के आधार पर आचार्य भट्ट-लोलह ने उत्पत्ति-वाद, आचार्य शंकुक ने अनुमितिवाद, आचार्य भट्टनायक ने युक्तिवाद और आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्तिवाद को प्रधानता देकर क्रमशः जिन रूपों में अपना विवेचन प्रस्तुत किया है वह परस्पर विरोधी न होकर क्रमगत परम्परा का ही ऐसा विकास है जिसमें तत्व-उपलब्धि की चेष्टाएँ सर्वत्र अन्तभू‌ति रही हैं।'[1]

काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन करते समय बाजपेयीजी ने 'पाश्चात्य काव्यालोचन सिद्धान्तों' पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने दोनों का समन्वय कर मनो-वैज्ञानिक आधारों पर उन सिद्धान्तों की नवीन व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। उन्होंने अनु-कृति वाद का विश्लेषण और अध्ययन अरस्तू तथा प्लेटो की धारणाओं के अनुरूप करने का प्रयास किया हैं। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद पर भी उन्होंने अपने विचार प्रकट किए हैं। लैसिंग, विकैलमैन तथा काण्ट के सिद्धान्तों से वे प्रभावित थे। बाजपेयीजी ने इन सिद्धान्तों के विश्लेषण में सैद्धान्तिक आलोचना प्रणाली का प्रयोग किया है। उनकी शैली बड़ी सरल और प्रवाहपूर्ण है। भारतीय और योरोपीय काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को समझने में उन्हें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

श्लीलता और अश्लीलता के प्रश्न पर भी बाजपेयीजी ने गम्भीरता से विचार किया। उनकी धारणा थी कि 'महान् कला कभी अश्लील नहीं होती। उसके बाहरी स्वरूपों में यदा-कदा श्लीलता, अश्लीलता सम्बन्धी रूप रूढ़ आदर्शों का व्यतिक्रम भले हो और क्रान्तिकाल में ऐसा हो भी जाता है, पर वास्तविक अश्लीलता, अमर्यादा उसमें नहीं हो सकता। साहित्य सदैव सबल सृष्टि का ही हिमायती होता है।[2]

बाजपेयीजी ने हिन्दी में सौष्ठववादी 'समीक्षा-पद्धति' का पूर्णरूपेण विकास किया। उनकी पद्धति 'निगमनात्मक' है। भारतीय और पाश्चात्य आलोचना-शास्त्रों के परस्पर समन्वय से उन्होंने अपनी आलोचना पद्धति के मानदण्ड का निर्माण किया था। उनकी आलोचना पद्धति में 'व्याख्यात्मक' और 'तुलनात्मक आलोचना पद्धति' का समावेश हुआ है। 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' 'जयशंकरप्रसाद', 'सूर-संदर्भ की भूमिका' 'आधुनिक साहित्य और 'महाकवि सूरदास' आदि उनके प्रसिद्ध समीक्षा-ग्रन्थ हैं। उनकी आलोचना-शैली पूर्वाग्रहों से मुक्त है। उनके अनुसार आलोचक का मूल कार्य कला का अध्ययन और उसका सौन्दर्यानुसंधान है। बाजपेयी जी ने अपने आलोचनात्मक आदर्श का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

१. आधुनिक साहित्य—नन्ददुलारे बाजपेयी।
२. हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी—नन्ददुलारे बाजपेयी।

पहला, रचना में कवि की अन्तर्वृत्तियों (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन **(Analysis of the poetic sprit)**

दूसरी, रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता, और सृजन की लघुता–विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन (Aesthatic appreciation)

तीसरा, रीतियों, शैलियों और रचना के वाह्यांगों का अध्ययन (Study of technique)

चौथा, समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन।

पाचवाँ, कवि और व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानसिक विश्लेषण)।

छठाँ, कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन।

सातवाँ; काव्य के जीवन सम्बन्धी सामंजस्य और संदेश का अध्ययन।

इस प्रकार बाजपेयीजी ने अपने उद्देश्यों और आदर्शों को उपयोगितावादी दृष्टि से सम्बद्ध कर आलोचना को सत्प्रयास की ओर ले जाने का प्रयास किया। अपने विचारों को प्रकट करने में वे निर्भीक थे। उनकी आलोचना-पद्धति चुस्त और मार्मिक है। पर कहीं-कहीं वे आवश्यकता से अधिक कटु हो जाते हैं और तीखे प्रहार करने लगते हैं। प्रेमचन्द की आलोचना करते हुए लिखा है—'प्रेमचन्द जी एक शब्द को लेकर मजाक करने लगे—'जहाँ वाणी मौन रहती है वह साहित्य है ? वह साहित्य नहीं गूंगापन है। यदि इस प्रकार की दलील की जाय तो हम भी कह सकते हैं कि उपन्यास कहानियाँ और लेख लिखते समय क्या आपकी वाणियाँ चिल्लाया करती हैं ? आपकी किन-किन रचनाओं का कण्ठ फूट चुका है ? क्या वह आविष्कार लखनऊ में हुआ है ? जिससे साहित्यिक पुस्तकें वहीं की कुंजड़िनों की तरह वाचाल बन गई हैं।' इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि बाजपेयीजी प्रतिपक्षी को प्रश्नों की बौछार से घायल कर देने की कला में पटु थे। यद्यपि यह सत्य है कि ऐसे प्रसंगों में आवश्यकता से अधिक कड़ुवाहट आ गई है।

डा० नगेन्द्र ने बाजपेयीजी की आलोचना करते हुए लिखा है "परन्तु इनके विवेचन में एक दोष था। इन्होंने छायावाद के दार्शनिक आवरण को इतना अधिक चढ़ा दिया कि न तो वह स्वयं ही अपना आशय बिलकुल स्पष्ट कर सके और न छायावाद ही उसको वहन कर सका। इसका कारण यह था कि इन्होंने छायावाद की अधिकांश मूल प्रवृत्तियों का उद्गम प्रसाद की तरह भारतीय दर्शन को ही माना। विदेशी रोमैण्टिक स्कूल और इस युग की सामाजिक कुण्ठाओं का प्रभाव वे उचित मात्रा में स्वीकार न कर सके। इसके अतिरिक्त कलापक्ष में इन्हें जैसे कुछ कहने को ही न था।"

डा० नगेन्द्र की इस आलोचना में अधिक बल है और यह सच है कि दार्शनिकता के आयोजन से बाजपेयी जी की आलोचना बोधगम्य नहीं हो पाती। यह भी सच है कि पाश्चात्य काव्यालोचन सिद्धान्तों के प्रति उनकी उतनी आस्था नहीं थी जितनी भारतीय सिद्धातों के प्रति थी। लेकिन इतना होते हुए भी उनकी आलोचना स्वतंत्र और वैज्ञानिक थी। स्थान-स्थान पर उन्होने भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों के समन्वय पर बल दिया। हिंदी के सौष्ठववादी आलोचकों में बाजपेयीजी का नाम चिरस्मरणीय रहेगा।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का हिन्दी-क्षेत्र में उस समय प्रवेश हुआ जब कि छायावादी आन्दोलन का स्वर क्षीण पड़ने लगा और प्रगतिवाद अपने जीवन की पहली मंजिल में था।'

हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी के आधुनिक समालोचकों में हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी का स्थान महत्वपूर्ण है। द्विवेदी जी की धारणा है कि हमारे साहित्य में जितना भी आलोनना-अंश है वह यथार्थ रूप में आलोचना का स्वतंत्र स्वरूप नहीं है वरन् दूसरों की निन्दा—मात्र है। वह व्यर्थ और त्याज्य है। वास्तव में आलोचक को आलोचना स्वतंत्र रूप से करनी चाहिये किसी के दबाव में आकर नहीं करनी चाहिये या केवल प्रशंसा के रूप में भी नहीं करनी चाहिये। आलोचकों के कर्तव्य को निर्धारित करते हुए द्विवेदी जी ने स्थापित किया कि सबसे पहले आलोचक को किसी वस्तु, धर्म या क्रिया के वास्तविक रहस्य का पता लगाने के लिए अनुराग-विराग या इच्छा-द्वेष के साथ नहीं सान देना चाहिये। दूसरे, आलोचक की दृष्टि पैनी और विषय को कोने-कोने झाँकने वाली होनी चाहिये। जिस विषय को वह अपनी आलोचना का केन्द्र बनाता है उसमें उसे पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। तीसरे, आलोचकों को आलोचना करने से पूर्व ही किसी विषय के प्रति रुचि या अरुचि की धारणा नहीं बना लेनी चाहिये। द्विवेदीजी के अनुसार आलोचक एक प्रकार का न्यायधीश होता है। केवल अन्तर यह है कि न्यायाधीश बाहरी गवाहियों के आधार पर निर्णय देता है किन्तु आलोचक अपने बुद्धिजन्य विचारों से निर्णय देता है। द्विवेदीजी के अनुसार आलोचक का चौथा कर्तव्य यह है कि उसे अपना विचार सरल और स्पष्ट रखना चाहिये।

द्विवेदीजी साहित्य में 'मानवतावाद' के पोषक और उन्नायक हैं। आपकी मानवतावादी दृष्टि व्यापक और गतिमती है। आपने समस्त भारतीय साहित्य (प्राचीन और अर्वाचीन) के मंथन तथा विदेशी साहित्य के आलोड़न के बल पर अपने सिद्धान्तों को स्थिर किया है। आपकी विचारधारा आदर्शवादी थी। जिस मनुष्यता को आप साहित्य के मूल में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं वह वैराग्य, अभ्यास और सतत्

साधना के बल पर ही उपलब्ध की जा सकती है। वह एक ऐसा उच्चतम मानवीय मूल्य है जिसे भारत की आदर्श प्रधान संस्कृति ही कल्पित, स्वीकृत और प्रतिष्ठित कर सकती है।[१]

उनके अनुसार मनुष्य ही मुख्य है बाकी सब बातें गौण हैं। अलंकार, छंद, रस आदि सब का अध्ययन मनुष्य को समझने के ही साधन हैं। वे अपने आप में चरम मान्य नहीं हैं। वे लिखते हैं कि मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाक्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को पर दुःख कातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है। द्विवेदीजी ने मानवतावाद के साथ राष्ट्रीयता के महत्व को भी स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में वे मानवतावाद अविरोधी राष्ट्रीयता के समर्थक थे। उनकी धारणा थी कि मानवतावादी दृष्टि अपनी उदारता में अन्तः राष्ट्रीयतावाद के निकट पहुँच जायगी।

साहित्य समालोचक के रूप में द्विवेदी जी ने रस पर बहुत बल दिया। कालिदास के वे भक्त हैं। क्योंकि बिम्बों और भाषा के सामर्थ्य के अतिरिक्त कालिदास जितने सौन्दर्यप्रेमी हैं उतने ही वे हार्दिक भावनाओं के वर्णन में कुशल हैं। द्विवेदीजी नई कविता वालों की तरह केवल बिम्बों अथवा सर्वथा नवीन उपमान-विधान को पर्याप्त नहीं मानते। द्विवेदी जी ने दरबारों में जिस वाग्वैदग्ध्यमूलक काव्य की सृष्टि हुई थी उसके चमत्कार को भी सराहा है। उन्होंने भारतीय साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों की सुन्दर व्याख्याएँ की हैं। मात्रिक छंदों के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि मात्रिक छंदों में जहाँ काव्य-सौन्दर्य है वहाँ करुण स्वर लहरी को अभिव्यक्त करने का विशेष गुण भी। कालिदास ने करुण रस के लिए अन्य सभी वर्ण वृत्तों को त्याग कर वैतालीय वृत्त का आश्रय लिया है। पर हर वृत्त हिन्दी में 'उष्ट्रपृष्ठ वद्धिसंष्ठुलम्' जान पड़ता है। जयदेव ने वियोग शृंगार के लिए मात्रिक छंदों को ही चुना है। वस्तुतः मात्रिक वृत्त वियोग या विरह को अभिव्यक्त करने में अपनी सानी नहीं मगर कुछ ऐसे भी भाव हैं जो मात्रिक वृतों में फीके से जान पड़ते हैं।[२] अलंकारों के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि 'यह स्मरण किया जाता है कि अलंकारशास्त्र में देवादि विषयक रति को भाव कहते हैं। जिन अलंकारियों ने ऐसा कहा था उनका तात्पर्य यह था कि पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति जो प्रेम होता है उसमें एक स्थायित्व होता है जब कि किसी राजा या देवता सम्बन्धी प्रेम में भावावेश की प्रधानता होती है। वह

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं साहित्य—डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त

२. विचार और वितर्क०—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

अन्यान्य संचारी भावों की तरह बदलता रहता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं कही जा सकती है।[1]

रस और मधुर रस की चर्चा करते हुए उन्होंने यह स्थापित किया कि रस कई प्रकार के हैं सबसे स्थूल है 'अन्नमयकोश का आस्वाद रस'। रसना आदि इन्द्रियों से उपभोग्य रस अत्यन्त स्थूल और विकार प्रवण है। इससे भी अधिक सूक्ष्म मानसिक रस अर्थात् जो रस मनन या चिन्तन से आस्वाद है। उससे भी अधिक सूक्ष्म है 'विज्ञान रस' जो बुद्धि द्वारा आस्वाद है; पर यह कितना भी सूक्ष्म क्यों न हो सूक्ष्मतम आनन्द रस के निकट अत्यन्त स्थूल है। आत्मा जिस रस का अनुभव करती है वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति रस है जिसका नाना स्वभावों के भक्त नाना भाव से आस्वाद करते हैं। मधुर रस उसी का सर्वश्रेष्ठ रूप है।[2]

अलङ्कारों को द्विवेदी जी रसबोधक मानते हैं। उनकी स्थापना थी कि मेरा निश्चित मत है कि हमारे अलंकारशास्त्र रसबोध में सहायक हैं बाधक नहीं। हमें आज उन्हें प्रेरणा स्रोत के रूप में स्वीकार कर आगे बढ़ना चाहिये। वे काव्यार्थ में प्रवेश करने का मार्ग दिखाते हैं। उन्हें इसी रूप से ग्रहण करना चाहिये। सर्वोत्तम अंगों में से एक प्रतिनिधित्व करने वाले इन ग्रंथों को यों नहीं छोड़ देना चाहिये।[3] द्विवेदीजी के इन विचारों में सत्य का अंश पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होता है अलंकार निश्चय ही काव्य-सौष्ठव की वृद्धि करते हैं। पर यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि द्विवेदीजी ने अलंकारों के सन्तुलित प्रयोग पर ही बल दिया है। इसीलिए उन्हें रीतिकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त अलंकार-प्रणाली अधिक रुचता नहीं। रीतिकाल उन्हें इसलिए भी नहीं पसन्द है क्योंकि उसमें भारतवर्ष की सामान्य नारी का चित्रण नहीं मिलता। वे लिखते हैं कि रीतिकालीन कवि के निकट हमारी यही शिकायत नहीं है कि वह स्त्री-शरीर को इतना महत्व क्यों देता है, बल्कि उससे भी अधिक यह है कि उसने स्त्री-स्वरूप को सचमुच नहीं देखा 'इस प्रकार द्विवेदी जी ने भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न समस्याओं पर मौलिक ढङ्ग से विचार किया है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी कोरे नैतिक उपदेशक नहीं हैं वरन् एक गम्भीर सौन्दर्य द्रष्टा हैं। उनकी सौन्दर्य-दृष्टि ऐसी है जो अनैतिक नहीं है। जो क्षणिक सौन्दर्य पर निर्भर न होकर ऐसे सुन्दर की सृष्टि पर निर्भर है जो प्रतिक्षण नवीनता प्राप्त करता रहता है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि ऐसी नहीं थी। शुक्ल जी का नैतिक आग्रह प्यूरिटन टाइप का था इसीलिए शुक्लजी का हृदय जितना तुलसी में रमा

१. विचार वितर्क—हजारी प्रसाद द्विवेदी

२. वही।

३. साहित्य का मर्म—हजारीप्रसाद द्विवेदी

उतना सूर में नहीं। शुक्लजी को सूर का स्वच्छंदतावाद अप्रिय था। पर इस सम्बन्ध में द्विवेदीजी की धारणा भिन्न है। उन्होंने सूरदास के सूरसागर में मनोवृत्तियों के मधुर रूपान्तर की मनोवैज्ञानिक-विधि को सहज रूप में पहचाना है।

द्विवेदीजी ने हिन्दी-साहित्य के कुछ महत्वपूर्ण भ्रांतियों का निराकरण किया है। उन्होंने हिन्दी-साहित्य परम्परा का सम्बन्ध भारत की मूल चिन्तनधारा से जोड़ा है। संस्कृति के रीति और अपभ्रंश के लोक-साहित्य तथा नाथ सम्प्रदाय की विचार-धारा और वैष्णव भक्तों की भक्ति-पद्धति इन सभी का समाहार हिन्दी में हो जाता है द्विवेदीजी ने हिन्दी-साहित्य की भूमिका में इस परम्परा को एक शून्यता घोषित की है। हिन्दी की विभिन्न काव्यधाराएँ इन परम्पराओं का विकसित रूप हैं।

द्विवेदी जी की समीक्षा-पद्धति, गवेषणा के सहारे चलती है। यह तत्व उनके 'सूर-साहित्य' हिन्दी साहित्य की भूमिका और कबीर में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। बहुमुखी शास्त्रज्ञता के कारण वे रचना में जो तत्व देखते हैं उसके मूल के अनु-संधान में सदैव सक्रिय और सजग रहते हैं। इस प्रकार उनकी समीक्षा और गवेषणा साथ-साथ चलती है। वे समीक्षक ही नहीं गवेषक भी हैं। वे साहित्य का मूल्यांकन गवेषणा के आधार पर करते हैं। इसीलिए कहीं-कहीं उनकी समीक्षा में साहित्य का मूल्यांकन दब गया है और गवेषणा प्रधान रूप से मुखरित हुई है। उनका अध्ययन, मनन विशद एवं व्यापक है। इसीलिए साहित्य के मूल्यांकन में भी उनकी दृष्टि मर्मस्पर्शिनी और पैनी है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की शैली ऐतिहासिक समीक्षा-शैली है। कबीर उनकी इस शैली का प्रौढ़ उदाहरण हैं। कबीर के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने कुछ नवीन तत्वों का उल्लेख किया है। प्रायः कबीर के जाति-विरोधी विचारों को देखकर आलो-चक उन पर विदेशी प्रभाव बताते थे। पर द्विवेदी जी इससे सहमत नहीं हैं। इस प्रकार के विचारों का खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा 'कबीरदास के जाति-पाँति विरोधी विचारों को देखकर बहुत से लोगों की धारणा यह होती है कि कम से कम यह बात कबीरदास में मुसलमानी प्रभाव के कारण आयी है। किसी-किसी पण्डित को तो यह शंका भी हुई है कि ये बाते मुसलमानी धर्म-प्रचार के हथकण्डे हैं और कुछ लोग मुसल-मानी आदर्श के प्रति कबीरदास की गहरी निष्ठा का प्रभाव इन्हीं बातों में बताते हैं। ये उक्तियाँ कुछ जचती सी नहीं जान पड़तीं। जाति-वर्णन के भेद में जर्जरीभूत इस देश में जो कोई महासाधक आया है उसे यह प्रथा खटकी है। ऐसे बहुत से प्राचीन ग्रंथ हैं जिनमें जाति-भेद को उड़ा देने पर जोर दिया गया है। पर संस्कृत की पुस्तकें साधा-रणतः जातियों के लोगों द्वारा लिखी गई होती हैं जिनमें लेखक केवल तटस्थ विचारक की भाँति रहता है। स्वयं नीच कहे जाने वाले वंश में उत्पन्न नहीं होने के कारण

उनमें भुक्त भोगी की उग्रता और तीव्रता नहीं होती। सहजयान और नाथपंथ के अधिकांश साधक तथा कथित नीच जातियों में उत्पन्न हुए थे अतः उन्होंने इस अकारण नीच बनाने वाली प्रथा को दार्शनिक तटस्थता के साथ नहीं देखा। कबीरदास आदि के विषय में भी यही बात ठीक है फिर भी उच्चवर्ण के लोगों में सदा तटस्थता का ही अवलम्बन नहीं किया।'[1]

द्विवेदी जी ने बड़ी रोचक शैली में कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है। उनके अनुसार कबीर का सिद्धान्त द्वैताद्वैत-विलक्षण समत्ववाद है। वे लिखते हैं कि 'कबीरदास ने हँस कर जवाब दिया कि भला उन लड़ने वाले पण्डितों से पूछो कि भगवान् रूप से निकल गया, रस से अतीत हो गया, गुणों के ऊपर उठ गया, क्रियाओं के पहुँच के बाहर हो रहा, वह अन्त में आकर संख्या में अटक जायेगा? जो सबसे परे है वह क्या संख्या के परे नहीं हो सकता! यह कबीर का द्वैताद्वैत-विलक्षण समत्ववाद है।' इसी प्रकार कबीरदास के राम के सम्बन्ध में द्विवेदी जी की स्थापना है कि 'वह किसी भी दार्शनिक मानदण्ड से परे है तार्किक बहस से ऊपर है, पुस्तक की विद्या से अगम्य है, पर प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है सहज भाव से भाषित है। यही कबीरदास का निर्गुण राम है।[2] कबीरदास के व्यक्तित्व की सही पहचान हजारीप्रसाद द्विवेदी ने की है उनके अनुसार कबीर सिर से पैर तक मस्त मौला थे। वे सीधी बात को भी ललकारने की भाषा में बोलते थे। द्विवेदी जी लिखते हैं "ऐसे थे कबीर सिर से पैर तक मस्त मौला स्वभाव से फक्कड़; आदत से अक्खड़ भक्त के सामने निरीह; भेषधारी के आगे प्रचण्ड दिल के साफ दिमाग के दुरुस्त; भीतर से कोमल, बाहर से कठोर जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वन्दनीय।' इस प्रकार कबीर के व्यक्तित्व का मूल्यांकन द्विवेदी जी ने बहुत ही भावपूर्ण शैली में किया है। जब कबीर अपने आप को राम का कुत्ता कहते हैं और अपना नाम 'मोतिया' बताते हैं तो उस पर द्विवेदी जी की टिप्पणी देखने योग्य है। वे लिखते हैं पर मोतिया नाम है बड़ा जानदार इस नाम में ही कुत्ते की सारी निरीहता मानो दुम हिलाते हुए सामने खड़ी हो जाती है।.........परन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। सरल आदमी ही प्रचण्ड होता है। विश्वासपरायण मनुष्य ही निरीह होता है, निष्ठावान ही विनीत होता है।'

कबीर को अपनी भाषा पर पूर्णाधिकार था। इस पर द्विवेदी की टिप्पणी पाठक को मुग्ध करने वाली है। 'भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रगट करना चाहा उस रूप में भाषा

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका।
२. कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

से कहलवा लिया है, बन गया है तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा दे कर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है।' इसी प्रकार कबीर के ,काव्य के सम्बन्ध में द्विवेदी जी की स्थापना थी कि 'कवि रूप उन्हें घलुए में मिली हुई वस्तु है।' वे लिखते हैं कि 'यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस-गगरी के छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ।'

इन सब उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि द्विवेदी जी एक समर्थ आलोचक हैं। वे आलोचक के साथ ही साथ अन्वेषक भी हैं। कबीर का मूल्यांकन करते समय उनकी शैली कबीरमय हो गई है। यही कारण है कि उनका विवेचन अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़ा है।

द्विवेदी जी की समीक्षा-शैली ऐतिहासिक शैली अवश्य है पर उसमें मूल्यवादी पद्धति का प्रभाव भी बहुत अधिक है। उनकी आलोचनाएँ अध्यापक के व्याख्यान की भाँति स्पष्ट हैं। ऐसा लगता है जैसे कोई अध्यापक अपने छात्रों को कोई तथ्य एक के बाद एक स्पष्ट करता हुआ समझा रहा है। इसीलिए उनकी आलोचना शैली में बन्धन के स्थान पर उन्मुक्त गति और स्वच्छन्दता के दर्शन होते हैं। उनकी भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। यद्यपि भाषा संस्कृतनिष्ठ है पर इसके साथ ही तद्भव, देशज और सरल विदेशी शब्दों (अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि) का प्रयोग हुआ है। उनकी भाषा परिष्कृत, स्पष्ट, सुगठित और सुनियोजित है। हिन्दी आलोचना के इतिहास में द्विवेदी जी का स्थान सदैव चिरस्मरणीय रहेगा।

—❀—

अध्याय | ९

नगेन्द्र

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में नगेन्द्र का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। आधुनिक काल में वैज्ञानिक दृष्टि से शास्त्रीय समीक्षा पद्धति को विकसित करने में उनका बड़ा हाथ रहा है। काव्य शास्त्र के प्रति उनको विशेष रुचि है। इस सम्बन्ध में उनका अध्ययन भी गहन और विशद है। 'रस-सिद्धान्त' हिन्दी साहित्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ बन गया है। इसमें रस और उनके विभिन्न तथ्यों का विशद शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रस के सम्बन्ध में नगेन्द्र का मत है कि भरत पूर्व 'कामसूत्र' में ही 'रस' शब्द का रति, काम-शक्ति, शृंगारादि रस आदि के रूप में शास्त्रीय प्रयोग आरम्भ हो गया था। वे कामसूत्र को ऐहिक दृष्टि के कारण अथर्ववेद की लौकिक एवं अभिचारपरक परम्परा में रखते हुए रस-सिद्धान्त का सम्बन्ध अथर्ववेद से स्थापित करते हैं और इस क्रम को इस प्रकार प्रदर्शित करते हैं—अथर्ववेद के शृंगारपरक अभिचार मन्त्र→कामसूत्र→रसशास्त्र।[1]

भारतीय रसशास्त्र का विवेचन अत्यन्त गम्भीर है। इस विवेचन को वर्तमान आलोचना-शास्त्र की शब्दावली में नगेन्द्र ने बहुत सरलतापूर्वक समझाया है। जिससे काव्य-शास्त्र के विद्यार्थी के लिए दुर्बोध कार्य भी सरल हो गया है। उनके अनुसार भारतीय काव्य-शास्त्र की रसविषयक धारणाओं का सारांश यह है :

आचार्य	रस का स्वरूप	रस का स्थान	सहृदय का अनुभव
भरत	नाट्यकलागत भाव-सौन्दर्य	नाट्य	हर्ष विस्मय आदि
दण्डी आदि अलंकारवादी	काव्य कलागतभाव सौंदर्य	काव्य	प्राति (आह्लाद)
लोल्लट	मूलपात्रों का भावास्वाद अर्थात् काव्य वस्तुगत भाव-सौन्दर्य	मूलपात्र= काव्य-वस्तु	चमत्कार
शंकुक	अभिनयगत भाव-सौन्दर्य	नट= अभिनय	रस का अनुमान और तज्जन्य रागात्मक-कलात्मक प्रतीतियाँ

१. रस सिद्धान्त—डॉ० नगेन्द्र।

आचार्य	रस का स्वरूप	रस का स्थान	सहृदय का अनुभव
भट्टनायक	(सहृदय द्वारा) भाव सौन्दर्य की अनुभूति	सहृदय का चित्त	रस और रस का भोग= रसजन्य आनन्द
अभिनव	(सहृदय द्वारा) भाव - सौन्दर्य का आनन्द	सहृदय का चित्त	रस-आनन्द

साधारणीकरण के सम्बन्ध में नगेन्द्र के सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने साधारणीकरण का विवेचन सर्वप्रथम 'रीति-काव्य की भूमिका' में किया था। बाद में उन्होंने 'रस-सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ में इस पर अधिक सुव्यवस्थित ढंग से विचार किया है। वे काव्य-प्रसंग या रस के समस्त अवययों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि-भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान के अधिक अनुकुल समझते हैं। उनकी स्थापना है कि भट्टनायक की विषय-प्रधान धारणा और अभिनव की विषय-प्रधान धारणा दोनों के साथ इसकी संगति बैठ जाती है, वस्तुतः यह दोनों के बीच अनुस्यूत सम्बन्ध सूत्र है और वर्तमान युग में रस-सिद्धान्त के सबसे समर्थ प्रतिष्ठापक आचार्य शुक्ल को भी इसमें कोई आपत्ति नहीं है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में नगेन्द्र की यह स्थापना थी, जिसके विरुद्ध आलोचकों ने तरह-तरह की आलोचनाएँ कीं। इन सब का मुहतोड़ उत्तर नगेन्द्र ने 'रस-सिद्धान्त' में दिया है। वे लिखते हैं कि 'कुछ पण्डितवर मनोविज्ञान से ही चिढ़े हुए हैं, पर इसमें न तो मनोविज्ञान का दोष है और न मेरा।' साधारणीकरण के सिद्धान्त के विरुद्ध आलोचकों के आलोचना का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा 'इनमें से अनेक आक्षेप तो पूर्वग्रह अथवा व्यक्तिगत निष्ठा पर आश्रित हैं, अतः उनके पीछे तर्क अथवा सत्वान्वेषण का आग्रह इतना नहीं है जितना कि शुक्ल जी के प्रति अतर्क्य विश्वास तथा गुरुद्रोही के प्रति आक्रोश है। ये अबोध तार्किक और उनके मन्त्रदाता दया के ही पात्र हैं क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कहना चाहते हैं और क्या कह रहे हैं, जादू वह है जो सर पर चढ़ कर बोले। नगेन्द्र का अपने आलोचकों के प्रति दिया गया उत्तर भी जादू ही के समान सिद्ध हुआ। वे इस उत्तर से बौखला उठे, उन्होंने नगेन्द्र पर आरोप लगाया कि 'मन्त्रदाताओं तक उतर आना गाली गलौज है, 'विचारक' का कथन नहीं है।'[1]

नगेन्द्र की सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने संस्कृत आचार्यों द्वारा निर्देशित एवं स्थापित सिद्धान्तों को, आधुनिक मनोविज्ञान एवं पाश्चात्य-काव्यशास्त्र से तुलना करके, व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों को आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में मूल्यांकित किया है। जैसे भाव का विवेचन करते हुए

१. भारतीय काव्यशास्त्र के रस सिद्धान्त—आनन्दप्रकाश दीक्षित।

उन्होंने यह स्पष्ट किया कि भाव का अर्थ है काव्यगत मनोविकार। ये विकार यद्यपि लौकिक विकारों से बिल्कुल भिन्न होते हैं, फिर भी इन काव्यगत विकारों का आधार लौकिक मनोविकार ही है। लौकिक मनोविकार की धारणा के लिए वे आधुनिक मनोविज्ञान का सहारा लेते हैं। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा कि 'अनेक मनोविज्ञानी ऐसे भी हैं जो भाव के विशिष्ट रूप और उसके भेद-प्रभेदों को भी स्वीकार करते हैं; शैण्ड, सॉल, स्टाउट, अंशतः मैक्डूगल भी—और इधर जॉर्गेन्सन, विलियम्स, बर्ट आदि इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इन वैज्ञानिकों का मन्तव्यः सारतः इस प्रकार है—भावचेतना की व्यवहारशील मात्राएँ हैं—ऐसी शक्तियाँ हैं जिनके निश्चित आधार और लक्ष्य होते हैं, जिनमें कर्तृत्व की क्षमता होती है।'[1] बाद में नगेन्द्र इस सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालते हुए लिखते हैं। किन्तु, हम इस विवाद में न पड़कर यही कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में स्टाउट आदि का मत ही ग्रहण किया गया है। चेतना की पृथक सत्ता स्वीकार करने वाले के लिए यही मत ग्राह्य हो सकता है।[2]

कुछ प्रमुख मनोवेगों का भरत तथा अरस्तू के मनोवेग विवरणों के आधार पर नगेन्द्र ने तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। भय के सम्बन्ध में भरत के भय वर्णन को वे अरस्तू के भय वर्णन से अधिक पूर्ण मानते हैं। 'भरत ने भय का वर्णन इस प्रकार दिया है : वह (भय) विकृत शब्द से (अट्टहासादि से) पिशाच आदि के देखने से, शृगाल, उलूक, आदि से, दूसरों के भय और उद्वेग से, शून्य आगार, अरण्य आदि में जाने से, स्वपनों के बध-बन्धनादि के देखने, सुनने या चर्चा आदि कारणों से उत्पन्न होता है। 'स्तम्भ, स्वेद, गद्गद्, रोमांच, कम्पन, स्वरभंग, मुख का रंग उड़ जाना, शंका, मोह, दीनता, आवेग, चपलता, त्रास, मिरगी, मरण आदि उसके व्यभिचारी भाव हैं।'

भय स्त्रियों तथा नीच प्रकृति के व्यक्तियों में पाया जाता है। यह गुरु और राजा के प्रति अपराध, हिंस्रपशु, शून्य आगार, अटवी, पर्वत कन्दरादि, गज और सर्प के दर्शन, भर्त्सना, वन, दुर्दिन (मेघाच्छन्न दिन) रात्रि, अंधकार, उलूक, पिशाच आदि का शब्द सुनने तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों से उत्पन्न होता है। हाथ-पैर के कम्पन, हृदय-कम्पन, स्तम्भ, मुखशोष, जीभ चाटना, स्वेद, शरीर-कम्प, त्रास, परित्राण-अन्वेषण, भागना, चीत्कार आदि अनुभवों के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए।' नगेन्द्र लिखते हैं कि 'भरत का भय-वर्णन मनोविज्ञान के आधुनिक ग्रंथों के निरूपण से बहुत कुछ मिल जाता है। तुलना के लिए फ्लैचर का भय वर्णन देखिए—

१. रस-सिद्धान्त।

२. वही।

शरीर वैज्ञानिक आधार	मूल प्रवृत्ति	मानसिक अनुभव	मानसिक प्रवृत्ति	उद्दीपककारण (चिन्ह)	परिणामी शारीरिक प्रवृत्ति
श्वास-वेग में वृद्धि, स्वेद; पाचन क्रिया की मन्दता; अधिवृक्क ग्रंथियों की सक्रियता; वृहत्तर पेशियों में रक्त का अधिक प्रवाह ।	भय	स्तम्भ, उद्वेग, निरन्त मानसिक तनाव (स्थिति के उग्रन होने पर) (स्थिति के उग्र एवं भीषण हो जाने पर) घोर त्रास, स्थिति का सामना करने के लिए उत्कट-प्रयत्न; अत्यन्त श्रम तथा अवधान	एकान्त में अंधकार से पलायन, अपरिचित तथा एकान्त स्थानों से बचना, परिचित स्थानों तथा व्यक्तियों की खोज, परस्पर सहायता आदि की स्पृहा	अन्धकार, अन्धकार में होने वाले शब्द, गति आदि विशेषत: अपरिचित एवं अप्रत्याशित शब्द और गति आदि ।सहसा घटने वाली या चौंकाने वाली घटनाअपरिचित अनाख्येय घटनाएँ ।	जड़ता, श्वास-रोध, प्रतीक्षा का भाव;नितांत कण्ठारोध; क्रिया में सावधानता; साहसिकता के साथ शब्द या कार्य करना; त्रासपूर्वक पलायन, शायद चीत्कार भी; स्थिति सेजूझना प्राणपण से आयास करना या पूर्ण पराजय की स्थिति में हाथों या बाँहों से मुहऔर आँखों को ढाँपना आदि ।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भरत का वर्णन कितना मनोवैज्ञानिक है। विभाव के अन्तर्गत शून्य स्थान, अंधकार, विकृत शब्द, अपरिचित आकृतियों आदि का और उधर व्यभिचारी भावों तथा अनुभावों के अन्तर्गत स्तम्भ, स्वेद, गद्गद, स्वर भंग, हृदय-कम्प, शरीर-कम्प, परित्राण-अन्वेषण, त्रासपूर्वक पलायन, जड़ता, त्रास आवेग (उद्वेग), चपलता आदि का, दोनों ने साग्रह उल्लेख किया है।'[1]

इस लम्बे उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नगेन्द्र ने अपने सिद्धान्तों को पाश्चात्य और संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के परस्पर समन्वय से अपने निष्कर्षों को निकाल कर उनका सम्बन्ध आधुनिक मनोविज्ञान से स्थापित किया है। अपने सिद्धान्तों को उन्होंने पर्याप्त तर्क के साथ उपस्थित किया है तथा पश्चिमी और संस्कृत काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन कर भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में महत्व पूर्ण योगदान दिया है।

१. रस सिद्धान्त—डॉ० नगेन्द्र ।

नायिका भेद, का भी नगेन्द्र ने विद्वत्तापूर्ण विवेचन रीतिकाव्य की भूमिका में किया है। संस्कृत आचार्यों नें नायिका का वर्गीकरण मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा के रूप में किया था। इसके बाद इसके अनेक भेद और उपभेद किए गए। विश्वनाथ ने परकीया के २ भेद माने—प्रौढ़ा और कन्यका। पर भानुदत्त ने प्रौढ़ा के छः भेद माने। आगे चलकर और भी उपभेद हुए। प्राचीन आचार्यों ने नायिका-भेद के विभिन्न आधार माने हैं। इन सबका स्पष्टीकरण नगेन्द्र ने बड़े सरल रूप में इस प्रकार किया है।

१. जाति—पद्मिनी, शंखिनी आदि।

२. कर्म—स्वकीया, परकीया, सामान्या।

३. पति का प्रेम—ज्येष्ठा, कनिष्ठा।

४. वय—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा।

५. मान—धीरा, अधीरा, धीराधीरा।

६. दशा—अन्य-सुरति दुःखिता, मानवती और गर्विता

७. काल (अवस्था)—प्रोषित-पतिका, कलहान्तरिता, खण्डिता, अभिसारिका आदि

८. प्रकृति या गुण—उत्तमा, मध्यमा, अधमा।

संस्कृत आचार्यों के मत को स्पष्ट करने के बाद नगेन्द्र ने अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा कि 'वास्तव में वह सिद्धान्त अव्यक्तिक रूप में चाहे ठीक भी हो, परन्तु सामान्यतः अधिक व्यवहार्य नहीं है। क्योंकि प्रकृति की एकता प्रायः दुर्लभ है और ऊपर से एक दिखने वाली परिस्थितियों में कितनी आन्तरिक गुत्थियाँ हैं। यह हम साधारणतः नहीं जान पाते। इसकी तह में जनन-विज्ञान, समाज-विज्ञान और इसके परिणाम स्वरूप मनोविज्ञान के जाल उलझे हुए हैं।......इसके अतिरिक्त इस विभाजन में एक और स्पष्ट दोष यह है कि एक तो यह प्रेम अथवा काम-वृत्ति के बाह्य रूप को लेकर, दूसरे उसको स्वतः परिमित भी मानकर चला है। काव्य वृत्ति अपने मूल रूप में स्वतन्त्र वृत्ति अवश्य है, पर जीवन के व्यवहार तथा उसपर अन्य प्रवृत्तियों की भी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। यह 'असंदिग्ध है। हमारे नायिका-भेद में इसका ध्यान नहीं रक्खा गया उसका तो मुख्य वाक्य यही है कि सब कुछ होते हुए भी स्त्री केवल स्त्री ही है–'(A wonan is a woman for all that)' इसीलिए वह शास्त्रीय विवेचन में इतना योग नहीं दे सका जितना काव्य सृष्टि में' नायिका भेद सिद्धान्त शास्त्र न बन कर चित्र संग्रह ही बन गया है।'[1]

नायिका भेद के सम्बंध में नगेन्द्र की यह स्थापना नितान्त मौलिक है। उन्होनें समूचे नायिका भेद का मूल्यांकन मानो मनोविज्ञान के आधार पर किया है।

१. रीतिकाव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र।

काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए नगेन्द्र जी की दृष्टि तुलनात्मक रही है। उनकी 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, में यह तुलनात्मक प्रवृत्ति सर्वत्र दिखाई पड़ती है। रीति सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए वे प्लेटो, अरस्तू लाँगिनुस, दाँन्ते, पोप और स्वच्छन्दतावादी कवियों के सिद्धान्तों की भी व्याख्या करते हैं। उसी प्रकार भारतीय वक्रोक्ति सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए वे प्लेटो, अरस्तू, क्रोचे और रिचर्ड्स को नहीं भूलते। क्रोचे और कुन्तक के सिद्धान्तों में उन्होंने तुलना भी की है। इस तुलना द्वारा यह निष्कर्ष निकाला कि दोनों के सिद्धान्तों में कुछ साम्य भी है और कुछ वैषम्य भी है पर 'क्रोचे के अभिव्यंजना-सिद्धान्त का वक्रता के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। वह वास्तव में अभिव्यंजना का दर्शन है काव्यशास्त्र है भी नहीं।' इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि नगेन्द्र की दृष्टि मूलतः भारतीय ही रही है। पर वे दुराग्रही नहीं हैं। यही कारण है कि आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने पाश्चात्य काव्शास्त्रियों की सराहना भी की है।

'अरस्तू का काव्यशास्त्र' में नगेन्द्र ने अरस्तू के सिद्धान्तों की विषद चर्चा की है। अरस्तू के अनुकरण के सिद्धान्त की तुलना भारतीय आचार्य के सिद्धान्त से करते हुए उन्होंने लिखा...अरस्तू और भारतीय आचार्यों का मूल मन्वव्य तत्वतः भिन्न नहीं है। दोनों अंत में पहुँच तो एक ही स्थान पर जाते हैं, किन्तु दोनों के मार्ग भिन्न हैं–अथवा यह कहना अधिक संगत होगा कि दोनों का यात्रा-आरम्भ सर्वथा भिन्न स्थानों से होता है। अरस्तू का कवि प्लेटो द्वारा तिरस्कृत अनुकर्ता है, भारतीय आचार्य का कवि वेद वंदित 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' है–दोनों ही वस्तु सत्य से दूर हैं; अतएव अरस्तू कवि के तिरस्कार का परिशोध करने के लिए प्रयत्नशील है और भारतीय आचार्य उसके अतिरंजित स्तवन को विवेकसम्मत रूप देने के लिये। एक ने अनुकरण की हीनता का उन्नयन किया है दूसरे ने सृजन की अतिरंजना का संतुलन।'[१] इस प्रकार नगेन्द्र का मत है कि अरस्तू जहाँ काव्य को प्रकृति का अनुकरण मान कर चले हैं वहाँ भारतीय आचार्य उसे आत्मा का उन्मेष मानता है। भारतीय आचार्य का दृष्टिकोण भावात्मक है, रस जिसका परमफल है। अतः नगेन्द्र ने यह स्थापित किया कि 'यह एक बड़ा अन्तर है जो भारतीय काव्य-शास्त्र के गौरव का द्योतक है।' अतः यह कहा जा सकता है कि नगेन्द्र ने भारतीय सिद्धान्तों की श्रेष्ठता को ही प्रतिपादित किया है। वे पश्चिमी चिंतकों के काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण को महत्वपूर्ण मानते हैं, पर उनसे वे आतंकित नहीं हैं। इसीलिए उन्होंने लिखा है कि अरस्तू विश्व काव्यशास्त्र के अग्रणी आचार्य हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र–डा० नगेन्द्र

विद्यार्थी को श्रद्धापूर्वक उनके सिद्धान्तों का मनन करना चाहिये, किन्तु उसके मन में किसी प्रकार का आतंक अथवा हीन भाव नहीं रहना चाहिये क्योंकि उसकी अपनी परम्परा निश्चय ही समृद्ध, गम्भीर और पूर्ण है।'[1] अतः यह स्पष्ट हुआ कि नगेन्द्र तथ्यों के ग्रहण में बड़े निर्भीक और संतुलित दृष्टिकोण के अनुयायी हैं। उन्होंने भारतीय आचार्यों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों की निर्भीकता से परीक्षा की उन सिद्धान्तों को आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर कसा जहाँ भारतीय आचार्य इस कसौटी पर खरे उतरते हैं वहाँ उन्होंने उनकी प्रशंसा की। जहाँ भारतीय आचार्य सफल नहीं होते, वहाँ आलोचना भी की। इसीलिए नायिका भेद के पूरे विवेचन को उन्होंने मात्र 'चित्र संग्रह' कहा। क्योंकि उनकी धारणा थी कि वहाँ हमारा आचार्य मनोवैज्ञानिक और शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन में अधिक समर्थ नहीं हुआ। नगेन्द्र मौलिक विचारक के रूप में सामने आते हैं। उनका 'रस सिद्धान्त' २० वीं शताब्दी का काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है जिसे किसी भी शास्त्रीय ग्रंथ की कोटि में रक्खा जा सकता है।

आधुनिक साहित्य के सम्बन्ध में नगेन्द्र की आलोचना बहुत महत्वपूर्ण है। उनकी पहली आलोचना पुस्तक सुमित्रानन्दन पंत पर प्रकाशित हुई। इसे आलोचना के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण प्रयोग समझना चाहिये। बाद में इसी शैली का विकास 'संकेत एक अध्ययन' में देखने को मिलता है। जिस प्रकार नगेन्द्र जी का समीक्षा चिन्तन सूक्ष्म एवं कोमल है उसी प्रकार उनकी भाषा भी अत्यन्त स्वच्छ एवं परिमार्जित है। उनकी भाषा अत्यधिक कोमल एवं प्रभावशाली है। इसका कारण उनकी काव्यात्मक शैली है साकेत एक अध्ययन की निम्न पंक्तियाँ दर्शनीय हैं 'दाम्पत्य के उपरांत वात्सल्य का स्थान है। दाम्पत्य गृहस्थ जीवन का मूल है—वात्सल्य उसका फूल है। वहाँ आत्माओं का एकीकरण है और यहाँ आत्मा का विभाजन अथवा प्रतिफलन—आत्मा वै जायते पुत्रः।' नगेन्द्र की शैली वर्णनात्मक और प्रभावशाली है। काव्य का मूल्यांकन उन्होंने स्वयं काव्य में प्रवेश करके किया है। साकेत का मूल्यांकन करते समय वे समयानुकूल उसके कथानक और भावनाओं में अच्छी तरह पैठ कर उस पर विचार किया है। बनवास के प्रसंग में कौशल्या के पुत्र स्नेह एवं साकेतकार द्वारा वर्णित तत्कालीन स्थिति का रहस्योद्घाटन करते हुए नगेन्द्र कहते हैं—'कौशल्या का पुत्र स्नेह कुछ कुछ दशरथ से मिलता जुलता है।...उसका हृदय दूध के समान स्निग्ध और स्वच्छ है। इसीलिए तो राम के मुख से यह सुनकर भी कि—

मुझको वास मिला वन का,
जाता हूँ मैं अभी वहाँ
राज्य करेंगे भरत यहाँ
'माँ को प्रत्यय भी न हुआ' इसीलिए भय भी न हुआ, यह सरल साधु हृदय की

१. अरस्तू का काव्य शास्त्र— डा० नगेन्द्र

तात्कालिक स्थिति का बड़ा सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्र है किसी अनिष्ट की बात एक साथ सुनकर मनुष्य विश्वास नहीं करता और जब तक किसी बात पर प्रत्यय न हो, अर्थात् जब तक कोई बात हृदय में प्रविष्ट न हो, तब तक उससे डरना ही क्या ? वे हँसकर कहने लगीं—

लक्ष्मण यह दादा तेरा—धैर्य देखता है मेरा।
परन्तु जब उन्होंने देखा कि—ऐं लक्ष्मण तो रोता है।
तो उनका भोला वात्सल्य एक साथ चीत्कार उठा—
ईश्वर, यह क्या होता है।'

इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नगेन्द्र की आलोचनात्मक शैली बहुत सक्षम और प्रभावशाली है। काव्य का विवेचन करते समय उसके प्रत्येक पक्ष को विस्तार से सामने रखकर, कवि के दृष्टिकोण, विचार तथा उद्देश्य के प्रति सहानुभूति रखते हुए ही उन्होंने आलोचना की है। उनकी शैली चित्रमयी है। कहीं-कहीं उनकी आलोचना में हास्य का भी पुट मिलता है। ऐसे हल्के फुल्के स्पर्श एक ओर तो वर्णन में प्रवाह ले आते हैं, दूसरी ओर विषय की गम्भीरता के रंगों को हल्का करते हैं। नगेन्द्र स्वयं विनोद प्रिय हैं और गम्भीर से गम्भीर वार्तालाप के बीच में कभी-कभी ऐसी बात कह देते हैं कि सुनने वाले खिलखिला कर हँस पड़ते हैं और वातावरण में एक नया रंग आ जाता है। साकेत का मूल्यांकन करते समय वनवास के समय मार्ग की स्त्रियों के प्रसंग का विवेचन करते हुए लिखते हैं मार्ग की स्त्रियों के यह पूछने पर कि :—

'शुभे तुम्हारे कौन उभय ये ज्येष्ठ हैं'

सीता—'He is Mr. Ram my husband' यह नहीं कहती किन्तु बड़े लाघव से संकोच की रचना करते हुए कहती हैं—'गोरे देवर श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं।'

नगेन्द्र की आलोचना अत्यन्त निर्भीक है। उन्होंने किसी भी रचना की आलोचना पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर नहीं की। यही कारण है कि कामायनी का विवेचन करते समय उनकी दृष्टि उसके दोषों की अन्वेषणा में अच्छी तरह से रमी है। कामायनी की प्रतिष्ठा एवं गरिमा से उनकी आलोचक दृष्टि चकाचौंध नहीं हो गई है। उन्होंने अपनी दृष्टि से उसकी आलोचना की है। वे लिखते हैं—'कामायनी के शिल्प विधान में निश्चय ही अनेक छिद्र रह गए हैं—उसका वस्तुशिल्प अपनी पूर्णता को नहीं पहुँच सका; उसकी आधारभूत प्रकल्पना में जो अखंडता है, उसका प्रतिफलन वस्तु विन्यास में नहीं हो पाया—अंगों की समन्विति कई जगह टूट गई है; अभिव्यंजना में अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं जो व्याकरण और काव्यशास्त्र की कसौटी पर खरी नहीं

उतरतीं; कुछ बिम्ब अधूरे रह गए हैं--अलंकार छिन्न भिन्न हो गए हैं; शब्दों के फूलों की जाली में पंत के कोमल स्पर्श की साज सँवार नहीं हैं; कहानी में मैथिलीशरण गुप्त की प्रबन्ध-कला की गठन और प्रवाह नहीं है—आदि आदि।' इस प्रकार नगेन्द्र ने निर्भीकतापूर्वक कामायनी के कलात्मक दोषों की ओर आलोचकों का ध्यान आकर्षित किया है। वे प्रथम आलोचक हैं जिन्होंने कामायनी के दोषों तथा उससे सम्बन्धित अन्य विवादों पर प्रकाश डाला। उन्होंने कामायनी को आधुनिक हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक विवादास्पद रचना म नी है। पर साथ साथ यह भी स्वीकारा है कि '...और विवादों के रहते हुए भी कदाचित सबसे महान उपलब्धि है।' इस प्रकार निर्भीकता के साथ ही साथ निष्पक्षता भी उनकी आलोचना का मूल अंग समझना चाहिये।

नगेन्द्र में व्यंगात्मक वाक्चातुर्य की प्रचुरता मिलती है। उनका व्यंग तीखा और कड़वा नहीं है, यद्यपि प्रभावशाली है। अपनी वाक्-विदग्धता से वे हृदय पर हल्की सी चोट कर देते हैं। प्रसाद के नाटकों का दोष बतलाते हुए वे लिखते हैं— 'अनेक स्थानों पर नाटककार को घटनाओं की गतिविधि सँभालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिए उसे या तो वांछित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाड़कर उपस्थित कर देना पड़ता है—अथवा किसी का जबरजस्ती गला घोटना पड़ा है।'[१]

नगेन्द्र ने कहीं-कहीं पर उर्दू मिश्रित मुहावरों एवं वाक्यों का अत्यन्त ही सजीव एवं जीवन्त प्रयोग किया है। रामकुमारवर्मा की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं—'ऐसा वहाँ हुआ है जहाँ लेखक या तो नैतिक उपदेश के चक्कर में पड़ गया है, या जबान के चटखारे ले उठा है। आज के नाटककार...जिन्दगी के चहारदीवारों के चारों ओर घूमते हैं।' यहाँ पर जबान के चटखारे तथा जिन्दगी की चहारदीवारी आदि वाक्य दर्शनीय हैं।

नगेन्द्र का हिन्दी समालोचना के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान है। उनका सैद्धांतिक पक्ष अत्यंत विकसित, प्रौढ़ एवं तर्कसम्मत है। काव्यशास्त्र के व्याख्याकारों में आचार्य शुक्ल के बाद उन्हीं का स्थान है। उनकी मौलिकता इस बात में निहित है कि उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन कर उनके निष्कर्षों को आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर कसने का प्रयास किया है। आलोचना की दृष्टि से उनकी शैली मौलिक होते हुए भी भावात्मक है। उनकी आलोचना प्रायः समन्वयात्मक हो रही है। उनमें गहन चिन्तन और मौलिक सूझ-बूझ है। उनकी भाषा सरल और आलंकारिक है।

—❀—

१. आधुनिक हिन्दी नाटक

अध्याय | १०

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का जन्म अगस्त १९१५ में हुआ था । आधुनिक हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में वार्ष्णेय का स्थान महत्वपूर्ण है। उनकी 'पश्चिमी आलोचना शास्त्र' को हिन्दी आलोचना का ज्योति-स्तम्भ कहा जा सकता है। आलोचना और पाश्चात्य सिद्धान्तों का उन्होंने सैद्धान्तिक विश्लेषण एवं विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार आलोचक एक कुशल माली के समान है। जिस प्रकार माली झाड़-झंखाड़ साफ कर उद्यान को सुन्दर बनाता है उसी प्रकार सच्चा समालोचक किसी साहित्यिक कृति के सम्बन्ध में केवल मत स्थापन तक ही अपने को सीमित नहीं रखता वरन् वह अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा कलाकार के जीवन सम्बन्धी सहज ज्ञान की अभिव्यक्ति और उसके विभिन्न रूप समझने की चेष्टा करता है ।[1] वार्ष्णेय की स्थापना है कि कला का जो सिद्धान्त उसके इस कार्य में सहायता नहीं पहुँचाता उसके लिए कोई महत्व नहीं रखता। आलोचक जीवन का आंतरिक साम्य ढूँढ़ता है । वार्ष्णेयजी का विचार है कि आलोचक का प्रधान कर्तव्य साहित्य-सौन्दर्य स्वयं देखकर उसे दूसरों को दिखाना है। वह पाठकों को यह बताता है कि कवि या कलाकार की कल्पना में मानव हृदय का कौन सा पक्ष सुन्दरता के साथ व्यक्त हुआ है। वार्ष्णेय जी के अनुसार सड़ी गली और सस्ती रचनाओं के ढेर में से जीवन का मर्मस्पर्श करने वाली रचनाओं को पाठकों के सम्मुख रखना आलोचक का कर्तव्य है। भले ही बहुत से आलोचक इस कठिन कार्य को सम्पन्न करने में असफल रहते हों क्योंकि प्रायः महान् रचनाओं के सामने आलोचना फीकी भी पड़ जाती है।

वार्ष्णेय आलोचना के आदर्शवादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं। वे आलोचना को निर्माण और दिश-निर्देशन की ओर अग्रसित करना चाहते हैं। उनके अनुसार आलोचना का उद्देश्य साहित्य में सौन्दर्य के अस्तित्व का अन्वेषण है। समालोचक के कर्त्तव्य का निर्देश करते हुए उन्होंने लिखा कि 'समालोचक लेखक के दृष्टिकोण, मत आदि को ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि पृष्ठभूमि के साथ उदारता और सहानुभूति पूर्ण दृष्टि से गवेषणा करता है।'[2] इससे यह स्पष्ट है कि वे आलोचक

१. पश्चिमी आलोचना शास्त्र—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

२. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य'—डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ।

के लिए सहृदय होना आवश्यक मानते हैं। आलोचक का उद्देश्य कटु प्रहार या मात्र गाली गलौज करना ही नहीं है। उसे गुण-दोष का विवेचन सहृदयता के साथ करना चाहिए।

कविता के सम्बन्ध में वार्ष्णेय का मत है कि 'वास्तव में काव्य एक कला है जिसका सीधा सम्बन्ध सार्वभौम और कल्पना से अनुरंजित मानवीय भावों से है। तथा जिसकी अभिव्यक्ति संगीतमय छंदयुक्त भाषा के माध्यम द्वारा होती है।[१] उनकी यह धारणा है कि रचना कैसी भी उपदेशात्मक एवं शिक्षाप्रद क्यों न हो उन्हें काव्य की कोटि में जाने के लिए भावोत्तेजन की विशेषता का उनमें होना अनिवार्य है। काव्य को सत्य का प्रतिपादन तो करना ही होता है पर भाव का परिष्करण भी एक प्रकार की शिक्षा है। इसलिए वार्ष्णेय उपदेशात्मक एवं शिक्षाप्रद रचना जो काव्य की दृष्टि से कितनी भी अच्छी क्यों न हों, उसे उस कोटि में नहीं रखते जिस कोटि में मानवीय क्रिया-कलाप और भावों से सम्बन्धित रचना रक्खी जायगी। वे लिखते हैं कि हिन्दी में रहीम और वृंद की रचनाएँ क्या सूर, तुलसी, देव और बिहारी की रचनाओं के समकक्ष रक्खी जा सकती हैं? वार्ष्णेय काव्य को एक ऐसी कला मानते हैं जिसका सम्बन्ध अन्ततोगत्वा जीवन से है। इसीलिए वे अर्नाल्ड के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं कि कविता जीवन की समीक्षा है। उनकी स्थापना है कि श्रेष्ठ काव्य एक युग का नहीं युग-युग का होता है क्योंकि जीवन अखण्ड है।

रीतिकालीन कवियों के सम्बन्ध में उनका मत है कि वास्तव में रीति-विषयक कविताओं में शुद्ध शृंगार है जिसे मुगलकालीन भोगविलास पूर्ण दरबारी जीवन का आश्रय मिला। उन्होंने स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का वर्णन करते हुए उनके पार्थिव जीवन का निदर्शन किया। नायक-नायिका भेद मूल रूप से स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध को ही विवेचित करता है। अतः वार्ष्णेय जी का विचार है कि जो लोग उससे घृणा प्रकट करते हैं वे स्वयं को मानव प्रकृति से अभिज्ञ सिद्ध करते हैं। संस्कृत साहित्य में नायक-नायिका वर्णन था ही। वह काव्य शृङ्गार रस के अन्तर्गत था। शृङ्गारी कवियों ने उसे सहर्ष अपनाया?

छायावाद के सम्बन्ध में वार्ष्णेय जी की धारणा है कि छायावाद में कवि विश्व के कण-कण में प्राणों की छाया देखता है और उसमें व्यक्तिवादी धारणाएँ प्रकट की जाती हैं। उसमें विषय नहीं, स्वयं कवि और उसका राग-विराग प्रधान हो जाता है। उसमें कवि का अंतरंग जीवन होता है। वे लिखते हैं कि 'छायावाद

१. पश्चिमी आलोचना-शास्त्र—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।

में कवि की आत्मानुभूति मन की गति तक सीमित है। और दार्शनिक पक्ष में जिज्ञासा कौतूहल और विस्मय तक।[1]

प्रगतिवाद को वार्ष्णेय ने दो रूपों में देखा है। एक व्यापक। दूसरा, सीमित या साम्प्रदायिक। उनका विचार है कि अपने विशिष्ट अर्थ में प्रगतिवाद मार्क्सवाद का ही साहित्यिक रूपांतर है। प्रयोगवाद के सम्बन्ध में वार्ष्णेय का मत है कि—वैसे यह शब्द अपने-आप में बेइमानी है। क्योंकि प्रयोग कभी वाद नहीं हो सकता। और प्रत्येक काव्य प्रवृत्ति के ह्रास के बाद नवीन प्रयोग होते ही हैं। प्रयोगवाद के प्रति वार्ष्णेय अधिक उदार नहीं हैं। जो ठीक भी है क्योंकि वे मानते हैं कि कवि जो किसी प्रयोग के झमेले में पड़कर सीधी-सादी भाषा एवं शैली में भाव व्यक्त करते हैं वे श्रेष्ठ हैं। वे उन कवियों को अधिक अच्छा समझते हैं जिनमें कोई कुण्ठा या 'न्यूरोसिस' नहीं है, जिनके जीवन में न तो 'मकड़ी के जाले हैं', न 'छिपकलियाँ', न 'नाबदान के गिलगिलाते हुए कीड़े' हैं, और न जिनका जीवन 'दो उँगलियों में दबी सस्ती सिगरेट के जलते टुकड़े' की तरह है जो चन्द लहमों में नाली में फेंक दिया जायगा[2]। काव्य के सम्बन्ध में वार्ष्णेय की निश्चित धारणा है कि उसे राष्ट्र तथा समाज के हित का भी ध्यान रखना चाहिए। इसीलिए कविता पर स्पष्ट रूप से लांछन लगाते हुए वे लिखते हैं कि 'अमृत' के स्थान पर 'गरल' वितरित करना सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से कहाँ तक कल्याणप्रद हैं।[3] इससे यह स्पष्ट है कि वार्ष्णेय कविता को किसी वाद से बाँधकर रखने के हिमायती नहीं है। वे काव्य को समाज या राष्ट्र के लिए कल्याणकारी मानते हैं'। आधुनिक हिन्दी की सड़ी गली कविता और उनके नए विचित्र तथा गन्दे उपमानों से राष्ट्र और समाज का हित नहीं हो सकता। इसीलिए उन्होंने लिखा 'क्या हिन्दी का कवि 'नीलकण्ठ' नहीं बन सकता ?[4] इससे यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि वार्ष्णेय साहित्य और जीवन को अलग अलग कर देखते हैं। उनकी धारणा है कि 'साहित्ययुगीन जीवन से असंपृक्त नहीं रह सकता। महान साहित्यकार जीवन से ही रस ग्रहण करता है। किन्तु उसे केवल आधुनिक 'फ़स्ट्रेशन' से सम्बद्ध करना, उसे ग्राम्य भाव से देखना है।' इससे यह स्पष्ट है कि वे काव्य और जीवन में गहरा सम्बन्ध मानते हुए भी केवल जीवन के कुण्ठाओं और वासनाओं के ही चित्रण के पक्षपाती नहीं हैं। उनके अनुसार

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य। डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास ,, ,, ,,
३. बीसवी शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए संदर्भ—डॉ० वार्ष्णेय
४. वही ।

कवि को नीलकण्ठ के समान समाज का गरल पी कर उन्हीं तथ्यों का भावनात्मक दृष्टि से चित्रण काव्य में करना चाहिए जो राष्ट्र तथा समाज के लिए कल्याण-कारी हों।

कवि कर्म का निर्देश करते हुए वे लिखते हैं 'कि समझ में नहीं आता कि कलाकार या कवि किस प्रकार अपने को राजनीतिक अंकुश से चालित होने पर बाध्य कर सकता है। उसके अपने काल के राजनीतिक वाद-विवादों में पड़ने से,' बूर्ज्वा कल्चर या 'प्रोलेतारियन कंलचर स्थापित करने के झमेले में पड़ने से, राज्य की किसी अस्थिर संगठित शक्ति के सामने सिर झुका कर चलने से अपने साहित्यिक मूल्य को नीचे गिरा देना होगा। अपने व्यक्तित्व का बलिदान देना होगा। ऐसा किये या हुए बिना नहीं रह सकता। किसी अनुचित अनुशासन या दबाव के सम्मुख नतमस्तक होने को अपेक्षा अपने व्यक्तित्व की रक्षा करने में अपना बलिदान कर देना कहीं अधिक मानवोचित है। कवि को अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं होने देना चाहिए। उसका कर्त्तव्य समग्र मानव जाति की चिरंतनता को अपने अन्तर्लोक के प्रकाश से प्रकाशित करना है।[१] अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि वार्ष्णेय साहित्य में वाद से चिपटे रहना उचित नहीं समझते। क्योंकि मतवादों और सिद्धान्तों के प्रचार के चक्कर में कवि अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है। वह जीवन को छोड़कर रूस और चीन की प्रशंसा में उलझ कर रह जाता है।

उपन्यास के सम्बन्ध में वार्ष्णेय की धारणा है कि वह यथार्थ मानव अनुभवों एवं सत्य का आकलन है। यह जीवन की एकता तथा अपूर्णता में समग्रता स्थापित करने का प्रयत्न करता है।[२] वार्ष्णेय उपन्यास की आलोचना करते समय बल इस बात पर देते हैं कि लेखक जीवन का अपना अनुभूत सत्य और समाज और राष्ट्र का व्यापक सत्य जो उसकी रचना में छनकर आता है, से पाठक अपना परिचय स्थापित करता है या नहीं। उनकी धारणा है कि कविता में शब्दों पर अधिक बल दिया जाता है और उसमें एक प्रकार की अपार्थिवता रहती है। उपन्यास हमारे परिचित समाज व्यक्तियों और तथ्यों का चित्रण करता है। तभी तो उपन्यास पढ़ने के उपरांत हम कह उठते हैं कि 'ऐसा ही होता है।' इस प्रकार वार्ष्णेय साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा उपन्यास में जीवन की यथार्थता, सत्यता, आवश्यकताएँ सम्भावनाएँ और स्वतन्त्रता, व्यक्तित्व और मूल्यों का निरूपण अधिक होता है। उनकी धारणा है कि जानते हुए भी हम जिन बातों को नहीं जानते उन्हें उपन्यासकार अभिव्यक्ति प्रदान कर हमारे समक्ष साकार बना देता है।[३] अतः उनके अनुसार अच्छे

१. साहित्य चिन्तन—डा० वार्ष्णेय।

२. हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ—डा० वार्ष्णेय।

३. वही।

उपन्यास की पहचान यह है कि उसके पठन-पाठन में किसी कल्पित कथा का नहीं, अपने नित्य-प्रति के देखे और जीये जाने वाले जीवन का आभास हो। उनके अनुसार उपन्यासों में मानव जीवन की समग्रता यथार्थ परिवेश में चित्रित होना चाहिये। इसी-लिए वे मानते हैं कि उपन्यास और मानव जीवन में अन्तर नहीं रह जाता।

वार्ष्णेय का विचार है कि उपन्यास का कार्य केवल सस्ता मनोरंजन करना नहीं है। पर वह ये भी नहीं मानते कि उपन्यासो का कार्य सिद्धान्तों की शास्त्रीय व्याख्या है। ऐसा मानने वालों पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं कि 'पर जब कुछ लोग यह कहते हुए सुने जाते हैं कि उपन्यासों का काम जीवन के सिद्धान्तों की शास्त्रीय व्याख्या एवं विश्लेषण कर एक आदर्श प्रस्तुत करता है तो हँसी आये बिना नहीं रहती। अतः वार्ष्णेय की यह धारणा है कि उपन्यास उपदेश (प्रीचिंग) देना नहीं है। उपदेश देना किसी संस्था, सुधारक या किसी सम्प्रदाय का उद्देश्य हो सकता है पर उपन्यास का नहीं। इसीलिए उनकी निश्चित धारणा है कि उपन्यास जब सन्देश देने और आदर्श स्थापित करने की धुन में रचे जाते हैं तो वे अपना वास्तविक अर्थ खो देते हैं। उनका महत्व समाप्त हो जाता है। अतः उनके अनुसार उपन्यास का कार्य मनोरंजन के साथ-साथ जीवन के यथार्थ, उसकी कटुता एवं भयंक-रता से परिचित कर स्वस्थ्य दृष्टि देना है।

हिंदी आलोचना के क्षेत्र में वार्ष्णेय का महत्व इस बात में निहित है कि उन्होंने आलोचना के सिद्धान्तों को स्थापित किया और उसके आधार पर अपने युग की कृतियों का मूल्यांकन किया। उपन्यास के सम्बंध में उन्होंने जो सिद्धान्त स्थापित किया उसी के आधार पर हिंदी उपन्यास का विवेचन किया। वे प्रेमचंद को इसलिए महान नहीं मानते क्यो कि वे सुधारक या 'आदर्शवादी थे। वरन् इसलिए महान् मानते हैं क्योंकि प्रेमचंद ने यथार्थ को कही भी तिरस्कृत नहीं किया उनके अनुसार गोदान को पढ़ जाना उस सारे पिछले युग को पढ़ जाना है। साथ ही वह नवयुग का प्रथम गम्भीर उद्घोष है वार्ष्णेय की दृष्टि बड़ी पैनी है। वे अन्य आलोचको की भाँति गोदान को कृषक जीवन का महा काव्य नहीं मानते। उनका कहना है कि गोदान को केवल कृष्क जीवन का महाकाव्य मानना मकान का एक खण्ड देखना है। वार्ष्णेय की धारणा है कि यह मानना कि गोदान में नेतागिरी बिलकुल नहीं है, ठीक नहीं है। वार्ष्णेयजी के अनुसार गोदान का महत्व इस बात में है कि 'हम कुछ भी न पढ़ें, केवल गोदान पढ़ कर १९३६ तक के भारतीय जीवन की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।'[1] उनकी धारणा है कि इसीलिए गोदान को हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम 'मील का पत्थर' माना जा सकता है। उनके अनुसार प्रेम चंद ने अत्यन्त कौशल

1. हिंदी उपन्यास उपलब्धियाँ—डा० वार्ष्णेय

और कलात्मक ढंग से उपन्यास साहित्य की पूरी परम्परा को अपनी भुजाओं में लपेट लिया है।

इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि वार्ष्णेय ने प्रेमचंद के केवल कटु यथार्थवाद को ही देखा है। उन्होंने प्रेमचंद के स्वप्न को भी अच्छी तरह से देखा समझा है। वे लिखते हैं कि 'किन्तु प्रेमचंद खोखलेपन के चित्रण तक ही अपने को सीमित रखने वाले कलाकार नहीं थे। वे स्वप्न दृष्टा भी थे। उन्होंने गोदान में नवोत्थित भारत का स्वप्न देखा है। कहना तो यह चाहिये कि उन्होंने अपने आदर्श के सुनहरे पर्दे की पीठिका में ही अपने समय तक के भारत का चित्र प्रस्तुत किया है।[1] स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के प्रश्न पर वार्ष्णेय ने प्रेमचंद को पूर्णतः आदर्शवादी और श्रेष्ठ भारतीय परम्पराओं का पोषक माना है। इस सम्बन्ध में वार्ष्णेय की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने प्रसाद और प्रेमचंद को एक स्तर पर देखा है। उनकी धारणा है कि 'प्रेमचंद के नारी सम्बन्धी विचार प्रसाद के विचारों से साम्य रखते हैं, जो एक प्रकार से भारतीय नवोत्थान की देन है।'[2]

वार्ष्णेय निष्पक्ष और सजग आलोचक हैं। इसी से आज कल के लम्बी लम्बी भूमिकाओं के लिखने और यथार्थ का'चित्रण का दम्भ भरने वाले उपन्यासकारों को उन्होंने संदेह की दृष्टि से देखा है। वे लिखते हैं कि यथार्थपरक चित्र उपस्थित करने की उत्कट प्यास नए लेखकों में उतनी नहीं थी, जितनी आधुनिकता का मसीहा बन जाने की। इस मसीहापन ने विगत दो दशाब्दियों में हिन्दी उपन्यासों की जितनी दुर्गति की है, उतनी सम्भवतः किसी अन्य प्रवृत्ति ने नहीं।' आधुनिक युग के लेखकों के दम्भ की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि '.........यह भी हमें बिना हिचक स्वीकारना होगा कि नवलेखन को लेकर नई पीढ़ी में जितना शोर शराबा है और जितने लम्बे चौड़े वक्तव्य प्रायः दिए जाते हैं उतनी सत्यता लेखन में नहीं है।[3]

कहानी के सम्बन्ध में वार्ष्णेय का मत है कि कहानी में केवल एक कथा होती है, प्रासंगिक कथाएँ नहीं होतीं। इसमें जीवन का व्यापक वर्णन नहीं, वरन् जीवन के किसी अंग विशेष पर प्रभाव डाला जाता है। यह दृश्य चित्रण (Land Scape painting) न होकर एक स्नैप शॉट मात्र है। कहानीकार जीवन के किसी एक कोने में झाँकता है। पात्र के चरित्र का चित्रण करते समय वह सम्पूर्ण चरित्र का चित्रण नहीं करता, वरन् चरित्र के किसी एक विशेष अंग का चित्रण करता

१. हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ—डा० वार्ष्णेय।

२. वही।

३. वही।

है। बहुत सी कहानियों में तो चरित्र का चित्रण होता ही नहीं। शैली की दृष्टि से आधुनिक कहानी, निबन्ध, एकांकी आदि के समीप है। इसके अतिरिक्त कहानीकार उत्सुकता, बहुत कम पात्र, बहुत कम चरित्र, बहुत कम घटनाओं एवं प्रसंगों द्वारा कथानक, चरित्र, प्रभाव, वातावरण आदि की सृष्टि करता है। व्यर्थ की बातें या कथोपकथन का इसमें कोई स्थान नहीं होता। वास्तव में कहानी लिखना रेल की पटरी पर दौड़ना है।[1]

आजकल चल रहे नई कहानी के बारे से वार्ष्णेय सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि 'हिन्दी कहानी में तथ्य तथा कथन दोनों ही दृष्टियों से अनेक परिवर्तन हुए हैं, पर उसे नई की संज्ञा देना उचित नहीं है।[2] वार्ष्णेय यह मानते हैं कि यद्यपि हिन्दी के आधुनिक कहानीकारों में सामाजिक यथार्थ को और मानव जीवन की विभिन्न समस्याओं को उसके बहुविधीय परिपार्श्व में चित्रित करने का प्रयत्न किया है। पर उनकी यह धारणा है कि आत्मपरक विश्लेषण की तुलना में उसका स्वर सशक्त नहीं बन पाया है। उनके अनुसार वह एक नारा मात्र बनकर रह गया है। इसीलिए वे यह मानते हैं कि इस युग में मात्र नारेबाजी ही की प्रधानता रही है। उन्होंने लिखा है कि, 'यह देखकर मैं बिना किसी संकोच के कह सकता हूँ कि तमाम लम्बी-चौड़ी बातों के बावजूद हम प्रेमचंद जैसा व्यक्तित्व उत्पन्न करने में असफल रहे हैं।'

वार्ष्णेय एक सजग और निर्भीक आलोचक हैं। उनकी 'आधुनिक कहानी का परिपार्श्व' कहानी के आलोचना के लिए एक महत्वपूर्ण कृति है। इसमें बड़ी सजीवता सजगता से तुलनात्मक दृष्टि को अपनाते हुए उन्होंने हिन्दी कहानियों का विवेचन किया है। अपनी इस पुस्तक की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट लिख दिया कि मैं गालियों और गजरों दोनों का स्वागत् करूँगा।' यह वाक्य वार्ष्णेय की निर्भीकता का प्रतीक है। और यह सच भी है क्योंकि 'नई-कहानी' के युग में जब कि सब कहानी के नयेपन के दावों में मदान्ध हो रहे हैं वार्ष्णेय मात्र ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने इस प्रचलित वाद का बौद्धिक विश्लेषण किया और यह निष्कर्ष निकाला कि इसे नया कहना ठीक नहीं है। इस पुस्तक के प्रकाश से हिंदी जगत् में खलबली मच गई। यह पहली पुस्तक है जिसमें 'नई कहानी' को नई चुनौती मिली है! उनका मत है कि 'शायद कुछ लोग जबर्दस्ती कहानी को दलबन्दी की कीचड़ में खींच लाना चाहते हैं और वे जानबूझ कर उसके साथ 'नई' शब्द जोड़ते हैं। वार्ष्णेय ने 'उसने कहा था' के सम्बंध में यह लिखा है कि 'यह कहानी निश्चित रूप से एक जमीन तोड़ती

१. हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ—डॉ० वार्ष्णेय
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—डॉ० वार्ष्णेय
३. आधुनिक कहानी का परिपार्श्व—डॉ० वार्ष्णेय

है।[1] उनकी धारणा है कि इन सब नवीनता के बाद भी उसे 'नई-कहानी' के रूप में मान्यता क्यों नहीं दी गई! वे लिखते हैं कि 'नए शिल्प, नई भावधारा, अभिनव कलात्मक कौशल, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण एवं मानस के विश्लेषण, वातावरण के बारीक से बारीक रेशों को भी यथार्थता से उभारने की प्रवृत्ति और सारी पृष्ठभूमि को यथार्थ के नए रंग देने की आकुलता, सब मिलाकर यह हिन्दी की एक चिरस्मरणीय कहानी ही नई बन गयी वरन् एक नई दिशा का सूत्रपात्र भी करती है। वार्ष्णेय को आश्चर्य इस बात का होता है कि जिस युग में कहानियों को मूल भावधारा भिन्न थी उस युग में देश प्रेम, राष्ट्रीयता, आदर्श-प्रेम आदि का संगुम्फन निश्चित रूप से विलक्षण है। वे इस कहानी के सम्बंध में निष्कर्ष निकालते हुए और नई कहानीकारों पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं कि सैनिक वातावरण अथवा युद्ध को पृष्ठभूमि को लेकर मैंने आज तक इतनी प्रभावशाली कहानी नहीं पढ़ी। नई का दावा करने वाले कहानीकारों की पीढ़ी में स्वदेश पर तीन-तीन आक्रमण हुए,.........क्या नृशंस हत्याओं, मानव-संहार और युद्ध की भयंकर गति ने हमारे किसी भी नये कहानीकार को प्रभावित नहीं किया। वार्ष्णेय की धारणा है कि जो एकाध कहानियाँ युग के संदर्भ को लेकर प्रकाशित हुई भी, वे युद्ध का आभास हैं युद्ध नहीं है। अतः इस युद्ध दृष्टि से वार्ष्णेयजी के अनुसार गुलेरीजी की 'उसने कहा था' कहानी आज भी महान् है और नई कहानी को यह चुनौती स्वीकार कर गतिशील होना है।

वार्ष्णेय के अनुसार नया शब्द 'नया' शब्द हिन्दी में बदनाम हो गया है। 'नया' और 'नई' शब्दों से साम्प्रदायिकता और दलबन्दी की बू आती है। इसी दलबन्दी के कारण बहुत से लोग 'नई कविता' और 'नई कहानी' को समकक्षता की तुला पर तोलने लगते हैं। वार्ष्णेय की धारणा है कि उनके इस कृत्य पर मुग्ध हुए बिना नहीं रहा जाता। उनके अनुसार जीवन कविता के पीछे रहता है लेकिन कहानी के आगे रहता है। जिस दिन कहानी जीवन को आगे कर नहीं चलेगी उस दिन वह मर जाएगी। कहानी कविता के वजन की चीज नहीं—हो भी नहीं सकती। इस प्रकार वार्ष्णेय ने एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर प्रकाश डाला कि कविता को कहानी से जोड़ा नहीं जा सकता। ऐसा करना दलबन्दी का प्रतीक है। क्योंकि कहानी अपने में स्वतंत्र और पूर्ण कला है। वह जीवन के गम्भीरतम क्षणों को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है। वार्ष्णेय के अनुसार इस कला में जीवन की अद्भुत पकड़ है। उसके द्वारा जीवन के जटिलपरत सफलतापूर्वक उघाड़े जा सकते हैं। वह जीवन से अपने ढंग से जूझती है। इस प्रकार कविता से कहानी को अलग कर उन्होंने कहानियों के स्वरूप पर निष्पक्षरूप से विचार कर यह सिद्ध कर दिया कि 'नई कविता' को 'नई कहानी' से नहीं जोड़ा जा सकता। ऐसा करना दल

१. आधुनिक कहानी का परिपार्श्व—डॉ० वार्ष्णेय।

बन्दी का प्रतीक है। इससे सिद्ध हुआ कि वार्ष्णेय उन आलोचकों में से नहीं हैं जो प्रचलित हवा में बह जाय। वे उन आलोचकों में हैं जो प्रचलित हवा के थपेड़ों को सहकर उसका उचित मूल्यांकन करते हैं। उनके व्यक्तित्व की इसी प्रखरता ने 'नई कहानी' के आचार्यों और लेखकों के लिए समस्या उत्पन्न कर दी। और अब वार्ष्णेय के विचारों से प्रेरित होकर बहुत से आलोचक 'नई कहानी' के नयेपन पर संदेह करने लगे हैं।

कहानियों के क्षेत्र में वार्ष्णेय ने प्रेमचन्द को ही सर्वश्रेष्ठ कहानीकार मानते हैं। उनका मत है कि प्रेमचन्द जैसा व्यक्तित्व आधुनिक युग में हम उत्पन्न न कर सके। प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विशेषता वार्ष्णेय के अनुसार यह है कि वे कभी शिल्प-चमत्कार के चक्कर में नहीं पड़े। प्रेमचन्द के पास कहने के लिए सीधी सादी यथार्थ बातें थीं, जिन्हें गढ़ने या काल्पनिकता को यथार्थ का रंग देने के सायासपन की कोई आवश्यकता न थी। उनके पास जीवन तत्वों की भरमार थी, जिन्हें यथार्थ की वाणी देना उसका काम था। वार्ष्णेय का मत है कि जिनके पास कहने को कुछ नहीं होता, वस्तुतः गढ़ने या यथार्थता का आभास दिलाने की दिशा में पच्चीकारों की आवश्यकता उन्हें ही हैं। प्रेमचन्द की भाषा के सम्बन्ध में वार्ष्णेयजी का मत है कि प्रेमचन्द ने पहली बार भाषा को यथार्थ स्वरूप देकर उसे व्यापक रूप देने का प्रत्येक किया। जिससे तत्कालीन कहानी साहित्य को अभूतपूर्व लोकप्रियता पाने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया। वार्ष्णेय की धारणा है की भाषा को मुहावरेदारी एवं खानी से ओजस्वी तथा प्राणवान बनाने, अर्थ की गरिमा से पूर्ण करने और मर्यादित रूप देने का बहुत बड़ा श्रेय प्रेमचन्द की हो है। यहीं विशेषताएँ उनकी कहानियों को अर्थवत्ता को गम्भीर बनाती हैं। अतः वार्ष्णेय का मत है कि 'प्रेमचन्द की कहानियों में 'नयेपन' की वे सारी विशेषताएँ लक्षित होती हैं, जिन्हें आधुनिक कहानी के 'नयेपन' के दावे में प्रायः सिद्ध करने को चेष्टा की जाती है। नई कहानी के युग में प्रेमचन्द को नया कहना एक बड़े साहस का प्रतीक है। जिस समय कहानीकार और तथाकथित 'नई' वाद के आचार्य प्रेमचन्द को पुराना कह अपने को नया घोषित करने का प्रयास कर रहे थे। उस समय एक आलोचक का यह कहना कि गुलेरीजी और प्रेमचन्द में भी 'नयापन' है, वास्तव में बहुत बड़ी बात है।

वार्ष्णेय ने तुलनात्मक पद्धति के स्थान पर आश्रय ग्रहण किया है। रेणु के महत्व को उन्होंने स्वीकारा है। पर जब रेणु को आलोचक प्रेमचन्द के समकक्ष रखना चाहते हैं तो वार्ष्णेय बरस पड़ते हैं। वे लिखते हैं कि—लेकिन जब कुछ लोग प्रेमचन्द और रेणु की तुलना करते हुए रेणु को प्रेमचन्द के समकक्ष सिद्ध करने की सायास चेष्टा करने लगते हैं, तो 'मुग्ध' हुए बिना नहीं रहा जाता। वार्ष्णेयजी का मत है कि प्रेमचन्द जैसी मानवीय संवेदनशीलता, यथार्थ को उजागर करने की

समर्थता और मानव-मूल्यों एवं सामाजिक दायित्व के निर्वाह की भावना को आत्मसात कर पूर्ण ईमानदारी से दिशोन्मुख होने की दिशा में रेणु को अभी एक लम्बी यात्रा तय करनी है। जबकि उनकी यात्रा के सम्बन्ध में दस वर्ष भी व्यतीत नहीं हुए, उनकी कला ने गम्भीर चिन्ह उपस्थित कर दिये हैं।[१]

नैतिक मूल्यों के सम्बन्ध में वार्ष्णेय की दृष्टि पूर्णतया भारतीय है। उनके अनुसार सत्य, शिवं, सुन्दर की भावना आधुनिकता से कहीं अधिक शक्तिशाली है। उनकी धारणा है कि 'हमारे नए कहानीकारों को यह स्मरण रखना चाहिए, क्योंकि भारत अन्ततोगत्वा भारत ही रहेगा, न्यूयॉर्क वाला अमरीका, प्राग वाला चेकोस्लोवाकिया या लन्दन वाला ब्रिटेन नहीं बन जाएगा।[२]

मानवीय नैतिक मूल्यों के संदर्भ में आजकल की कहानियों पर विचार करते हुए वार्ष्णेय ने यह स्थापित किया कि गत दस वर्षों में सेक्स के सम्बन्ध में हमारे ये नए कहानीकार सीरा के पर्याप्त अंशों का अतिक्रमरा कर काफी आगे बढ़ गए हैं। वार्ष्णेय की धारणा है कि स्त्री-पुरुष के सेक्स सम्बन्धों, तनाव एवं कटुता, मानसिक असंतोष आदि को लेकर पहले भी बहुत कहानियाँ लिखी गयी थीं। जैनेन्द्रकुमार और 'अज्ञेय' की कहानियाँ इस सम्बन्ध में बड़ी सूक्ष्मता से प्रस्तुत की गयी थीं। उसके अनुसार आजकल की कहानियों में से सेक्स के पिछले स्तर को उठाने में संकोच नहीं किया गया है। लेस्वियन्स की भावना लेकर अर्थात् एक स्त्री का दूसरी स्त्री से प्रेम करना और आपस में ही कामभावना की तुष्टि करना—इन कहानीकारों ने एचनाएँ की'।[१] इस सम्बन्ध में वार्ष्णेय ने राजेन्द्र यादव की 'प्रतीक्षा' कहानी की चर्चा की है। जिसमें पाठकों को यह समझाने का प्रयास किया गया है कि काम-भावना की तुष्टि स्त्रियाँ आपस में ही कर सकती हैं और पुरुषों को स्त्रियों के सम्बन्ध में उदार होकर सचेत हो जाने की आवश्यकता है। नहीं चेतेंगे, तो विवाह के संस्था का ढाँचा भरभरा कर टूटते देर नहीं लगेगी आखिर विवाह संस्था मात्र सेक्स पर ही तो आधारित है 'न' इसके अतिरिक्त अन्य कहानियों ने मूल्य बोध की चर्चा करते हुए वार्ष्णेय ने यह लिखा कि श्रीकान्त वर्मा की सारी प्रयत्नशीलता जीवन के घिनौने सत्य को पाने तक ही सीमित है, जैसे मानव-जीवन की यही पूर्णता है,......निर्मल वर्मा 'अन्तर' में एक औरत की ब्लीडिंग का चित्ररा 'रसमय' ढंग से करते और पीड़ामय अनुभूति उत्पन्न करने में संलग्न होते हैं। तो मोहन राकेश 'जख्म' में टूटे हुए' आदमी को मदिरा पिलाकर सांत्वना दिलाने की चेष्टा करते हैं। इस संदर्भ में एक समसामयिक कहानी का उल्लेख करते हुए वार्ष्णेय लिखते हैं कि उसमें एक पति अपनी माता या पिता को सीढ़ियों से ढकेल कर रक्तपात है, क्योंकि उसे अपनी पत्नी से संभोग करने का अवसर नहीं मिलता'।' वार्ष्णेयजी के अनुसार

१. आधुनिक कहानी का पार्श्व— डॉ० वार्ष्णेय

२. वही।

यह सभी कहानियाँ जीवन के घिनौने सत्वों को खोजने में लगी हुई हैं। उनके अनुसार इन कहानीकारों में 'प्रत्येक कुण्ठा, निराशा एवं घुटन को लेकर सेक्स से जोड़ दिया है और वे अपने को अधिकाधिक संकुचित करते गए जिससे ह्रासोन्मुख एवं प्रतिक्रियावादी तत्वों को अधिक प्रश्रय मिलने लगा और कहानियों का समूचा दौर एक स्वरूप विन्दु से प्रारम्भ होकर विघटनकारी दिशा की ओर अप्रत्याशित रूप से मुड़ गया।[२]

आधुनिक कहानीकारों की यह मूल्य दृष्टि वार्ष्णेय को पसन्द नहीं है। उनका मत है कि वास्तव में समाज में सारी आधुनिकता के बावजूद सारे मूल्य सेकन्ड कुंठा एवं निराशा से ही सम्बन्धित नहीं होते। प्रत्येक चीज की अपनी एक सीमा होती है। लेखक का काम संकेत देना होता है, किसी अवांछनीय स्थिति का रहस्यमय या विस्तार से चित्रण करना नहीं।' वार्ष्णेय कोरे यथार्थवाद या कोरे आदर्शवाद के समर्थक नहीं हैं। उनकी दृष्टि समन्वयात्मक है। कहानी में यथार्थ का चित्रण हो, पर आदर्श के मूल्य पर नहीं। वार्ष्णेयजी का मत है कि समाज सभ्यता एवं संस्कृति ने कुछ आचार संहिताएँ बनाई हैं जिनका मनुष्य जाति पालन करती है, जिनसे साहित्य अछूता नहीं रह सकता। अतः उनके अनुसार कलाकार का यह कर्त्तव्य है कि वह उन्हीं स्थितियों को उजागर करने का प्रयत्न करे, जो समाज के व्यापक परिवेश में उपयोगी सिद्ध हों और मर्यादा के नए प्रतिमान स्थापित करें। इस प्रकार मूल्यबोध के सम्बन्ध में वार्ष्णेय की दृष्टि मूल्यवादी ही है। वे यथार्थ चित्रण को मानवीय उच्च मूल्यों के साथ सम्बद्ध करके देखना चाहते हैं।

निबन्ध के विषय में वार्ष्णेय की धारणा है कि निबन्ध प्रयोग या प्रयास मात्र है वह न तो दर्शन और विज्ञान है और न तो कविता उसमें विषय बहाना मात्र रहता है। निबन्ध का आकार लघु और विस्तार भार विहीन होना आवश्यक है। निबन्ध में लेखक का व्यक्तित्व अवश्य व्यक्त होना चाहिए। उनकी धारणा है कि लेखक का व्यक्तित्व प्रकाशन अथवा आत्मप्रकाशन निबन्ध-रचना की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता कही जाय तो अनुचित न होगा। निबन्ध स्वगत कथन के रूप में होता है। इस सम्बन्ध में वार्ष्णेय लिखते हैं—'......'निबन्ध लेखक पाठकों से कुछ नहीं छिपाता वह उनके साथ आत्मीयता और घरेलूपन स्थापित करता है। स्वगत् कथन के रूप में अथवा साफ-सुथरी बात-चीत के रूप में निबन्ध का एक-एक शब्द और एक-एक वाक्य उसके व्यक्तित्व के रस में पगा रहता है। वह सम्भाषण कला में निपुण रहता है।'[१] निबन्ध रचना में लेखक का अहं रहना आवश्यक है। वार्ष्णेय के अनुसार वह अहंवादी होता है लेकिन बुरे अर्थ में नहीं। उनकी धारणा है कि जिस निबन्ध में लेखक के अहं से सिक्त व्यक्तित्व नहीं है वह सच्चा साहित्यिक निबन्धकार नहीं कहा जा सकता।

---

१. आधुनिक कहानी का परिपार्श्व—डॉ० वार्ष्णेय
२. वही।

वार्ष्णेय द्वारा दिए गए निबन्ध की इस व्याख्या ने हिन्दी साहित्य का बहुत कल्याण किया, नहीं तो निबन्धों के क्षेत्र में बड़ा अनाचार फैला हुआ है। जिसे हम कहानी, कविता, उपन्यास या नाटक नहीं कह पाते और भ्रम से निबन्ध कह देते हैं। इसी भ्रम के कारण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का बलिया का लेक्चर प्रेमचंद के साहित्य पर दिए गए भाषण और रामचंद्र शुक्ल के भारतेन्दु हरिश्चंद्र आदि सभी को निबन्ध कह दिया जाता है। पर वार्ष्णेय द्वारा निबंध की स्थिति को स्पष्ट कर दिये जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्हें हम निबंध नहीं कह सकते। निबंध और लेख में अंतर होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि वार्ष्णेय के निबंध सम्बन्धी विचारों ने हिन्दी साहित्य में निबंध सम्बंधी फैली हुई भ्रांतियों का निराकरण किया।

नाटकों के सम्बंध में वार्ष्णेय का विचार है कि नाटकों की कुछ अपनी सीमाएँ होती हैं उनके अनुसार घटना विस्तार चरित्र-चित्रण, प्रभाव समय और स्थान की दृष्टि से नाटक अनेक बंधनों में जकड़ा हुआ होता है। हिंदी नाटक साहित्य पर दृष्टिपात करते हुए वार्ष्णेय ने यह बताया है कि हिन्दी में एक साधु अभिनयशाला के न होने से पाठ्य साहित्य के विकास की गति एक विशेष दिशा की ओर मुड़ रही है, अर्थात् ऐसे नाटकों का निर्माण होता रहा है जो साहित्यिक आनन्द की दृष्टि से तो सुन्दर रचनाएँ हैं किन्तु रंगमंच की दृष्टि से दोषपूर्ण हैं। मेरा विचार तो यह है कि आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य पर विचार करते समय केवल रंगमंच पर ही ध्यान नहीं रखना चाहिए। इस प्रकार वार्ष्णेय की दृष्टि समन्वयवादी है और हिन्दी नाटक साहित्य में उन्होंने प्रसाद को श्रेष्ठ नाटककार माना है। उनकी धारणा है कि 'प्रसाद के नाटकों में युगधर्म को अपनी भुजाओ में भरे हुए जीवन की अनुपम मादकता और सौंदर्य है।' वे लिखते हैं कि 'प्रसाद के नाटकों के सम्बंध में प्रेमचंद ने गड़े मुर्दे उखाड़ना कहा था जो बिल्कुल गलत था। नाटक लिखकर प्रसाद ने पलायनवादी या शुतुर्मुग वाली प्रवृत्ति का द्योतन नहीं किया था। सच तो यह है कि भारतीय जीवन के जिस भव्य-निर्माण का स्वप्न प्रसाद ने देखा था वह स्वप्न उनके नाटकों के रूप में साकार हो उठा। भारतीय संस्कृति के विशाल पृष्ठभूमि में उन्होंने आधुनिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया।' [२]

हिन्दी आलोचना के विकास में लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वे सर्वप्रथम ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने पहले साहित्य के विभिन्न विधाओं का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है तत्पश्चात् उन्हीं शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर पूरे हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन किया है। 'पश्चिमी आलोचनाशास्त्र वह शास्त्रीय ग्रंथ है जिसमें निर्भीकतापूर्वक उन्होंने सभी साहित्यिक रूपों के स्वरूप को विश्लेषित किया है। 'हिन्दी उपन्यास, 'उपलब्धियाँ', हिन्दी उपन्यासों का मूल्यांकन करने वाला महत्वपूर्ण

---

१. पश्चिमी आलोचनाशास्त्र—डा० वार्ष्णेय

२. बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए संदर्भ—डा० वार्ष्णेय

ग्रंथ है। उसी प्रकार 'आधुनिक कहानी का परिपार्श्व' हिन्दी कहानियों की दिशा और शिल्प पर प्रकाश डालती है। 'बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए संदर्भ' समूचे हिन्दी साहित्य और विशेष रूप से काव्य और नाटक साहित्य का मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी आलोचकों में वार्ष्णेय ही एक ऐसे विशिष्ट आलोचक हैं जिनकी रचनाओं में सभी साहित्य रूपों का निष्पक्षता एवं गम्भीरतापूर्वक विवेचन हुआ है। डा० वार्ष्णेय की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने अपने को किसी वाद से नहीं जोड़ा। वे स्वतंत्र चिन्तक और आलोचक हैं जिन्हें 'गालियों और गजरों' की परवा नहीं, और यही कारण है कि उन्होंने अपने मत बड़ी निर्भीकता के साथ प्रस्तुत किए हैं। 'नई कविता' और 'नई कहानी' के युग में यह सिद्ध करना कि इसमें कोई नयापन नहीं है उनकी निर्भीकता का ही परिचायक है। यही नहीं आधुनिक कहानीकारों की तुलना में गुलेरी और प्रेमचन्द को नया कहना बड़े साहस का काम है। भाषा के सम्बन्ध में वार्ष्णेय दुराग्रही नहीं हैं। उन्होंने भाषा को संस्कृतनिष्ठ या क्लिष्ट बनाने का प्रयास नहीं किया है। वे भाषा में मुहावरे यानी, रवानगी और ज़िन्दादिली के समर्थक हैं। उनकी भाषा सरल और प्रवाहमय है। आवश्यकता पड़ने पर अंग्रेजी और उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया है। उनकी शैली बड़ी स्पष्ट और सम्प्रेषणीय है। 'उनकी आलोचना शैली में प्रोफेसर की तरह बातों को समझाते हुए चलने की प्रवृत्ति है।'[१] वार्ष्णेयजी को ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति अधिक प्रिय है। इस पद्धति में उन्होंने रस प्रणाली का अत्यंत संतुलित प्रयोग किया है। वे मात्र 'कला-कला के लिए सिद्धान्त के पोषक नहीं हैं। उन्होंने मानवीय मूल्यों को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इसीलिए वे आधुनिक हिन्दी कवि को 'नीलकण्ठ' बनने की सलाह देते हैं। क्योंकि उनकी धारणा है कि अमृत के स्थान पर गरल वितरित करना सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टि से ठीक नहीं है। इससे यह सिद्ध है कि वार्ष्णेय की आलोचना पद्धति पूर्ण और समन्वयात्मक है। आधुनिक हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में उनके जैसा व्यक्तित्व कोई दूसरा नहीं है। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में नगेन्द्र का स्थान अवश्य महत्वपूर्ण है पर उनकी दृष्टि सीमित है। उनका विवेचन मात्र कविता से ही सम्बन्धित है। उनकी प्रवृत्ति मूल रूप से संस्कृत काव्यशास्त्र में ही रमी है। पर वार्ष्णेय की दृष्टि सीमित नहीं है। वे आलोचक हैं। उनकी रचनाओं में सभी साहित्यिक रूपों का मूल्यांकन और विवेचन हुआ है। आलोचना की दृष्टि से देखा जाय तो वार्ष्णेय की तुलना में कोई दूसरा आलोचक ठहर नहीं पाता। अतः निश्चित रूप से उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ आलोचक कहा जा सकता है।

---

१. हिन्दी आलोचना का विकास—डा० सुरेश सिन्हा

अध्याय | ११

आलोचना की प्रणालियाँ

प्राचीन भारत में आलोचना की अनेक प्रणालियाँ थीं। योरोप में भी समय-समय पर अनेक प्रणालियाँ प्रचलित रही हैं और अब भी हैं। आधुनिक हिन्दी आलोचना में अधिकतर प्राचीन और आधुनिक पाश्चात्य रूप का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। ऐसे तो यह कहा जा सकता है कि जितने प्रकार के साहित्यिक विषय होंगे उतने प्रकार की 'आलोचना प्रणाली' भी होगी। किसी कृति की आलोचना करते समय आलोचक किन बातों का विशेष रूप से ध्यान रखता है और किन तथ्यों का वह स्पष्टीकरण करना चाहता है, यह इस बात पर निर्भर रहता है कि उसके मन पर उस रचना की क्या प्रतिक्रिया हुई है। इसी प्रतिक्रिया पर आलोचना का स्वरूप भी निर्भर रहता है। अतः आलोचना की विभिन्न प्रणालियों का जन्म आलोचक के दृष्टिकोण से सम्बंधित है।[1] आलोचना के वर्गीकरण की समस्या का सम्बन्ध इसी दृष्टिकोण से है। यह दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक, काल्पनिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, व्याख्यात्मक, तुलनात्मक, रचनात्मक, प्रभावाभिव्यंजक, समाजवादी या कलावादी कुछ भी हो सकता है। हिन्दी में आज कल अनेक प्रकार की आलोचना प्रणालियों का प्रयोग हो रहा है जिनमें से प्रमुख निम्न हैं–

१. ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली।
२. व्याख्यात्मक आलोचना प्रणाली।
३. निर्णयात्मक आलोचना प्रणाली।
४. नैसर्गिक आलोचना प्रणाली।
५. परिचयात्मक आलोचना प्रणाली।
६. तुलनात्मक आलोचना प्रणाली।
७. जीवन-वृत्तांतीय आलोचना प्रणाली।
८. गवेषणात्मक आलोचना प्रणाली।
९. शास्त्रीय आलोचना प्रणाली।
१०. सिद्धांत-प्रधान आलोचना प्रणाली।
११. अनुभवात्मक आलोचना प्रणाली।
१२. रचनात्मक आलोचना प्रणाली।
१३. वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली।

---

१. हिन्दी आलोचना का विकास––डॉ० सुरेश सिन्हा।

१४. प्रभावाभिव्यंजक आलोचला प्रणाली ।
१५. अभिव्यंजनावादी आलोचना प्रणाली ।
१६. मनोविश्लेषणात्मक आलोचना प्रणाली ।
१७. प्रगतिवादी आलोचना प्रणाली ।

१. **ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली**—जब किसी कृति की व्याख्या के लिए व्याख्याता लेखक के समय के इतिहास का तथा उससे पहले के इतिहास का सहारा लेता है तो उसकी आलोचना प्रणाली ऐतिहासिक कहलाती है।[1] इस आलोचना पद्धति के द्वारा किसी रचना से सम्बद्ध इतिहास की खोज की जाती है। इतिहास के खोज से तात्पर्य यह है कि उस रचनाकार के समय की राजनैतिक, सामाजिक; दार्शनिक व्यवस्था क्या थी? उस युग की मूल आत्मा क्या थी? अतः इस प्रणाली के द्वारा यह पता लगाया जाता है कि जिस समय कवि रचना कर रहा था उस समय पूरे युग की स्थिति क्या थी? इस प्रकार इस प्रणाली का अनुसरण करते हुए आलोचक साहित्य द्वारा समाज के समकालीन इतिहास को ढूँढ़ते हुए कवि के मस्तिष्क पर उसका प्रभाव आँकते हैं।

इस आलोचना प्रणाली के प्रयोग का श्रेय मुख्य रूप से अँग्रेजी साहित्य के प्रमुख विद्वान् टेन को देन है। टेन ने साहित्य के अध्ययन के लिए जाति, परिवेश और समय बिन्दु को आवश्यक माना था। टेन के इस चिन्तन ने साहित्यालोचन के क्षेत्र में एक नए विचार का प्रतिपादन किया। उनकी यह स्थापना थी कि एक व्यक्ति जब साहित्य की रचना करता है तो उसकी रचना-प्रक्रिया पर उसकी जातीय संस्कृति और सभ्यता का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है। उस प्रभाव से वह चाहकर भी बच नहीं पाता। इसी प्रकार लेखक या साहित्यकार अपने भौगोलिक, राजनैतिक एवं सामाजिक परिवेश से स्वयं को अलग नहीं कर पाता। वैसे भारत में लिखे गए किसी उपन्यास की भौगोलिक, राजनैतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि अमेरिका में लिखे गए किसी उपन्यास के भौगोलिक, राजनैतिक एवं सामाजिक पृष्ठ भूमि से निश्चित रूप से भिन्न होगी। टेन युगचेतना को भी महत्वपूर्ण स्थान देता है। उसके अनुसार युगचेतना गतिशील है। इसी गतिशील युगचेतना के कारण एक प्रकार के कथानक को लेकर चलने में भी रचनाओं में बहुत अन्तर आ जाता हैं। जैसे—मानस और साकेत। दोनों का कथानक राम से सम्बन्धित है। पर युगचेतना के अन्तर के कारण दोनों की रचनाओं में गहरा अंतर मिलता है।

ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली का अनुसरण करने वाले के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह इतिहासकार भी हो। क्योंकि इतिहास और आलोचक का क्षेत्र अलग-

१. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त—लीलाधर गुप्त।

अलग हैं। और यह आवश्यक नहीं कि श्रेष्ठ इतिहासकार आलोचक भी हो। इस आलोचना प्रणाली को ग्रहण करने वाले आलोचक को रचनाकार के युग धर्म और ऐतिहासिक परिवेश को समझना पड़ता है। साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब स्वीकारा गया है। अतः ऐतिहासिक आलोचक का कार्य साहित्य का मूल्यांकन, उसके युग के परिवेश के आधार पर करना है।

इस प्रकार की आलोचना प्रणाली में कई दोष भी हैं। पहला दोष यह माना गया है कि किसी साहित्य का मेरुदण्ड केवल वातावरण या देश काल ही नहीं होता यदि वातावरण ही का साहित्य का मूल आधार माना जाय तो इससे साहित्य की शाश्वत विशेषता समाप्त हो जाती है और कोई भी श्रेष्ठ साहित्य अमरत्व पद का अधिकारी न बन सकेगा। इस प्रणाली का दूसरा दोष यह है कि इसमें रचना के वास्तविक स्वरूप पर अधिक बल न देकर पूरे युग पर बल दिया जाता है। इससे रचना का अपने आप में महत्व समाप्त हो जाता है। इस पद्धति का तीसरा, बहुत बड़ा दोष यह है कि इसमें व्यक्ति को उपेक्षित दृष्टि से देखा जाता है। इसमें केवल युगीन परिस्थितियों पर ही अधिक बल दिया जाता है जा ठीक नहीं। क्योंकि साहित्यकार को युग के बंधनों में बाँधा नहीं जा सकता।

हिन्दी में ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली का जन्म भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में हुआ और उसका विकास आगे चलकर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और मिश्रबंधुओं ने किया। ऐतिहासिक आलोचना का प्रौढ़ रूप प० रामचन्द्र शुक्ल की आलोचनाओं में मिलता है। बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' कृत 'आनंदकादम्बनी' की शुक्लजी द्वारा की गई समीक्षा इस पद्धति का श्रेष्ठ उदाहरण है। आधुनिक युग में इस पद्धति का विकास डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय की आलोचनाओं द्वारा हुआ है। 'गोदान' की आलोचना करते हुए डा० वार्ष्णेय ने लिखा 'एक सम्पूर्ण युग की औपन्यासिक परम्परा और भारतीय जीवन की समग्रता उसके जीवन चिन्तन, विचार-दोहन, और विचार-आदर्श का 'गोदान' एक विराट कलंक है।·········गोदान से पहले के ५०-६० वर्षों में भारतीय समाज ने किस तरह करवटें लीं, किस तरह वह गिरा और गिरकर उठने की चेष्टा की, किस तरह के ठोकरों ने उसे जगाया, उसने किस कश मकश और जद्दो-जहद में जिन्दगी बिताई— इन सब बातों को गोदान' में कलात्मक ढंग से आत्मसात् कर लिया है।·········'गोदान' को पढ़ जाना उस सारे पिछले युग को पढ़ जाना है। साथ ही वह नवयुग का प्रथम, गम्भीर उद्घोष है।' यह उदाहरण ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली का श्रेष्ठ उदाहरण है। इसमें 'गोदान' का मूल्यांकन युग धर्म और युग की परिस्थितियों के आधार पर किया गया है।

२. व्याख्यात्मक आलोचना प्रणाली—अँगरेजी में इसे इन्टरप्रिटेटिव 'क्रिटिसिज़म' कहते हैं। आलोचना के क्षेत्र में कट्टर रूढ़िवादी नियमों के प्रति विद्रोह होना आरम्भ हुआ। साहित्य के विकास के साथ ही साथ पाठकों की रुचि में भी परिवर्तन होने लगा। इस प्रकार स्वाभाविकता की ओर लोगों का ध्यान अधिक आकर्षित हुआ। शास्त्रीय नियमों के प्रति लोगों की अब श्रद्धा समाप्त होने लगी। अतः बंधनों की मुक्ति के प्रयास के फलस्वरूप ही व्याख्यात्मक आलोचना का जन्म हुआ। व्याख्यात्मक आलोचना का मूल सिद्धांत यह है कि हमें आलोचना के व्यक्तिगत मानदण्ड स्थापित कर निर्पेक्ष मानदण्ड बनाने चाहिये। किसी भी कलात्मक रचना में प्रतिपाद्य विषय प्रतिपादन और अनुभवजन्य अभिव्यक्ति की प्रधानता रहती है। इस दृष्टि से आलोचक का प्रधान उद्देश्य रचना को उसके यथार्थ रूप में देखकर निर्पेक्ष रुचि स्थापित करना है। आलोचक को साहित्यिक रचना में अच्छी तरह से पैठकर उसकी भावनाओं में लीन हो कर उस कृति के अंतरतम में निहित भावात्मक तत्वों का उद्‌घाटन करना पड़ता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि व्याख्यात्मक आलोचना का आश्रय ग्रहण करने वाले आलोचक का व्यक्तित्व पूर्ण होना चाहिए जिससे वह बिना किसी कपट या दुराव-छिपाव के व्याख्या करने में समर्थ हो सके। व्याख्या वास्तव में कलाकार के भावलोक का पुनः सर्जन कर उस पर अपना निर्णय देती है। अतः इस प्रकार की आलोचना में आलोचक मात्र पारखी ही नहीं रहता वह सृष्टा भी बन जाता है। इसीलिए कुछ विद्वानों ने व्याख्या और आलोचना में अंतर माना है। उनका कहना है कि व्याख्या आलोचना से पहले आती है। आलोचना कृति को पढ़ती है, फिर उसे ध्यान में रखती है और तब उसके गुण-दोष पर निर्णय देती है। व्याख्या उस कृति में जिसकी वह व्याख्या करती है; प्रवेश कर जाती है और कृति के प्रबुद्ध ग्रहण से परे नहीं जाती। व्याख्या कलाकार की चित् सृष्टि का पुनःनिर्माण करती है, आलोचना ऐसी चित् सृष्टि पर निर्णय देती है।[1]

व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक आलोचना में भी विद्वानों के अनुसार अन्तर है। वार्ष्णेय में इन दोनों आलोचनाओं में तीन प्रकार के भेद माने हैं—पहला, निर्णयात्मक आलोचना उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणियों का भेद स्वीकारती है जबकि व्याख्यात्मक आलोचना केवल प्रकार भेद को मानती है। व्याख्यात्मक आलोचना की दृष्टि वैज्ञानिक है। वह विज्ञान की भाँति वर्ग भेद तो मानती है, किन्तु ऊँच-नीच के भेद में उसे आस्था नहीं है। व्याख्यात्मक आलोचना भिन्न-भिन्न प्रकार की रचनाओं की विशेषता तो बता देगी पर उसके ऊँच-नीच का भेद नहीं करेगी। दूसरा, निर्णयात्मक आलोचना नियमों को राजकीय नियमों की तरह किसी अधिकार से प्राप्त हुआ मानती है और उनका पालन किया जाना अनिवार्य समझती है। इसके विपरीत व्याख्यात्मक

१. पाश्चात्य साहित्य आलोचना के सिद्धांत—लीलाधर गुप्त।

आलोचना उन नियमों को अपने अंदर से आत्मसात् करती है। वह अपनी ही प्रकृति के नियमों को मानती है। व्याख्यात्मक आलोचना कवि या कलाकार के सृष्टि की विशेषताओं को स्वीकार कर उसे महत्वपूर्ण स्थान देती है। वह निर्णयात्मक आलोचना की तरह कलाकार की सृष्टि को निर्जीव पत्थर की कसौटी पर नहीं कसती। तीसरे, निर्णयात्मक आलोचना नियमों को स्थिर और अपरिवर्तनशील मानती है जबकि व्याख्यात्मक आलोचना नियमों को परिवर्तनशील और प्रगतिशील मानती है।

व्याख्यात्मक आलोचना का प्रचार विशेष रूप से जर्मनी से प्रारम्भ हुआ। इंग्लैण्ड में इसके प्रचार का श्रेय 'कार्लाइल' को है। कार्लाइल के बाद 'आॅर्नल्ड' को है। 'आॅर्नल्ड' ने व्याख्यात्मक आलोचना पद्धति को अपनाकर एक नई दिशा दी। हिन्दी में इस आलोचना-प्रणाली के सूत्रपात करने का श्रेय 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' को है। 'तुलसीदास', 'सूरदास' एवं 'जायसी' पर लिखी गई उनकी आलोचनाएँ इसी प्रकार की हैं। इस आलोचना शैली का उदाहरण आचार्य रामचंद्र शुक्ल की रचना से ही लिया जा सकता है। तुलसी के काव्य-कौशल की व्याख्या करते हुए शुक्लजी लिखते हैं शील और शक्ति से अलग अकेले सौंदर्य का प्रभाव देखना हो, तो वन जाते हुए राम जानकी को देखने पर ग्रामबधुओं की दशा देखिये :

"सीस जटा, उर बाहु बिसाल, विलोचन लाल, तिरीछी, सी भौंहैं।
तून, सरासन बान धरे, तुलसी बन मारग में सूचि सोहैं॥
सादर बारहिंबार सुभाय, चितय तुम त्यौं हमरो मन मोहैं!
पूछति ग्रामवधू सिय सों "कहो सांवरे से, सखि रावरे को हैं?"

'चितइ तुम त्यों हमरो मन मोहैं' कैसा भाव गर्भित वाक्य है। बनमें एक ओर तो राम के आचरण की पवित्रता और दूसरी ओर ग्राम वनिताओं के प्रेम भाव की पवित्रता दोनों एक साथ झलकती है। राम सीता की ओर देखते हैं उन स्त्रियों की ओर नहीं। उन स्त्रियों की ओर ताकते तो वे कहतीं कि 'चितइ हम त्यौं हमरी मन मोहैं।' उनके मोहित होने को हम कुछ-कुछ कृष्ण की चितवन पर गोपियों के मोहित होने के समान ही समझते हैं। अतः 'हम' के स्थान पर इस 'तुम' शब्द में कोई स्थूल दृष्टि से चाहे 'असंगति' का ही चमत्कार देख संतोष कर ले, पर इनके भीतर जो पवित्र भाव-व्यंजना है, वही सारे वाक्य का सर्वस्व है।"

शुक्लजी की आलोचना का यह उदाहरण व्याख्यात्मक आलोचना का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसमें आलोचक कवि की अन्तरात्मा में प्रवेश कर उसके भावों को समझने का प्रयास करता है। वह कवि को भावनाओं के आधार पर ही आलोचना में पुनः सृजन करता है। वह सृष्टा बन जाता है।

३. निर्णयात्मक आलोचना—अंग्रेजी में इसे 'जुडीशियल-क्रिटिसिज्स कहते हैं। एक निश्चित शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर किसी रचना का मूल्यांकन करना 'निर्णयात्मक आलोचना प्रणाली' कहलाती है इसमें आलोचक की दृष्टि न्यायाधीश के समान होती है। आलोचक इसमें निर्णय करता है कि साहित्य में किस कवि का क्या स्थान है। इसमें आलोचक अपने ही ऊपर पड़े हुए प्रभाव को आलोचना का आधार बनाता है। इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य निर्णय करना है। वह पाठकों को यह निर्णय करने में सहायता देती है कि कौन कवि श्रेष्ठ है और कौन नहीं। इसमें आलोचक न्यायाधीश की भाँति न्याय आसन पर बैठता है और कवि की उसके गुणों के लिए प्रशंसा करता है और दोषों के लिए उसकी निन्दा करता है। आलोचक किसी कवि के काव्य के सम्बन्ध में निर्णय कला के नियमों की सहायता से करता है ये नियम शास्त्रीय होते हैं। पर कभी कभी आलोचक स्वयं अपना मानदन्ड बना लेता है जो प्राचीन साहित्यकारों के उल्लेखनीय सूत्रों पर आधारित रहता है। इस प्रकार कुल मिला-जुलाकर उसके मानदन्ड का आधार शास्त्रीय होता है। यदि आलोचक को किसी रचना की आलोचना करनी है तो वह प्राचीन कवियों के साहित्य की विशेषताओं को एकत्रित कर लेगा। वह यह मानेगा कि इन्हीं विशेषताओं के कारण ये कवि श्रेष्ठ और महान हो सके। अतः इसी श्रेष्ठता के आधार पर वह मानदन्ड बना लेगा और फिर उनकी रचनाओं के प्रति निर्णय देगा।

इस प्रकार की आलोचना प्रणाली को स्वीकारने वाले आलोचकों को मोटे रूप में दो वर्गों में रक्खा जा सकता है। एक वर्ग में उन आलोचकों का स्थान आएगा जिनकी यह धारणा और निष्ठा है कि जो कुछ भी प्राचीन काल में लिखा गया वह श्रेष्ठ और अद्वितीय है। वर्तमान काल में ऐसे श्रेष्ठ साहित्य की रचना हो ही नहीं सकती। ऐसे आलोचकों की धारणा है कि अब पुनः 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की रचना नहीं हो सकती, दूसरा 'मेघदूत' नहीं लिखा जा सकता अथवा कोई अन्य 'रामचरितमानस' नहीं लिखा जा सकता। इसके विपरीत दूसरे आलोचकों का वर्ग मानता है कि प्राचीन साहित्यकारों का स्थान अद्वितीय तो है पर इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिये कि कालिदास और तुलसीदास फिर से नहीं हो सकते हैं। अतः यह वर्ग आशावादी दृष्टि को अपनाता है।

योरोप में यह प्रणाली काफी पुरानी है। ग्रीस में इस प्रणाली का सूत्रपात 'होमर' से माना जाता है उसके बाद 'सोफिस्टों का स्थान है। अरस्तू और उसके बाद लोंजाइनस सिसये, होरेस आदि सभी आचार्यों ने शास्त्रीयता पर बल दिया है। भारतवर्ष में भामह, दन्डी, वामन, सम्रट, कुंतक; राजशेखर, धनंजय, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ

आदि सभी ने काव्य के विभिन्न पक्षों पर विचार कर साहित्य के मानदन्डों को स्थापित किया। भारत तथा योरोप में विद्वान; शास्त्रीय विवेचन द्वारा उन मूल्यों के अन्वेषण में व्यस्त थे जिसके आधार पर कवि की रचनाओं पर निर्णय दिया जा सके।

निर्णयात्मक आलोचना के क्षेत्र में डा० जानसन का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु और डा० ग्रियर्सन का महत्वपूर्ण स्थान है। डा० ग्रियर्सन ने बिहारी के विषय में निर्णय देते हुए लिखा—'बिहारी को भारत का थाम्सन कहा जाता है, किन्तु मेरी धारणा है कि न तो वह, न उनके भाई-बन्धु किसी दूसरे भारतीय कवि की तुलना पश्चिम के किसी कवि से ठीक-ठीक की जा सकती है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, योरोप की किसी भाषा में बिहारी के जोड़ का कोई दूसरा कवि नहीं है।' आधुनिक काल में तो आलोचकों में निर्णय देने की एक सामान्य प्रवृत्ति सी बन गई है। जब तक कोई आलोचक आज तक फतवे नहीं देता, तब तक वह अपने आलोचक धर्म को अपूर्ण समझता है।[1] आधुनिक काल में यह आलोचना पद्धति बहुत लोकप्रिय हुई।

४. नैसर्गिक आलोचना:— इस प्रणाली के द्वारा कला के प्रति आलोचक की सहज-स्वाभाविक निर्पेक्ष प्रतिक्रिया का व्यक्तिकरण होता है। इसमें व्यक्तिगत रुचि और अरुचि का ही प्रधान स्थान रहता है। कोई कृति आलोचक को बहुत अच्छी लगती हैं, बस इतना ही पर्याप्त है। क्यों अच्छी लगती है, यह प्रश्न इस प्रकार की आलोचनाओं में नहीं उठाया जाता। इस प्रकार की आलोचनाओं में आलोचक बस इतना कह कर समाप्त कर देता है कि अमुक रचना ने उसको प्रभावित किया। उसकी भावनाओं को झकझोर दिया। इसलिए अमुक रचना श्रेष्ठ है। इस प्रकार इस प्रणाली के अन्तर्गत हमें न तो कलाकार के जीवन का अध्ययन करना पड़ता है और न देश काल तथा परिस्थिति का। कलाकार की रचना अपने आप में कैसी है इसी बात को प्रधानता दी जाती है। कलाकार के कृति की जो उत्कृष्टता है उसी को देखना आलोचक का प्रधान उद्देश्य होता है। अन्य बातों को अनावश्यक और निरर्थक समझा जाता है। इस प्रकार की आलोचना का कोई उचित नाम अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है इसलिए इसे 'नैसर्गिक आलोचना प्रणाली' कहा जाता है।

५. परिचय प्रधान आलोचना प्रणाली—परिचय प्रधान आलोचना प्रणाली का जन्म पुस्तकों के उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट होने के निर्णय देने और कवियों तथा लेखकों की कृतियों का विज्ञापन करने की प्रवृत्ति से हुआ।[2] इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही मासिक पत्र-पत्रिकाओं में अलग से स्तम्भ खुले जिसमें पुस्तक का परिचय प्रस्तुत किया जाता था। 'समालोचक' (जयपुर) 'माधव मिश्र का सुदर्शन' (बनारस) जैसे पत्रों में परिचय प्रधान समालोचना की ही अधिकता रहती थी। 'सरस्वती' में भी इस प्रकार

१. हिन्दी आलोचना का विकास—डॉ० सुरेश सिन्हा।
२. साहित्य कोश—खण्ड १.

की धारणा के दर्शन मिलते हैं। पर इस प्रकार की आलोचना को आलोचना का श्रेष्ठ रूप नहीं कहा जा सकता। पत्रकारिता से सम्बद्ध होने के कारण इस आलोचना पद्धति पर पत्रकारिता की शैली का अमिट प्रभाव पड़ा। इसमें परिचय की ही प्रधानता रहती है। आलोचना तो नाम मात्र की रहती है। सम-सामयिक युग में परिचय-प्रधान आलोचना प्रणाली का अत्यन्त दूषित रूप दिखाई पड़ता है। पुस्तकों की समीक्षा सम्पादक और उनके मित्र-मन्डल के रुख पर ही आश्रित रहती है। बिना सिर पैर के प्रशंसाएँ की जाती हैं। और बिना किसी लज्जा के रद्दी से रद्दी रचना को विश्व के श्रेष्ठतम कृतियों में स्थान दिया जाता है। यद्यपि इस क्षेत्र में 'माध्यम' (इलाहाबाद) और कादम्बिनी (दिल्ली) आदि पत्रिकाएँ सराहनीय कार्य कर रही हैं। जैसे—'कादम्बिनी में प्रकाशित 'न्यायमूर्ति' उपन्यास का परिचय द्रष्टव्य है—प्रस्तुत रचना 'विचारक' नामक उपन्यास का अनुवाद है। 'द जज' नाम से यही उपन्यास अंग्रेजी में भी प्रकाशित हो चुका है। इसकी कथा इतनी रोचक है कि एक बार पढ़ना शुरू करने पर पाठक इसे समाप्त करके ही छोड़ता है।[1]

तुलनात्मक आलोचना प्रणाली—अँग्रेजी में इसे 'कम्परेटिव क्रिटिसिज्म' कहते हैं दो कवियों या लेखकों की परस्पर तुलना से पाठकों के मन में किसी कवि अथवा लेखक की श्रेष्ठता और महानता का स्पष्टीकरण किया जाता है। इस प्रणाली में तुलना के आधार पर एक कवि अथवा लेखक को दूसरे कवि अथवा लेखक से श्रेष्ठ या हीन ठहराया जाता है। इस आलोचना प्रणाली में आलोचक की दृष्टि का संतुलन होना आवश्यक है। क्योंकि यदि आलोचक पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं हुआ है तो वह कभी भी आलोचना के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। अंग्रेजी साहित्य में तुलनात्मक समालोचना के महान् समर्थक 'प्रोफेसर' 'सेंट्सबरी' हैं। इनकी धारणा है कि कवियों का तुलनात्मक अध्ययन ही उसकी सर्वोच्च आलोचना है इस कोटि में पद्म सिंह शर्मा कृत 'बिहारी और फारसी कवि साही की समालोचना' 'भिन्न भाषाओं के समानार्थी पद' 'संस्कृत और हिन्दी कविता का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव' जैसे लेख 'बिहारी की सतसई की गाथा सप्तशती और अभरुकशतक वाले अंश' 'कृष्णबिहारी मिश्र के 'देव और बिहारी' भगवानदीन के 'बिहारी और देव' जैसे ग्रन्थ आते हैं। रामचन्द्र शुक्ल की रचनाओं में भी यह तुलनात्मक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। तुलनात्मक आलोचना प्रणाली का यह उदाहरण द्रष्टव्य है 'न जाने किसने यमक के लोभ से यह दोहा कह डाला कि 'सूर सूर तुलसी ससी उड्गन केसव दास'। यदि कोई पूछे कि जनता के

१. पुस्तक दीर्घा—(स्तम्भ) 'कादम्बिनी', फरवरी १९७१।

हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है, तो—उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय भारती–कण्ठ भक्त—चूड़ामणि गोस्वामी तुलसी दास।·········सूरदास जी अपने भाव में मग्न रहने वाले थे···संसार में क्या हो रहा है, लोक प्रवृत्ति क्या है, समाज किस ओर जा रहा है, इन बातों की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। तुलसीदास जी लोक गति के सूक्ष्म पर्यालोचक थे।' इस प्रकार इस उदाहरण में बड़ी सूक्ष्मता से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन दोनों कवियों की तुलना कर तुलसीदास को श्रेष्ठ ठहराया है।

७. जीवन वृत्तान्तीय आलोचना प्रणाली—इस आलोचना प्रणाली में लेखक के व्यक्तित्व पर अधिक बल दिया जाता है। साहित्य का अध्ययन करते समय जाति, परिस्थिति और युग के सम्यक् प्रभावान्तरगत निर्मित साहित्यकार के व्यक्तित्व के अध्ययन से भी यथेष्ट सहायता प्राप्त होती है।[1] अतः कलाकार के जीवन का ज्ञान होना आवश्यक है। इन आलोचकों की यह धारणा है कि जब तक हम कवि के जीवन वृत्त से परिचित न होंगे उसकी रचना के साथ न्याय नहीं किया जा सकता। प्रेमचन्द के जीवन की कथा, उनकी आर्थिक दरिद्रता, और शोषण के सहने की वृत्ति आदि उनके साहित्य में परिलक्षित होता है। यह सच भी है कि जब तक प्रेमचन्द के जीवन के इन परिस्थितियों का हम प्रामाणिक अध्ययन न कर लें उनकी रचनाओं पर कुछ कहना अनुचित होगा। अतः इस प्रकार की आलोचना प्रणाली द्वारा कलाकार और पाठक के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है। कलाकार का वास्तविक स्वरूप निखर कर प्रस्तुत होता है। इस प्रणाली के अंतर्गत आलोचक रचनाकार के व्यक्तिगत जीवन को पाठक के सामने प्रस्तुत कर यह निर्णय देता है कि अमुक साहित्यकार द्वारा रचा गया साहित्य उसके जीवन की अनुभूतियों का ही वर्णन है।

इस आलोचना प्रणाली के तीन प्रमुख सोपान होते हैं—पहला, रचनाकार जिस देश काल में जीता है उस देश काल से निर्पेक्ष साहित्य का सृजन सम्भव नहीं है। दूसरे, रचनाकार का जीवन और उसकी रचना प्रकृया दोनों परोक्ष रूप से अथवा अपरोक्ष रूप से एक दूसरे को व्यक्त करते हैं। तीसरे, इस आलोचना प्रणाली में पाठक रचनाकार के व्यक्तिगत जीवन में भाग लेकर, उसकी अनुभूतियों को आत्मसात् कर, उसकी रचना को अधिक निकट से और सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण से समझता है।

योरोप में यह प्रवृत्ति ईसा की सोलहवीं शताब्दी से दृष्टिगोचर होती है। १८ वीं शताब्दी में 'जॉन ड्राइडन' द्वारा इस प्रणाली को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। ड्राइडन और जॉनसन दोनों ही ने जीवन चरित्र और आलोचना का अद्भुत सम्मिश्रण प्रस्तुत किया।

---

१. पश्चिमी आलोचना शास्त्र—डॉ० वार्ष्णेय।

'सेन्ट ब्यू' ने भी इस प्रणाली को अपनाया था। उनकी स्थापना थी कि किसी रचना की जानकारी कलाकार के जीवन से संबद्ध है। कृति उसके जीवन का ही सार अंश है। परिवार, मित्र-मण्डली, गोष्ठी, काव्यात्मक या आलोचनात्मक केन्द्र—वह केन्द्र जिसमें लेखक अपना रूप धारण करता है, जीवन-चरित्र की प्रगति, धार्मिक निष्ठा, प्रकृति प्रेम, व्यापक राष्ट्रीय जीवन की पीठिका आदि का अध्ययन कर कवि या कलाकार के व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण करना 'जीवन वृत्तान्तीय आलोचना प्रणाली' का लक्ष्य है। हिन्दी में भी भक्ति काल और रीतिकाल के अनेक कवियों का अध्ययन इस प्रणाली द्वारा करने का प्रयास किया गया है।

८ **गवेषणा प्रधान आलोचना प्रणाली**—गवेषणात्मक आलोचना का जन्म पाश्चात्य प्रभाव और प्राचीन साहित्य के प्रति जागृत अनुराग के कारण हुआ। हिन्दी में इस बात की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा कि प्राचीन कवियों के जन्म स्थान, समय, जीवन-चरित्रों, उनकी रचनाओं के प्रकाशन समय एवं रचना तिथियों तथा उन पर तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक प्रभावों की सम्यक् परीक्षा एवं अन्वेषण कर उनकी प्रामणिकता निर्धारित की जाय। यह गवेषणा या अनुसंधान ही इस प्रकार की आलोचना प्रणाली का मूल लक्ष्य है। इस प्रणाली में अन्वेषण का बड़ा महत्व होता है। हिन्दी में यह प्रणाली बहुत अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई। महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'नैषध चरित चर्चा' 'कालीदास' किशोरी लाल गोस्वामी के 'अभिज्ञान शकुन्तला' और 'पद्मपुराण' तथा चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' के 'विक्रमोर्वशीय की मूल कथा, लेख भी कवियों के समय, जीवन चरित्र तथा कृति की प्रेरणा और गुण-दोष सम्बन्धी गवेषणाओं से पूर्ण थे। इस पद्धति में खोज का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। इसमें आलोचक खोज द्वारा प्राप्त तथ्यों को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करता है। खोजपूर्ण कार्य करने में नागरी प्रचारिणी सभा को सर्वाधिक श्रेय दिया जा सकता है। इसी प्रकार श्यामसुन्दर दास के 'बीसल देव रासो' पर विस्तृत विवरण, मुन्शी देवी प्रसाद के 'पृथ्वीराज रासो' पर अध्ययन तथा शिव सिंह सेंगर, ग्रियर्सन और मिश्रबंधुओं आदि के लेख भी गवेषणा प्रधान आलोचना प्रणाली के अंतर्गत आते हैं। आजकल के अनुसंधान केन्द्रों एवं विश्वविद्यालयों में होने वाले शोध कार्यों में भी गवेषणा प्रधान आलोचना का ही अनुसरण किया जाता है।

९. **शास्त्रीय आलोचना प्रणाली**—इस प्रकार की आलोचना प्रणाली में शास्त्रीय नियमों के आधार पर काव्य के गुण-दोषों की छान-बीन की जाती है। काव्य के विविध उपकरणों, अलंकार, गुण, वृत्ति, रस आदि का विवेचन किया जाता है। इस प्रणाली में मूलतः शास्त्र द्वारा अनुमोदित नियमों का ही पालन किया जाता है। इस प्रणाली को अंग्रेजी में 'क्लैसिकल' प्रणाली भी कहा जाता है।

इस प्रणाली की स्थापना यूरोप के पुनरुत्थान-काल में हुई थी। उस समय प्राचीन ग्रीस और रोम में ही काव्यात्मक प्रतिभा अपनी उच्च कोटि पर पहुँची थी तथा कवि गण उसी के अनुकरण में ही अपनी सफलता समझते थे।[1] अतः पुनरुत्थान काल में अनेक शास्त्रीय नियमों का निर्माण हुआ, जिसका अनुसरण बाद में शताब्दियों तक हुआ। शास्त्रीय प्रणाली को ग्रहण करने वाला आलोचक काव्य के मूल्यों को बाहर से ग्रहण करता है। उसके आदर्श अरस्तू तथा होरेस ही होते हैं। एलिजबेथ-काल में भाषा, छन्द, कविता, तुक आदि के सम्बन्ध में शास्त्रीय आलोचना का ही आदर्श ग्रहण किया जाता था। १९वीं २०वीं शती० तक इस शास्त्रीय पद्धति का प्रभाव देखने को मिलता है। आर्नल्ड, गिलवर्ट मरे, और टी० एस० इलियट जैसे आलोचकों ने अरस्तू, होमर, आदि की महत्ता को ही किसी न किसी रूप में स्वीकारा है।

भारतवर्ष में इस पद्धति का प्रचार अत्यन्त प्राचीन काल से हो रहा है। उस समय जो आलोचना सम्बन्धी नियम स्थापित हुए थे उन्हीं के आधार पर रचनाकारों ने अपनी रचनाओं की रचना की। गद्य काव्य, दृश्य काव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य, रस-निरूपण, गद्य, पद्य, चम्पू, नायक, नायिका, नाट्य रचना आदि के सम्बन्ध में जो नियम निश्चित किये गये थे, उन्हीं के आधार पर साहित्य की समीक्षा प्रस्तुत की जाती थी। हिन्दी में महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'विक्रमांक देव चरित-चर्चा', 'नैषधचरित' तथा मिश्रबन्धु की 'हम्मीर हठ' काव्य पर और श्रीधर की भूषण पर आलोचनाएँ इसी प्रकार की हैं। मिश्रबंधु का 'हिन्दी नवरत्न' इस प्रकार की आलोचना प्रणाली में लिखा जाने वाला सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है।

इस प्रकार की आलोचना-प्रणाली के उदाहरण के लिए कृष्ण बिहारी मिश्र द्वारा मतिराम के पद की आलोचना को लिया जा सकता है। उन्होंने मतिराम के इस पद की शास्त्रीय शैली के आधार पर आलोचना प्रस्तुत की है।

पद है—

वसंत तरंगिनी में तीर ही तरल आय,
ग्रस्यो ग्राह पाँव खैचि पानी बीच तरज्यो।
करनी कलम करैं कल्पना फूल ठाड़े,
कहा भयो कहा, करुना के संग लवज्यो॥
कठिन समय विचारि साहब सों गयो हरि,
हठि पग ध्यान रघुनाथ डेयहो सरज्यो।
असरन-सवन विश्व की परज देख्यो,
पहले गरज भई, पीछे गज गरज्यो॥

---

१. पश्चिमी आलोचना शास्त्र—डा० वार्ष्णेय

इसकी आलोचना मिश्रजी ने यों प्रस्तुत किया :—

अलंकार :—कुछ छन्द में मुख्य अलंकार चंचलातिशयोक्ति है।

गुण:— प्रसाद मुख्य गुण है,परन्तु कभी-कभी ओज गुण का भी आभास होता है।

वृत्ति:—उपर्युक्त पद में मधुरा और परुषावृत्ति का मिश्रण है। इस कारण यह प्रौढ़ा वृत्ति है। इसी का नाम सात्वती वृत्ति भी है।

'रस या वीर रस का दया-वीररस नामक रूपान्तर है।'

इस आलोचना प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें पहले ही स्वीकार लिया जाता है कि प्राचीन आचार्यों ने साहित्य के सम्बन्ध में जो मान्यताएँ निर्धारित कीं, वे ही अंतिम हैं। उससे अधिक श्रेष्ठ महान और तर्कसम्मत कोई दूसरी मान्यता नहीं हो सकती। अतः इस प्रकार की आलोचना प्राणाली रूढ़िवादिता तथा संकीर्णता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करनी है।

१०. **सिद्धान्त-प्रधान आलोचना प्रणाली** :— इस आलोचना प्रणाली में संस्कृत साहित्य-शास्त्र, पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्त तथा दोनों के समन्वय पर किसी रचना या कृति की आलोचना की जाती है। इसके अंतर्गत आलोचक अपनी बुद्धि और प्रतिभा के आधार पर आलोचना करने के लिए अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। हिन्दी में इस प्रकार की अलोचनाएँ बहुत मिलती हैं। इस दृष्टि से बाबू रामवित्थारिया कृत 'नवरस' सेठ कन्हैया लाल पोद्दार कृत 'अलंकार (प्रकाश)' तथा 'काव्य कल्प द्रुम' लाला भगवानदीन कृत 'काव्य-मंजूषा' आदि ग्रंथ महत्वपूर्ण हैं। इनकी रचना भारत के रसवाद, भामह, दण्डी, रुद्रट और उद्भट के अलंकार वाद, वामन के रीति वाद, कुन्तक के वक्रोक्तिवाद तथा आनन्द वर्धन के ध्वनिवाद के सिद्धान्तों के आधार पर हुआ है। पाश्चात्य सिद्धान्तों के आधार पर आलोचना करने की प्रवृत्ति जगन्नाथ दास रत्नाकर कृत 'समालोचनादर्श' में दिखाई पड़ती है। यह मौलिक रचना न होकर पोप के प्रसिद्ध ग्रंथ 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' का पद्य में अनुवाद है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के 'विश्व-साहित्य' में भी पश्चिमी आलोचना के सिद्धान्तों का प्रदिपादन किया गया है।

११. **अनुभवात्मक आलोचना प्रणाली** :—यह आलोचना प्रणाली काफी पुरानी है। अंग्रेजी साहित्य में इसे काफी मान्यता मिल चुकी है। इस प्रणाली में निरीक्षण, विश्लेषण और वर्गीकरण को विशेष महत्व दिया जाता है। इसी कारण यह प्रणाली रचना के वैज्ञानिक मूल्यों को मूल्यांकित करने का प्रयास करती है। अनुभवात्मक आलोचक किसी कृति की उत्कृष्टता, विशेषता आदि के आधार पर विभिन्न वर्गों की सृष्टि करता है। फिर उन रचनाओं को उन वर्गों में रखने का प्रयास करता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत आलोचक कला को प्रकृति का ही एक अंग मानता है। इस प्रणाली के अनुसार कला की उन्नति का कभी अंत नहीं होता है। उनके प्रत्येक युग में निरंतर विकास होता रहता है।[1]

१. साहित्य कोश—भाग १

१२. **रचनात्मक आलोचना प्रणाली**—अँग्रेजी में इसे क्रियेटिव क्रिटिसिज्म कहते हैं। इसी को क्रियात्मक आलोचना प्रणाली भी कहा गया है। इस प्रणाली के अंतर्गत आलोचक अपनी अनुभूतियों के आधार पर किसी रचना को देखकर, एक सर्वथा भिन्न और नवीन रचनात्मक कृति की सृष्टि करता है। अतः इस प्रकार की आलाचना में आलोचक का व्यक्तित्व प्रतिविम्बित होता है। मैथ्यू आर्नल्ड तो रचनात्मक आलोचना को ही प्रमुखता देते हैं। उनके अनुसार रचनात्मक आलोचना ही जीवन की आलोचना है। आलोचक में इनकी क्षमता होनी चाहिये उसका अध्ययन और क्षमता इतनी पूर्ण होनी चाहिये कि जिससे वह किसी रचनात्मक तत्व की सृष्टि कर सके। इलियट रचना और आलोचना में मौलिक अंतर नहीं मानते। उनकी स्थापना है कि साहित्य के क्षेत्र में ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। आलोचक के व्यक्तित्व में रचना और आलोचना दोनों की ही सम्भावनाएँ निहित रहती हैं। बिना रचनात्मक प्रतिभा के किसी कलाकृति के रूप सम्बन्धी धारणाओं को निर्मित नहीं किया जा सकता। इस प्रणाली की यह मान्यता है कि कोई कवि या लेखक तभी महान् बन सकता है जब वह महान् आलोचक हो क्योंकि 'कला रचनात्मक प्रक्रिया में आलोचनात्मक होती है और आलोचना कृति के पुनर निर्माण में रचनात्मक होती है'

इस प्रणाली के अंतर्गत आलोचक किसी रचना की आलोचना करते समय सबसे पहले यह जानने का प्रयास करता है कि लेखक ने अपनी रचना-प्रक्रिया का आधार कहाँ से प्राप्त किया है। इस निष्कर्ष को निकाल कर वह अपनी चेतना में उसे धारण करता है और उस पर चिंतन-मनन कर अपना अंतिम निष्कर्ष निकालता है। उस कवि की विशेषताएँ और अभाव उसके सामने होती है। और तब आलोचक यह विचार करता है कि उस रचना में ऐसा और क्या जोड़ दिया जाय जिससे इसकी विशेषता और बढ़ जाय। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वह उस रचना का स्वरूप अधिक संतोषजनक बनाने के लिए उस रचना को एक नवीन साँचे में ढालने का प्रयास करता है। एक प्रकार से वह रचना का पुनर निर्माण करता है। इसी को रचनात्मक आलोचना कहते हैं। इस प्रणाली के अंतर्गत आलोचक कवि या लेखक को यह कहनी सलाह देता है कि उसे अमुक बातें इस संदर्भ व रूप में न कह कर इस संदर्भ व रूप में चाहिये थी। यदि वह ऐसा करता तो उसकी रचना का यह दोष समाप्त हो जाता और उसकी रचना का मूल्य बढ़ जाता और तब हम उसे एक श्रेष्ठ कृति कह सकते।

इस प्रणाली में निर्णय, रुढ़ि, अलंकार, नैतिकता आदि विषयों को कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता क्योंकि आलोचना की प्रवृत्ति इस ओर न रह कर रचना के पुनर निर्माण में ही अधिक रहती है। इस प्रकार ऐसी आलोचना का प्रधान उद्देश्य

यह होता है कि कलाकार के मानसिक बिम्ब व भावनाओं से आलोचक अपना संबन्ध स्थापित करे, और फिर यह परखने का प्रयास करे कि लेखक या कवि की रचना उसके मूल बिम्बों और भावनाओं को कहाँ तक मुखरित कर पाई हैं। उसको ऐसा करने के लिए और कुछ क्या करना चाहिये था। इस प्रकार इस प्रणाली में आलोचक का ध्यान कृति पर केन्द्रित न होकर उसके पुनर उत्पादन पर केन्द्रित हो जाता है। वह स्वयं कलाकार हो जाता है। मिडिल्टन मरे ने अपनी रचना 'कीटस एण्ड शेक्सपियर' में ऐसा ही प्रयास किया है। यह रचना रचनात्मक आलोचना प्रणाली का अच्छा उदाहरण है।

१३.**वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली**—विज्ञान साहित्य के क्षेत्र में क्या उपयोग हो सकता है ? यह प्रश्न प्लेटो के समय से चला आ रहा है यह तो सच है कि विज्ञान और साहित्य में अंतर है। पर अँग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक आई० ए० रिचर्डस ने यह स्थापित किया कि विज्ञान के विकास के साथ-साथ आलोचना को भी वैज्ञानिक आदर्शों को अपनाना चाहिये, पर इस आलोचना प्रणाली का जन्मदाता फ्रांसीसी आलोचक ब्रनेतियर माना जाता है। ब्रनेतियर ने आलोचना के नियमों को विज्ञान के नियमों की भाँति निश्चित व अपरिवर्तनीय बताया और इस दृष्टि से उसने आलोचना के नियमों का निर्माण भी किया। इस प्रणाली के समर्थक ने साहित्य का विभाजन अनेक वर्गों में किया और दवाइयों के मिक्स्चर की भाँति एक साहित्यिक मिक्स्चर तैयार कर दिया जिसके आधार पर आलोचकों को रचनाओं के सम्बन्ध में निर्णय देने का निर्देश दिया। उन्होंने यह स्थापित किया कि यदि किसी रचना के बीस संस्करण होते हैं और किसी के मात्र पाँच तो बीस संस्करण वाली रचना को निश्चित रूप से श्रेष्ठ मानना चाहिये, पर ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि कभी-कभी तो यह नियम ठीक लग जायगा पर कभी-कभी इस नियम को लागू करने से अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। जैसे गोदान के कई संस्करणों को देखकर यदि हम यह कहें कि यह रचना सर्वश्रेष्ठ है तो यहाँ यह नियम सटीक बैठ जाता है। पर यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि गोदान की श्रेष्ठता का कारण कुछ और है, उसके कई संस्करण निकलना तो मात्र उसकी लोकप्रियता का प्रतीक है। इस नियम का दुरुपयोग भी हो सकता है। अज्ञेय की शेखर एक जीवनी के उतने संस्करण नहीं निकले हैं जितने गुलशन नन्दा के फिल्मी फार्मूले तथा सेक्स टेकनीकों के आधार पर रचे गए उपन्यासों के संस्करण निकले हैं। उनका यहाँ यह नियम ठीक नहीं उतरता। अतः हम किसी भी हालत में किसी रचना का मूल्यांकन केवल उसके संस्करणों की अधिकता के आधार पर ही नहीं कर सकते।

इस प्रणाली के ऊपर एक दोष यह लगाया गया कि साहित्य में विज्ञान की तरह नये तुले नियमों को नहीं लागू किया जा सकता। साहित्य और कला के सत्य

और सौन्दर्य का अनुसंधान आलोचक भिन्न प्रकार से करता है। विज्ञान में वह स्वच्छन्द विचरण कहाँ जो आलोचना में दृष्टिगोचर होता है। अतः इन सब कारणों से वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली सर्वप्रथम सिद्ध नहीं हुई।[१]

१४, **प्रभावाभिव्यजक आलोचना प्रणाली** :—इसे अंग्रेजी में 'इम्प्रेशनिस्टिक' आलोचना प्रणाली कहते हैं। कुछ लोग इसे 'अङ्कप्राधान्यवाद' भी कहते हैं।' इस प्रकार की आलोचना प्रणाली में आलोचक उन प्रभावों को व्यक्त करता है, जो उसके ऊपर किसी रचना के पढ़ने से पड़ा है। वह साहित्य को आनन्द का अनन्त स्रोत समझता है। साहित्य से उसकी चेतना नए प्रकार के भावों से सम्पन्न होती है और उसके आत्मा का विस्तार होता है। इस धारणा के अनुसार साहित्य का मूल्यांकन आत्मा को उत्तेजित करने की क्षमता पर निर्भर है। अतः इस प्रकार की आलोचना में आत्म-प्रधान तत्वों की प्रधानता मिलती है। एनातोल फ्रान्स का कहना है कि केवल वस्तु सम्बन्धी आलोचना कहीं है ही नहीं। परम्परा और विश्वव्यापी सम्पत्ति अस्तित्वहीन है। सब आलोचना आत्म सम्बन्धी हैं। उसकी धारणा है कि जो कृतिकार समझते हैं कि वे अपनी कृति में अपने आप के अतिरिक्त कुछ और समाविष्ट करते हैं, वे अपने आप को प्रचलित करते हैं। तथ्य यह है कि हम अपने आप से बाहर कभी भी नहीं जा सकते। जब हम बोलते हैं, अपने विषय में बोलते हैं। समस्त आलोचना तत्वतः आत्मकथात्मक है। एनातोल फ्रान्स का मत है कि "अच्छा आलोचक वही है जो उत्कृष्ट रचनाओं में अपनी आत्मा का भ्रमण वर्णित करता है" भद्र पुरुषों मैं आपसे शेक्सपीयर अथवा रैसीन अथवा पैस्कल अथवा गेटे के विषयों द्वारा अपने पर आपसे कुछ कहूँगा। ये विषय ऐसे हैं जो आत्मव्यञ्जना के लिए मुझे सुन्दर अवकाश देते हैं।" इसी प्रकार प्रसिद्ध अमरीकी आलोचक स्पिनगार्न की धारणा है कि किसी कलाकृति की उपस्थिति में संवेदनाएँ अनुभव करना और उन्हें उपयुक्त साधनों से व्यक्त करना यही इस प्रकार के आलोचक का कर्त्तव्य है। अतः इस प्रकार की आलोचनाओं से आलोचक के हृदय में रचना के प्रति यह भाव होगा कि इस रचना को पढ़ना रोमांचित होना है। वह लिखता है कि मेरा रोमांचित होना ही कविता पर मेरा फैसला है और इससे अधिक संतोषजनक फैसला देना मेरे लिए असम्भव है। जो कुछ मैं इस कविता के विषय में कह सकता हूँ वह यही है कि वह मुझे इस तरह प्रभावित करती है और मुझे ऐसी-ऐसी संवेदनाएँ देती है उसके अनुसार यही आलोचना की विशेषता है। इससे परे आलोचना जा ही नहीं सकती।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश—प्रथम खंड

२. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त—लीलाधर गुप्त

इस प्रणाली में आलोचना के प्रचलित मान्यताओं को स्वीकारा नहीं जाता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी रचना के प्रति आलोचक की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया क्या होती है, यह आलोचना उसे स्पष्ट करती है। इसमें आलोचक अपनी व्यक्तिगत रुचि को अत्यधिक महत्व देता है। इस प्रणाली में साहित्य की प्रेषणीयता पर अधिक बल दिया जाता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत मोटे रूप से आलोचक के दो प्रधान कर्तव्य होते हैं। पहला यह कि आलोचक में किसी रचना की प्रेषणीयता ग्रहण करने का पूर्ण सामर्थ्य होना चाहिए। दूसरे आलोचक में उस प्रेषणीयता को उचित ढंग में मापने तथा परखने की क्षमता होनी चाहिये। जिससे वह उचित ढंग से अभिव्यक्ति को दूसरों तक पहुँचा सके।[1]

इस आलोचना पद्धति में समालोचक कोई निर्णय नहीं देता, वरन् रचना का मन पर पड़ने वाले प्रभाव को बुद्धवादी रसानुभूति की प्रक्रिया के माध्यम से अभिव्यक्त कर देता है। हिन्दी में इस प्रकार की आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण डॉ० भगवत शरण उपाध्याय द्वारा गुरुभक्त सिंह कृत "नूरजहाँ" की आलोचना में प्राप्त होता है। पं० भुवनेश्वर मिश्र की 'सन्त साहित्य' में भी इसी प्रकार की आलोचनात्मक प्रणाली का अनुसरण किया गया है। इस प्रणाली का दोष यह है कि इसमें तर्कसंगत या न्यायपूर्ण आलोचना का स्वरूप उपस्थित नहीं हो पाता।

१५. अभिव्यंजनावादी आलोचना प्रणाली—इस आलोचना प्रणाली के जन्मदाता इटली के बेनेदेतो क्रोचे थे। उनके अनुसार आत्मा या परम शक्ति के अभिव्यक्ति के मूल में दो शक्तियाँ क्रियाशील रहती हैं। एक विचारात्मक शक्ति और दूसरी व्यवहारात्मक शक्ति। व्यवहारात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र में होती है। अतः कला की दृष्टि से इसका महत्व नहीं है। विचारात्मक ज्ञान शक्ति दो प्रकार की होती है। पहला सहज ज्ञान तथा दूसरा तर्क ज्ञान। सहज ज्ञान में किसी वस्तु या व्यक्ति के पूर्ण रूप का ज्ञान रहता है। यह सहज ज्ञान विशेष व्यक्तियों अथवा वस्तुओं का ही ज्ञान है। यह ज्ञान कल्पना के सहारे प्राप्त किया जा सकता है। क्रोचे कला को इसी ज्ञान के अन्तर्गत रखता है। उसकी धारणा है कि सहज ज्ञान की आभ्यान्तरिक अभिव्यक्ति ही कला है। कला सहजानुभूति है।

क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति उस अंश तक सहजानुभूति होती है जिस अंश तक वह उसे अभिव्यक्ति करती है। इससे जो विरोधाभास दिखता है वह यथार्थ नहीं

1. "The firsi reguice of the crific is that he should be capable of reciving impiressins, the second tahat he Should be alibe to express and import then"—सैंटरचरीः हिस्ट्री ऑव इंगलिश क्रिटिसिज़्म।

वरन् मिथ्या है। इस विरोधाभास का कारण यह भ्रामक धारणा है कि अभिव्यंजना केवल शाब्दिक होती है। पर ऐसी बात नहीं है। अभिव्यंजनाएँ अशाब्दिक भी होती हैं। जैसे रेखा, रंग और ध्वनि की अभिव्यंजनाएँ। इस प्रकार अभिव्यंजना का विस्तार व्यापक है। क्रोचे के अनुसार सहजानुभूति और अभिव्यक्ति दोनों एक ही हैं। यह कहना कि हमारी अनुभूतियाँ अधिक हैं, किन्तु हम उन्हें पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति नहीं दे पा रहे हैं, भ्रामक बात है। क्रोचे की धारणा है कि पूरे काव्य तथा कला में आदि से अन्त तक अभिव्यंजना की ही प्रधानता रहती है। उसके अनुसार कला सहजानुभूति है। अभिव्यंजना उसकी दृष्टि में आंतरिक क्रिया है। कलाकार सच्चे अर्थ में कलाकार अपने प्रेरणा के क्षणों में रहता है। इस स्थिति में वह विषय के साथ मिलजुल जाता है। वह अपने को गरिमा मंडित अनुभव करता है पर इसके बाद जब वह कलाकृति की रचना करता है तब सच्चे अर्थों में कलाकार नहीं कहलाएगा। कला की वाह्य अभिव्यक्ति ही कला नहीं है। ये तो स्मृति की सहायक वस्तुएं मात्र हैं।

इस प्रणाली के अनुसार किसी रचना की समीक्षा करते समय इस बात की परख की जाती है कि वह रचना सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कितने अंशों में करती है। यदि कोई रचनो सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में असमर्थ है तो उस रचना को किसी भी दृष्टि से श्रेष्ठ रचना के रूप में नहीं स्वीकारा जायगा। हिन्दी में अभिव्यंजनावाद का जो स्वरूप प्राप्त होता है वह पूर्णतया पाश्चात्य प्रभाव नहीं है। उस पर भारतीय प्रभाव भी स्पष्टतः परिलक्षित है। भारतीय दृष्टि अत्यन्त व्यापक है। भारतीय दृष्टि के अनुसार सौन्दर्य में सत्य तथा कल्याणकारी भावनाओं का समन्वय होता है तथा अशिव तथा वासनापरक तत्वों का बहिष्कार होता है।

मनोविश्लेषण वादी आलोचना प्रणाली :—फ्रायड, एडलर तथा युग के मनोविश्लेषण वादी चिन्तन का प्रभाव आलोचना पर भी पड़ा। इसी प्रभाव के फलस्वरूप मनोविश्लेषण वादी आलोचना प्रणाली का जन्म हुआ। फ्रायड की स्थापना है कि मनुष्य की सभी कामना और इच्छा संतुष्ट नहीं हो पातीं। इसलिए उसकी भावनाएँ अतृप्त रह जाती हैं। मनुष्य इन भावनाओं को पूर्ण नहीं कर पाता, इसलिए वह उसे दमन करने का प्रयास करता है। पर वस्तुतः चेतन मन द्वारा दबाई जाने वाली अतृप्त भावनाएँ दबती नहीं हैं, वे अचेतन मन में संचयित होती रहती हैं। ये अतृप्त भावनाएँ फ्रायड के अनुसार मूल रूप में वासनापरक ही होती हैं। ये कामपरक (Sex) होती हैं। सामाजिक बन्धन इन भावनाओं को उदात्त तत्व के अभाव में स्वीकार नहीं करता, अतः विवश होकर ये भावनाएँ अचेतन मन में एकत्रित होकर अपनी अभिव्यक्ति पाने को बेचैन रहती हैं। फ्रायड के अनुसार इन भावनाओं तथा वासनाओं की अभिव्यक्ति स्वप्न तथा साहित्य और कला के माध्यम से होती है। इस प्रकार इन दमित वासनाओं का कला तथा

कलाकर से गहरा सम्बन्ध है। इलाचन्द्र जोशी जी ने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "वहाँ वे ऐसी दबी पड़ी रहती हैं कि फिर आसानी से ऊपर नहीं उठ पातीं। पर बीच-बीच में जब वे शेषनाग के फनों की तरह आन्दोलित हो उठती हैं, तब हमारे सचेतन मन को भूकम्प के प्रचण्ड प्रवेग से हिला देती हैं। ऐसे ही अवसरों पर कलाकार अपने अनुभूतियों को प्रचण्ड वेग से अभिव्यक्त करने के लिये व्याकुल हो उठता है। अतः अतृप्त वासनाएँ जो अपने आप में सुघड़ और कल्याणकारी नहीं होतीं वे उदात्तीकरण के बाद ही साहित्य तथा कला का निर्माण होता है।"

युंगलर के अनुसार मनुष्य मूलतः अधिक से अधिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए व्याकुल रहता है। यह प्रवृत्ति उसमें बहुत प्रबल रहती है। इसके प्राबल्य के कारण वह औचित्य तथा अनौचित्य का भेद भूल जाता है। एडलर की स्थापना है कि यही प्रवृत्ति कलाकार को अहंवादी बनाता है। इसी प्रवृत्ति के वशीभूत हो वह किसी मत या वाद का प्रबल पोषक या कट्टर समर्थक बनता है। कलाकार कला में अपने जीवन के अभावों को दूर करने का प्रयास करता है। कला सृजन कलाकार की आत्महीनता की मानसिक क्षतिपूर्ति की प्रक्रिया मात्र है और कुछ नहीं।

युग के अनुसार कला सृजन की प्रक्रिया में मनुष्य की अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी दोनों ही प्रवृत्तियों का गहरा प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः यह कलाकार के व्यक्तित्व की दो विशेषताएँ हैं, जो उसके सृजनात्मक प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों के अन्तर के कारण कलाकार के कला साधना तथा सृजन प्रक्रिया में गहरा अन्तर उपस्थित हो जाता है। यह अन्तर प्रेमचन्द तथा जैनेन्द्र के उदाहरण से स्पष्ट हो सकता है। प्रेमचन्द का व्यक्तित्व बहिर्मुखी है जब कि जैनेन्द्र का व्यक्तित्व अन्तर्मुखी है।

१७. प्रगतिवादी आलोचना प्रणाली—मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से सम्बन्धित होने के कारण इस आलोचना प्रणाली को मार्क्सवादी आलोचना या भौतिकवादी आलोचना भी कहते हैं। कभी-कभी इसके लिए सामाजिक यर्थाथवादी, आलोचना, अथवा सोवियत समीक्षा पद्धति आलोचना आदि नामों का प्रयोग भी किया जाता है। किन्तु प्रगतिवादी आलोचना या मार्क्सवादी आलोचना शब्द ही अधिक प्रचलित हैं।

आलोचना की यह प्रणाली जीवन के विभिन्न पक्षों के सन्दर्भ में साहित्य का मूल्यांकन करती है। जीवन की स्थिरता को इन लोगों ने अस्वीकारा है। इनके अनुसार जीवन नित्य परिवर्तन शील है। प्राचीन के प्रति मोह और नवीन के प्रति आकर्षण के परिणामस्वरूप ही साहित्य में द्वन्द्व उपस्थित होता है। यह द्वन्द ही वर्ग-संघर्ष के रूप

में अभिव्यक्त होता है। मार्क्स की धारणा है कि मानव जाति के इतिहास का विकास उत्पादन और वितरण के साधनों और वर्ग-संघर्ष के दो फूलों के बीच प्रवाहित होता है और उसी संघर्ष के अनुकूल समय-समय पर सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, और आर्थिक आदर्श निर्मित होते रहते हैं। साहित्य के आदर्शों के निर्माण में भी इन्हीं तत्वों का हाथ रहता है। यही कारण है कि इस प्रणाली के अनुसार साहित्यकार को प्राचीन के प्रति मोह नहीं रखना चाहिये। वर्ग-संघर्ष के आधार पर ही कलाकार को जीवन के तत्वों को प्रस्तुत करना चाहिए। साहित्य में मात्र कोरी भावुकता ही महत्वपूर्ण नहीं है। जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण की अवहेलना नहीं की जा सकती। वर्ग-संघर्ष में अन्त में सत्ता सर्वहारा वर्ग के ही हाथ में आयेगी। अतः साहित्य या कलात्मक कृति में इसी सर्वहारा युग की स्थापना होनी चाहिये।

प्रगतिशीलता ही साहित्य का मूल तत्व है। इसी से प्रभावित होकर इस प्रणाली में साहित्य के मूल्यांकन का आधार सामूहिक भावों की अभिव्यक्ति की क्षमता माना गया। जिस साहित्य में ऐसी आय-व्यवस्था को प्रमुखता मिलती है, जिसमें समानता हो और राष्ट्रीय आय के समान वितरण करने की प्रवृत्ति मिलती हो, जिसमें सामाजिक विकास को प्रोत्साहन मिले, वही साहित्य श्रेष्ठ है। क्योंकि साहित्य में मानवीय व्यक्तित्व की पूर्ण प्रतिष्ठा स्थापित होनी चाहिये। यदि साहित्य में इन तत्वों का अभाव मिलता है तो फिर इस प्रणाली के अनुसार उस साहित्य को श्रेष्ठ साहित्य नहीं कहा जा सकता। मार्क्सवादी आलोचना या प्रगतिवादी आलोचना प्रणाली वह समाज शास्त्रीय आलोचना प्रणाली है जो साहित्य के सामाजिक संघर्षों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करता है।

मार्क्स की धारणा है कि साहित्य और कला का आधार मूलतः आर्थिक होता है। वह लिखता है कि "Literature like all products of the human mind is ultimately detrimined by societys econonie relationships its means of Wateral Produetian-tirn" इससे यह स्पष्ट होता है कि बुर्जुआ साहित्य के महत्व को मार्क्सवाद पूर्णतः अस्वीकार करता है। वह परम्परा का कट्टर विरोधी है। पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि मार्क्सवाद कला को मात्र आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र मानता है। वास्तव में मार्क्सवादी साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जो मनुष्य के विकास में सहायक हो समाज को प्रगति की ओर अग्रसित कर सके। प्रसिद्ध साम्यवादी आलोचक बी० जी० ने रोम के अनुसार 'मार्क्सवादी सिद्धान्तों का अस्तित्व इस लिए नहीं है कि मार्क्सवादी लोग 'जन' से अलग हो जाए, बल्कि इसलिए कि वे 'जन' के साथ जुड़ जाएं।

प्रगतिवादी आलोचना प्रणाली विषय के समान, भाषा और शैली को भी जनवादी बनाने पर बल देती है। भाषा सीधी-सादी, अकृत्रिम, तथा चमत्कार हीन होना चाहिये। कलात्मकता के स्थान पर जीवन का जीवन्त रूप उभर कर प्रस्तुत होता है। यदि किसी कलात्मक या साहित्यिक कृति में इन तत्वों का अभाव है तो प्रगतिवादी समीक्षक उस रचना को श्रेष्ठ नहीं कहेगा। वह रचना की श्रेष्ता का मूल्यांकन कलात्मक अभिव्यक्तियों के आधार पर नहीं करता। उसका मापदण्ड अधिक व्यावहारिक होता है। वह रचना की श्रेष्ठता जीवन शक्तियों के आधार पर स्वीकार करता है। उसके अनुसार रचना यदि जीवन के विभिन्न पक्षों के प्रगति पर प्रकाश डालती है तो निश्चित रूप से वह श्रेष्ठ है। यदि रचना सर्वहारा वर्ग की स्थापना में सहयोग देती है तो वह श्रेष्ठ है। प्रगतिवादी आलोचना द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-वैषम्य के आधार को मानकर साहित्यकार और रचनाकार के जीवन तथा साहित्य की गतिशीलता को उभार कर प्रस्तुत करता है। उसका मूल लक्षरण समाज को प्रगति के पथ की ओर अग्रसित करना है जिससे मनुष्य क्रियाशील होकर, समाज को गतिशील बना सके।

—:o:—

अध्याय | १२

'काव्य'

परिभाषा—काव्य-रचना मानव जीवन की परम विभूति है। जो बाल्य-काल से लेकर प्रलय-काल तक बनी रहेगी। साहित्य के अन्य रूप बनते-बिगड़ते रहेंगे, किन्तु काव्य की दिव्य ज्योति मन्द न पड़ सकेगी। वह श्रृंगार नहीं वरन् मानव जीवन के वृत्त पर खिला हुआ पुष्प है। कवि प्रतिभा ईश्वरीय देन है जिसका पोषण अनुकरण और अभ्यास द्वारा होता है। कवि का मानव मन और मस्तिष्क दोनों को झंकृत कर जीवन का नव-निर्माण करता है। पाश्चात्य आलोचकों ने कविता की अनेक परिभाषाएँ दी हैं। किन्तु अभी तक किसी एक परिभाषा को सर्वमान्य परिभाषा नहीं कहा जा सकता। कुछ परिभाषाएँ सीमित हैं और कुछ बहुत व्यापक। उन सभी परिभाषाओं का उल्लेख यहाँ नहीं हो सकता हम यहाँ कुछ परिभाषाओं की ही चर्चा करेंगे।

अरस्तू के अनुसार कवि केवल अतीत तक अपने को सीमित नहीं रखता। वह भविष्य के गर्भ में भी प्रवेश करता है। साथ ही कविता अपनी भावनाओं में अनुकरण का रूप मात्र है और पद्य में उसकी रचना उसका अनिवार्य गुण नहीं है। काव्यदार्शनिक और सार्वभौम व्याख्या युक्त होता है। इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि अरस्तू को कवि सृष्टा के रूप में देखते हैं। कवि सृजन करता है।

सरफिलिप सिडनी के अनुसार काव्य अनुकरण की एक ऐसी कला है जिसका लक्ष्य आनन्द और उपदेश देना है। मिल्टन की दृष्टि में कविता सरल आनन्दप्रद और भावात्मक होनी चाहिये। गेटे ने कविता को मूलतः एक कला माना है। उसने कला की कलात्मक अभिव्यंजना पर अधिक बल दिया है। इसके विपरीत बर्डसवर्थ उन कवियों में से है जिसने कविता में शैली की अपेक्षा कल्पना तत्व पर अधिक बल दिया है। शैली ने काव्य को आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति माना है। उसके अनुसार कवि का मूल गुण 'To reveal and to illuminate' है। एमर्सन की दृष्टि में काव्य अंतरात्मा को प्रकाशित करता है। कीटस ने काव्य को मनुष्य के सुन्दरतम् विचारों की अभिव्यक्ति माना है। उसकी धारणा है कि कवि के मन में बिम्ब का उदय उसी प्रकार होना चाहिए जिस प्रकार सूर्य का उदय होता है। जिस प्रकार वृक्ष में पत्ते निकलते हैं उसी प्रकार कविता सहज प्रेरणाजन्य होती है।

इन विभिन्न परिभाषाओं में से कौन-सी परिभाषा उचित और ठीक है। यह एक जटिल प्रश्न है, जिसका उत्तर देना आसान नहीं है। सच पूछा जाय तो काव्य एक कला है जिसका सीधा सम्बन्ध कल्पना से परिपूर्ण मानवी भावों से हैं। इसकी अभिव्यक्ति संगीत मय और छंदयुक्त भाषा के माध्यम द्वारा होती है। मात्र उपदेश या शिक्षा प्रधान होने पर ही हम किसी रचना को काव्य नहीं कह सकते। भावों की अभिव्यक्ति की प्रधानता के बिना काव्य को काव्य नहीं कहा जा सकता। भावात्मक अभिव्यक्ति से ही जीवन को गति मिलता है। शिक्षाप्रद रचना काव्य की दृष्टि में कितना ही अच्छा क्यों न हों, जब तक उसमें मानवी भावों को अभिव्यक्ति का सच्चा रूप प्रस्तुत नहीं होगा, तब तक उसको हम उच्च कोटि का काव्य नहीं कह सकते। रहीम और वृन्द की रचनाओं से बहुत कुछ शिक्षा मिलती है। उनमें जीवन को आचार संहिता का मूलरूप चित्रित है। पर इन कवियों को तुलसी और सूर की समकक्षता में नहीं रखा जा सकता। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना भी आवश्यक है कि काव्य एक कला है। जीवन में भावनाओं का साक्षात्कार तो सभी कर लेते हैं। सभी प्राणियों के हृदय में अनुभूतियाँ उठती हैं और अपने ढंग से वह उसकी अभिव्यक्ति करता है। पर उसकी अभिव्यक्ति में वह सौंदर्य नही रहता जो कवि की अभिव्यक्ति में रहता है। कवि अपने भावों की अभिव्यक्ति को ऐसे व्यापक परिवेश में प्रस्तुत करता है कि वे भाव फिर उसके जीवन के भाव न रहकर मानव जाति के भाव बन जाते हैं। अपने इन्हीं भावों के कारण कवि-कवि कहलाता है। इसीलिए तो आँर्नल्ड ने कविता को जीवन की समीक्षा माना है। श्रेष्ठ काव्य एक युग विशेष काव्य नहीं होता। वह वे युग-युगान्तर तक अपनाया जाता है।

'कविता क्या है ?' इस प्रश्न को भारतीय आचार्यों ने एक दूसरे रूप में उठाया। उन्होंने कविता की आत्मा को खोजने का प्रयास किया। काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में भारतवर्ष में छः प्राचीन सम्प्रदाय प्रचलित हैं—

१. रस-सम्प्रदाय।
२. अलंकार सम्प्रदाय।
३. रीति-सम्प्रदाय।
४. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय।
५. ध्वनि-सम्प्रदाय।
६. औचित्य-सम्प्रदाय।

१. **रस सम्प्रदाय**—रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक काव्य का उद्देश्य पाठक को रसानुभूति प्रदान करना है। काव्य में रस को उत्पन्न करने की शक्ति होती है। अतः रस ही काव्य की आत्मा है। रस की यह शक्ति काव्य में भावनाओं के चित्रण से उत्पन्न

होती है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार भावनाओं और उनसे सम्बन्धित विभिन्न अंग विभाव-अनुभाव आदि ही काव्य का प्राण है। रस सिद्धान्त में कोरे भाव के स्थान पर रस को महत्व दिया है।

अग्निपुराणकार ने काव्य में रस की अनिवार्यता घोषित करते हुए कहा कि जिस प्रकार लक्ष्मी त्याग के बिना शोभित नहीं होती। उसी प्रकार वाणी भी रस के बिना शोभित नहीं होती। अग्नि पुराणकार रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करता है। महिम भट्ट ने भी रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करने का निर्देश दिया है। विश्वनाथ ने तो इसी आधार पर लिखा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' है।

रसवादी आचार्यों के अतिरिक्त ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने भी रस के महत्व को स्वीकारा है। उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा तथा रस को ध्वनि का एक भेद 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि' नाम से स्वीकार करते हुए रस को ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप घोषित किया है। इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया।

२. **अलंकार सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा अलंकार है। क्योंकि अलंकारों से ही काव्य का स्वरूप सजता और सँवरता है, निखरता है। इस सम्प्रदाय के आचार्यों में भामह, दण्डी और रुद्रट का नाम प्रमुख है। ये आचार्य सौंदर्य की सृष्टि में अलंकार को ही अधिक महत्व देते हैं। जिस प्रकार रमणी अलंकार के बिना शोभित नहीं होती। उसी प्रकार कविता भी अलंकार के बिना सजती नहीं। अलंकार हीन काव्य इनकी दृष्टि में काव्य ही नहीं है।

३. **रीति सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन थे। वामन ने विशिष्ट पद रचना को ही रीति माना है। विशिष्ट पद रचना की विशेषता गुणों के कारण आती है। इसलिए वामन ने रीति और गुण में अंतर नहीं माना। इन लोगों ने गुण को रीति पर आश्रित माना है। गुण २ प्रकार के होते हैं—शब्द गुण और अर्थ गुण। जिनकी संख्या दस-दस है। इन गुणों से विशिष्ट रीति को वामन ने—काव्य की आत्मा कहा है जिसके ३ भेद है—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली।

वैदर्भी में सभी गुण होते हैं। गौड़ी में ओज और कांति होता है तथा पाँचाली में माधुर्य और सकुमार होता है। वामन के अनुसार गुण शब्दगत हों, अर्थ गत हों या शब्दार्थ गत। प्रत्येक स्थिति में रीतियों की स्वीकृति आवश्यक है।

४. **वक्रोक्ति सम्प्रदाय**—वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुतंक थे। उनके अनुसार उक्ति को वैचित्र्य पूर्ण ढंग से प्रस्तुत करना ही काव्य है क्योंकि इसके बिना काव्य में चमत्कार उत्पन्न नहीं हो सकता। कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति एक व्यापक तत्व है। उन्होंने इसके पहले ६ प्रमुख भेद गिनाए और फिर ३० उपभेद। इस प्रकार

उन्होंने अपने समय में प्रचलित सभी काव्य तत्वों की वक्रोक्ति में समाहित कर इसको काव्य का मूल तत्व माना। जैसे—वे अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों को वर्ण विन्यास वक्रता कहते हैं तथा उपमा रूपक आदि अर्थालंकारों को वाक्य वक्रता के नाम से पुकारते हैं।

५. **ध्वनि सम्प्रदाय**—ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्धन ने स्पष्ट शब्दों में ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। ध्वनि वह अर्थ है जो वाच्यार्थ से अलग है। इसे व्यंग्यार्थ भी कहा जाता है। उनके अनुसार ध्वनि तत्व काव्य का आन्त-रिक तत्व है। आनन्दवर्धन की धारणा है कि ध्वनि महाकवियों की वाणी में कुछ और ही होती है। यह वाच्यार्थ से ऐसे भिन्न होती है जैसे किसी अंगना के अंग से फूटता हुआ लावण्य। अथवा किसी लज्जाशील रमणी के मुख से झलकती हुई लज्जा की आभा। आनन्दवर्धन ने काव्य के विविधि चमत्कार को ध्वनि पर ही आधरित माना ध्वनि के तारतम्य के आधार पर उन्होंने समस्त काव्य को तीन भागों में विभाजित किया—ध्वनि काव्य, गुणीभूत व्यंग्य काव्य और चित्र काव्य।

६. **औचित्य सिद्धान्त**—यह सिद्धान्त वास्तव में कोई अलग सिद्धान्त या सम्प्रदाय नहीं है। इस सम्प्रदाय का लक्ष्य गुण अलंकार रस आदि का प्रयोग औचित्य पूर्ण ढंग से करना है। इस सम्प्रदाय के प्रतिपादक क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही काव्य का जीवन कहा है। किन्तु यहाँ जीवित शब्द आत्मा का प्रर्याय नहीं है। इसीलिए आचार्यों की यह धारणा है कि काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में यह प्रश्न विचारणीय है।

काव्य-तत्व—पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य के विभिन्न तत्वों की विस्तृत व्याख्या की है। अरस्तू, जाँनसन, बर्ड्सवर्थ, मैथ्यूआॅर्नल्ड, मैकाले आदि के विचारों का अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन आचार्यों ने मूल रूप में काव्य के चार तत्वों को स्वीकारा है। वे तत्व हैं—

भावतत्व, कल्पना तत्व, बुद्धि तत्व और शैलीतत्व।

'भाव-तत्व'—इन आचार्यों के अनुसार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसका क्षेत्र भी अति-व्यापक है। यह काव्य को प्रभावशाली बनाता है। इसके बिना काव्य जीवन्त काव्य नहीं हो सकता। भाव तत्व ही कविता का प्राण है। भावो-मेष के अनुकूल ही काव्य में कल्पना, छंद एवं शब्द तत्व का प्रयोग होता है। भाव-प्रधान कविता ही श्रेष्ठ कविता होती है। भावनाओं की अभिव्यक्ति से ही कविता आकर्षक बन जाती है भावनाओं के अभाव में वह मात्र शब्दों का खिलवाड़ बन कर रह जाती है। अतः कविता में भाव-तत्व की ही प्रधानता रहती है।

काव्य का दूसरा तत्व 'कल्पना' है। कल्पना ही वह शक्ति है जसके माध्यम से कवि निराकार वस्तु को साकार रूप में प्रस्तुत करता है। विविध दृश्यों की सामने

प्रस्तुत करना कल्पना का ही कार्य है। कल्पना के माध्यम से आप चित्र भाव प्रेरित करते हैं तथा विचारों को भी उत्तेजित करने की शक्ति रखते हैं। सूक्ष्म विशेषताओं और गुणों को चेष्टा, क्रिया-कलाप और अभिव्यक्ति के प्रयोजन को तथा भाव की उलझन तीव्रता और प्रभाव को कल्पना की सहायता के बिना पूर्णतया प्रगट नहीं किया जा सकता। वास्तव में कल्पना की सामर्थ्य ही कवि की प्रतिभा है।

पाश्चात्य आचार्यों ने काव्य का तीसरा तत्व 'बुद्धि-तत्व' माना है। यद्यपि यह सत्य है कि बुद्धि का स्थान भाव और कल्पना के बाद आता है पर फिर उसके महत्व को किसी तरह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मानव के सभी क्रिया कलापों में बुद्धि तत्व का सक्रिय योगदान रहता है। बुद्धिहीन काव्य को प्रशंसा नहीं मिल सकती। काव्य में बुद्धि का आश्रय ले कर कवि भावों को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। बुद्धि-तत्व के द्वारा ही कवि का व्यक्तिगत दृष्टिकोण उसके काव्य में उभर कर प्रस्तुत होता है। पर यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि इन आचार्यों ने इस बात पर बराबर बल दिया है कि काव्य में बुद्धि के अनुभूति के ऊपर नहीं उठना चाहिये। 'मेरी' की धारणा है कि साहित्य में बुद्धि अपने शुद्ध रूप में नहीं रहती। वह सदा ही भावना की अनुगामिनी भृत्या के रूप में आती है।

काव्य का चौथा तत्व शैली तत्व है। इसी को काव्य का कला-पक्ष कहा जाता है। शैली की सफलता और सार्थकता इस बात पर रहती है कि वह भावों की अनुगामिनी है। वह शैली उत्तम है जो भावों की भली-प्रकार से अभिव्यंजित कर सके। पोप ने शैली को विचारों का परिधान कहा है। कुछ परवर्ती आचार्यों ने इसे त्वचा बतलाया है। बात ठीक भी है। भाव चाहे जितने उदात्त हों, कल्पना चाहे जितनी प्रखर हो और बुद्धि चाहे जितनी सुथरी हुई हो पर यदि उसकी अभिव्यक्ति ठीक नहीं है तो सब की उपादेयता समाप्त हो जाती है। शैली के अंत, शब्द, अर्थ, अलंकार, छंद, मुहावरे आदि समस्त अभिव्यक्ति कौशल आते हैं।

पाश्चात्य आचार्यों ने काव्य के लिए इन चारों तत्वों का होना आवश्यक बताया है। किसी भी एक तत्व के अभाव में काव्य का निर्माण होना असम्भव है। अतः प्रत्येक तत्व अन्योन्याश्रित हो और सभी के सहयोग से ही काव्य की सर्जना होती है।

काव्य का वर्गीकरण—पाश्चात्य आलोचकों ने काव्य को २ बड़े वर्गों में विभाजित किया है —

पहला वर्णनात्मक तथा दूसरा व्यक्तिपरक।

वर्णनात्मक के अन्तर्गत महाकाव्य और रूपक काव्य आते है। इस काव्य में प्रायः अतीत कालीन घटनाओं और पात्रों का चित्रण होता है। कवि सुदूर अतीत के सुनहरे काल को चुनता है और अपनी कल्पना के सहारे उसे अभिव्यक्त करता है।

वर्णनात्मक के अन्तर्गत ही महाकाव्य; खण्डकाव्य और स्फुटकाव्य आ जाते हैं। स्फुट काव्य के अन्तर्गत ही एलिगरी, पैरेबल, मिथ डाइडैक्टि पोइट्री, सटायर, पैस्टोरल आदि आते हैं।

काव्य का दूसरा प्रकार व्यक्ति परक है। इसके अन्तर्गत एलिजी, गीत-काव्य आदि की गणना की जा सकती है ऐसी रचनाओं में अनुभूति के क्षणों की प्रधानता रहती है। कवि उन भावों को व्यक्त करता है जिसे बर्ड सवर्थ ने 'Recollected in tranquillity' कहा है। इस प्रकार के काव्य में कवि अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध भावों और विचारों का चित्रण करता है।

भारतीय आचार्यों ने भी काव्य को विभाजित करने का प्रयास किया है। इन आचार्यों में भामह, दण्डी वामन, रुद्रट तथा विश्वनाथ का नाम उल्लेखनीय है। इनके अनुसार काव्य को इस प्रकार विभाजित किया जा सकता हो।

पहला, भाषा के आधार पर काव्य के प्रमुख तीन भेद संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आचार्यों ने माने हैं।

दूसरा व्यंग्य के तारतम्य के आधार पर काव्य के ३ भेद माने हैं—ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र।

तीसरा काव्य रूप के आधार पर काव्य के २ भेद माने हैं—दृश्य काव्य और श्रव्यकाव्य दृश्य काव्य वो है जिसका अभिनय किया जा सके। भारतीय आचार्यों ने इसे रूपक भी कहा है। 'रूपक' के दस भेद माने गए हैं—नाटक, प्रकरण, भाण व्यायोग, समवकार, डिम, इहामृग, अंकतीथि और प्रहसन। इसमें 'नाटक' प्रमुख है। दृश्य काव्य का दूसरा भेद उपरूपक है। जिसके १८ भेद माने गये हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य रासक, प्रस्थान, उलल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हेल्लीश और माणिका।

श्रव्यकाव्य उसे कहते हैं जिसका अभिनय न हो सके। अर्थात् जिसे पढ़ अथवा सुनकर सहृदय आनन्द पा सके। श्रव्यकाव्य के तीन भेद पद्य (छन्दोबद्ध), गद्य (छन्दरहित) और चम्पू (गद्यपद्यमय काव्य) माने गए हैं।

पद्य काव्य के १० भेद हैं। मुक्तक, युग्मक विशेषक, कलापक, कुलक, महाकाव्य, काव्य खण्डकाव्य, कोश तथा व्रज्या गद्य काव्य के चार भेद माने गए हैं मुक्तक, वृत्तगंधि, उत्कलिकाप्राय तथा चूंणिक। कथावस्तु के आधार पर गद्य काव्य के २ भेद माने गये है—कथा और आख्यायिक। विरूद और करम्भक।

'महाकाव्य'—योरप में कहाकाव्य के विकास की कई अवस्थाएँ रही हैं। पहली अवस्था में 'इलियड' तथा औडेसी' जैसे वीर काव्य रक्खे जा सकते हैं। दूसरी अवस्था में 'एनीड' जैसे अलंकृत महाकाव्यों का स्थान आता है। तीसरी अवस्था में 'रोमांच'

महाकाव्य रक्खे जा सकते हैं, जैसे 'स्पेंसर' का फेयरी क्वीन'। चौथी अवस्था में स्वच्छन्दतावादी दृष्टि से लिखे गये महाकाव्यों का स्थान आता है।

महाकाव्य के सम्बन्ध में अरस्तू का विचार था कि ये वह काव्य रूप हैं जिसमें कथात्मक अनुकरण होता है, जिसका रूप समख्यानात्मक होता है, जिसमें षठपदी छन्द का प्रयोग होता है, जिसमें उच्चकोटि के पात्र होते हैं, जिसका कथानक दुःखान्त नाटक के समान अनविति युक्त होता है और समस्याएं विस्तृत होती हैं। इस प्रकार अरस्तू में महाकाव्य के कुछ लक्षणों को निर्धारित किया है—

पहला, महाकाव्य एक लम्बा कथात्मक काव्य है।

दूसरा छन्द की दृष्टि से उसमें आदि से अंत तक एक ही छन्द 'षठपदी' का प्रयोग होना चाहिए। अरस्तू की धारणा है कि जहाँ तक छन्द का प्रश्न है वीर छन्द अनुभव की कसौटी पर अपनी उपयुक्तता सिद्ध कर चुका है। यदि अब कोई किसी अन्य छन्द में या अनेक छन्दों में समाख्यानात्मक काव्य लिखें तो असंगत होगा। कई वृत्तों का मिश्रण कर देना तो इससे भी अधिक अयुक्त है।' अरस्तू ने एक-एक ही छन्द के प्रयोग की आवश्यकता का अनुभव सम्भवत; इसलिए किया था कि जिसमें महाकाव्य की गरिमा को आघात न पहुँचे। उनकी धारणा थी कि अनेक छन्दों के प्रयोग से काव्य का प्रवाह खण्डित हो जाता है और महाकाव्य की गरिमा को आघात पहुँचता है।

तीसरा; महाकाव्य का तीसरा तत्व कथानक है। महाकाव्य का कथानक इतिहास से लिए जाने पर भी इतिहास से भिन्न होता है। क्योंकि इतिहास तो एक काल के एक या अनेक व्यक्तियों और घटनाओं का वर्णन करता है। इसके विपरीत महाकाव्य किसी एक व्यक्ति या घटना को किसी ऐसी बातों का वर्णन करता है जिससे उसका कथानक विश्रृंखलित होने से बच जाए और साथ में समन्वित बने रहे। इसमें कवि कल्पना को भी छूट रहती है। महाकाव्य के कथानक में यथार्थ जीवन से अधिक श्रेष्ठ जीवन का चित्रण होता है। अरस्तू की धारणा है कि महाकाव्य का लक्ष्य जीवन की समग्रता का चित्रण करना है। अतः कवि अपनी कल्पना जीवन के विविध क्षेत्रों तथा विविध वस्तुओं व व्यापारों का सजीव चित्रण करता है।

महाकाव्य का चौथा तत्व 'पात्र' है। अरस्तू के अनुसार महाकाव्यों के पात्र को भद्र; कुलीन, वैभवशाली, यशस्वी, सहज मानवीय गुण-दोषों से युक्त और उदात्त होना आवश्यक है। वह तीन प्रकार के पात्रों—वास्तविक, परम्परागत और आदर्श—को महाकाव्य के लिए अनुकरणीय मानता है। उसकी धारणा है कि नायक में सर्वोच्च गुणों तथा आदर्शों का समावेश होना चाहिए जिससे उसमें संघर्षरत होने की क्षमता और शक्ति हो।

महाकाव्य की शैली, अरस्तू के अनुसार समाख्यानात्मक होनी चाहिए।

सामाख्यानात्मक शैली में कवि अपनी ओर से अप्रत्यक्ष रूप में कथा को प्रस्तुत करता है। भाषा अलंकृत तथा जन-सामान्य की भाषा से अलग होनी चाहिए। अरस्तू महाकाव्य के लिए नाटकीय शैली का आवश्यक मानते हैं। क्योंकि इससे दृश्यात्मकता के साथ-साथ पात्रों के व्यक्तित्व से उत्पन्न सहज-वैचित्र्य का भी समावेश हो जाता है। इससे रचना मनोरंजक बन जाती है।

महाकाव्य का छठाँ आवश्यक तत्व भाषा है। अरस्तू में गरिमा और प्रसाद गुण को आवश्यक माना है। गरिमा लाने के लिए असामान्य शब्द प्रयोग, वाक्य रचना और मुहावरों के प्रयोग को आवश्यक माना है। उनकी धारणा है कि इससे भाषा-शैली का धरातल ऊँचा हो जाएगा। 'एबर क्रोम्बे' ने भी इसी बात को महत्व दिया है। उनके अनुसार वृहद् आकारण के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं बन सकता। महाकाव्य की शैलो ही उसे महाकाव्य बना सकती है। अरस्तू में महाकाव्य का अन्तिम तत्व उद्देश्य माना है। उनके अनुसार त्रासदी के समान ही महाकाव्य का प्रयोजन भी मनोवेगों के विरेचन द्वारा मनः शान्ति प्राप्त करना है।

योरप के महाकाव्यों के इतिहास में दूसरे युग का प्रारम्भ 'वर्जिल' से माना जा सकता है। इस द्वितीय युग को शास्त्रीय अलंकृत महाकाव्यों का युग कहा जा सकता है। इसका उत्कर्ष अंग्रेजी कवि मिल्टन के महाकाव्यों 'Paradise Lost और 'Paradise Again' में मिलता है। शास्त्रीय अलंकृत महाकाव्य पिछले महाकाव्यों से बिलकुल भिन्न है। इनकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१. इसका कथानक इतिहास पुराण या धर्म ग्रंथ से लिया जाता है और विषय गुरु-गम्भीर होता है।

२. उसमें विकसनशील महाकाव्यों की अपेक्षा कार्यान्विति अधिक होती है।

३. उसका उद्देश्य महान् होता है। जैसे देश का गौरव, चित्रण, धार्मिक और नैतिक मूल्यों की स्थापना।

४. इसमें पुस्तकीय ज्ञान और पाण्डित्य की प्रधानता होती है। इसकी शैली सचेष्ठ प्रयत्नसाध्य और कलात्मक होती है।

५. इसमें नायक की व्यक्तिगत वीरता के स्थान पर देश-भक्ति और समाज-कल्याण की भावना का चित्रण अधिक होता। है प्रेम का भी चित्रण इसमें अधिक पाया जाता है।

६. इन महाकाव्यों में पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसमें पात्रों के चरित्र-चित्रण पर भी ध्यान दिया जाता है। इसके पात्र अपनी

विशेषताओं के अतिरिक्त देश वासियों की चारित्रिक विशेषता भी प्रस्तुत करते हैं।

७. इसमें अलौकिक तत्वों का प्रयोग अत्यन्त संयमित रूप में मिलता है।

८. इन महाकाव्यों में युग की राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना को अभिव्यक्त किया गया है।

योरप में लिखे गए तीसरे प्रकार के महाकाव्यों को 'रोमांच-महाकाव्य; कहते हैं। यद्यपि पहले के भी महाकाव्यों में रोमांच तत्व रहता था, पर उनकी प्रधानता नहीं थी। रोमांच महाकाव्यों में रोमांच तत्वों को प्रधानता मिली। ऐसे महाकाव्यों में लैटिन भाषा में लिखा गया टैसों का 'यरूसलम लिबरेटा' तथा अंग्रेजी में लिखा गया 'स्पेंसर' का 'फेयरी-क्वीन' प्रसिद्ध है। रोमांच महाकाव्यों में और शास्त्रीय महाकाव्यों में तात्विक अन्तर है—

१. शास्त्रीय महाकाव्यों का बौद्धिक स्तर बहुत ऊँचा है जब कि रोमांच महाकाव्यों में भावुकता और कल्पना का आधिक्य पाया जाता है।

२. रोमांच महाकाव्यों में रोमांच लाने के लिए युद्ध, प्रेम, यात्रा की भयंकरता आदि का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन किया जाता है जब कि शास्त्रीय महाकाव्यों में इन तत्वों पर अंकुश लगा रहता है।

३. रोमांच महाकाव्य का उद्देश्य मात्र मनोरंजन होता है।

४. उसमें कथा कथा के लिए कही जाती है। कल्पना के आधिक्य के कारण इसमें लौकिक और अमानवीय तत्वों की प्रधानता रहती है। जब कि शास्त्रीय महाकाव्यों में इन तत्वों को संयमित रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

५. रोमांच महाकाव्यों में कार्यान्विति पर अधिक बल नहीं दिया जाता है। उसका कथन प्रवाहमय और विविधता पूर्ण होता है।

६. रोमांच महाकाव्य के पात्र वीर होने के साथ-साथ प्रेमी भी होते हैं। उनका वीर रूप प्रेमी रूप से दबा रहता है।

१८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पुरानी मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह हुआ। फलतः यह युग महाकाव्य का युग न रह कर गीतिकाव्य का युग हो गया। इसमें व्यक्तिगत अनुभूतियों पर अधिक बल दिया गया। पर इस गीतिकाव्य के युग में भी कुछ महाकाव्य लिखे गए। यथा गेटे का 'फाउस्ट'। 'टैनिसन' में शास्त्रीय और रोमांच महाकाव्यों की शैली को मिला जुला कर एक-एक नई शैली का आविष्कार किया और उस नई शैली के आधार पर उसने 'आइडियल्स ऑफ द किंग' को रचना की। २०वीं शताब्दी में 'टामस हार्डी' ने दि-डाइनेस्ट्स' नामक महाकाव्य लिखा। जिसमें स्वगत कथनों की प्रधानता है। इन सभी महाकाव्यों में पात्रों का मनोवैज्ञानिक

विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इनमें प्राचीन शास्त्रीय महाकाव्यों के नियमों का उल्लंघन किया गया है। अतः ऐसे महाकाव्यों को स्वच्छन्दतावादी महाकाव्य कहा जाता है। 'ब्राउनिंग' का 'दि-रिंग एण्ड बुक' ऐसे महाकाव्यों में सर्वश्रेष्ठ है।

महाकाव्यों के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों ने भी बहुत विचार-विमर्श किया है। 'भामह' में सर्ग बद्ध रचना को ही महाकाव्य कहा है। उनके अनुसार महाकाव्य का आकार बड़ा होना चाहिए। उसकी कथा का आधार महान् चरित्र होना चाहिए। भाषा अलंकारिक और शिष्ट होनी चाहिए। महाकाव्य में राजदरबार युद्ध आदि का विशद वर्णन होना चाहिए। इसमें नाटक के पाचों संधियों का भी समावेश होना चाहिए। इसमें नायक की गरिमा का ही चित्रण होता है। किसी अन्य पात्र का उत्कर्ष दिखाने के लिए नायक का बध नहीं किया जाता है।

दण्डी ने महाकाव्य के बाह्य पक्ष पर अधिक बल दिया है। उनके अनुसार महाकाव्यों में वर्णन की विविधता, अलंकारों की प्रधानता और चमत्कार की प्रखरता आवश्यक है। रुद्रट ने महाकाव्य के लक्षण में महान् उद्देश्य, महान् चरित्र, महती घटना और समग्र जीवन के रसात्मक चित्रण को ही महत्व दिया है।

विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत लक्षणों को समन्वित करते हुए महाकाव्य की निम्न विशेषताएं बताई हैं—

१. काव्य के प्रारम्भ में नमस्कार मंगलाचरण आशीर्वचन, सज्जन स्तुति, दुर्जन निंदा आदि का चित्रण होना चाहिए।

२. कथानक ऐतिहासिक होना चाहिये।

३. कथावस्तु का सर्गों में विभाजन होना चाहिये।

४. नाटकीय संधियों का पालन होना चाहिये।

५. नायक को उच्च-कुल का होना चाहिए। उसमें धीरोदात्त गुण की प्रधानता होनी चाहिये। एक वंश के एक से अधिक राजा भी नायक हो सकते हैं।

६. श्रृंगार, वीर, और शांत रसों में से किसी एक की प्रधानता होनी चाहिये। अन्य रसों का अंग रूप में प्रतिपादन होना चाहिये।

७. धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि द्वारा फल प्राप्ति का चित्रण होना चाहिये।

८. सर्ग ८ से अधिक होने चाहिये। सर्ग के अन्त में छन्दों का परिवर्तन होना चाहिये।

९. संध्या, सूर्य, रजनी, प्रातः, मध्याह्न यात्रा, मृगया आदि का सांगोपांग वर्णन होना चाहिये।

१०. महाकाव्य का नामकरण कवि, कथा, अथवा नायक के आधार पर होना चाहिये। सर्गों का नामकरण कथा के आधार पर किया जाना चाहिये।

विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत महाकाव्यों के इन लक्षणों का ही साहित्यकारों ने अनुसरण किया है। आधुनिक हिन्दी काव्य शास्त्र में संस्कृत की पुष्ट परम्परा का पूर्ण रूप से प्रभाव पड़ा पर बहुत से आलोचकों ने पाश्चात्य साहित्य से भी प्रेरणा ग्रहण की अतः महाकाव्य के सम्बन्ध में कुछ नए विचार प्रस्तुत किए गए। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने महाकाव्यों में केवल चार तत्वों को महत्वपूर्ण माना।

१. इतिवृत्ति,
२. वस्तुव्यापार वर्णन
३. भाव-व्यंजना
४. संवाद।

शुक्ल जी ने परोक्ष रूप से संदेश की महत्ता और शैली की प्रौढ़ता को महाकाव्य का मूल लक्षण माना। डॉ० नागेन्द्र ने कामायनी को दृष्टि में रखते हुए महाकाव्य के ५ तत्व माने हैं—

१. उदात्त कथानक।
२. उदात्त कार्य।
३. उदात्त चरित्र।
४. उदात्त भाव।
५. उदात्त शैली।

गीतिकाव्य—गीतिकाव्य का जन्मदाता ग्रीक कवि 'पिण्डार' माना जाता है। गीतिकाव्य को अंग्रेजी में 'लिरिक-पोइट्री' कहते हैं। 'लिरिक' शब्द की उत्पत्ति 'लायर' शब्द से हुई है। जिसका अर्थ है 'वीणा'। वीणा पर गाये जाने के कारण गीतों को 'लिरिक' कहा गया है। प्रारम्भ में उसमें देवी-देवताओं और वीरों का प्रशंसा गान ही रहा करता था। संगीत से इसका सम्बन्ध प्रारम्भ से ही है। 'लिरिक' के लिए 'टेनिसन' ने कहा है कि Short Swallow Flights of Song that dip their wings in tears and Skim away.'

गीतिकाव्य की आत्मा 'भाव' है। इसमें हृदय तत्व की ही प्रधानता रहती है। सच्ची गीति कविता में सरलता का आधिक्य रहता है वह तीव्र मनोवेगों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती है। इसीलिए म० का० देश पाण्डेय ने इसकी तुलना चाँदनी की मुस्कान से की है। इनका कथन है कि जिस प्रकार संतान को देखते ही माँ के स्तनों से दूध की धारा फूट पड़ती है। उसी प्रकार कवि के अंतरंग से भावना की

एक धारा फूट निकलती है। पाश्चात्य आचार्यों ने रीति कविता के निम्न तत्वों को माना है—

१. गेय तत्व। श्रेष्ठ गीतिकाव्य संगीतमय होता है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि वह कविता स्वर और लय के बन्धनों से बँधी हुई हो पर फिर भी संगीत उसका अनिवार्य गुण है। संगीत का आश्रय ग्रहण करके ही वह हृदय के भावों को झंकृत कर रस धारा प्रवाहित करती है। यह संगीत शब्द का भी संगीत हो सकता है और लय का भी।

२. व्यक्तित्व—गीतिकाव्य की दूसरी प्रमुख विशेषता उसका व्यक्ति प्रधान होना है। इसमें अपने हृदय की भावनाओं को सुख दुःख और आनन्द विवाद को अभिव्यक्त करता है।

गीति कार्य की दृष्टि वैयक्तिक और आत्मनिष्ठ करती है।

३. भाव प्रवणता—भावतत्व गीतिकाव्य की आत्मा है। ब्रूनतीयर की धारणा है कि गीतिकाव्य में कवि भावानुकूल लयों में अपनी आत्मनिष्ठ वैयक्तिक भावना व्यक्त करता है। गीतिकाव्य में हृदय की भावनाएँ उन्मुक्त रूप से प्राकृतिक वेग के साथ फूट पड़ती हैं।

४. रागात्मक अन्विति—गीति काव्य की रचना करते समय कवि प्रारम्भ में एक भाव विशेष से प्रेरित होता है। भावना के उस वेग से उसका हृदयांतर झंकृत हो उठता है। अपने उस भाव को वह शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करना चाहता है। अनुभूतियों का बिम्ब द्वारा प्रस्तुत करता है। उसका मूल्य भाव एक विशेष पंक्ति में शब्दबद्ध हो जाता है। यही पंक्ति कविता का प्राण होती है। अन्य काव्य-पंक्तियां उसी से सम्बद्ध रहती हैं। यह पंक्ति-विशेष ही रागात्मक अन्विति में सहायक होती है। महादेवी के गीतों की पंक्तियाँ ऐसी ही हैं। जो उनके मूल भावों को शब्दबद्ध करती है।

५. आत्म प्रवणता—सम्पूर्ण गीति काव्य में आत्म प्रवणता का होना अनिवार्य है। जब तक उसका आंतरिक हृदय सहज हो द्रवित नहीं होगा तब तक वह गीति काव्य की रचना कर ही नहीं सकता।

६. प्रवाहमयी शैली—गीतिकाव्य में शैली का प्रवाह अत्यावश्यक है। शैली के प्रवाह से भावनात्मक अभिव्यक्ति और भी अधिक प्रवाहपूर्ण तथा प्रेषणीय हो जाती है।

गीतिकाव्य के भेद—गीतिकाव्य के अनेक भेद किए गए हैं। मूख्यतः गीतों को २ प्रकारों में विभाजित किया गया है।

१. भाव गीत ।

२. विचार गीत ।

भावगीत में भावों की प्रधानता होती है जब कि विचार-गीत में गम्भीर विचार और तत्व दर्शन को प्रमुखता मिलती है। पश्चिम में भाव गीतों को ५ प्रकारों में विभाजित किया गया है—

१. चतुर्दश पदी (Sonnet) । सॉनेट का जन्म इटली से हुआ है। डॉन्टे और पेटार्क जैसे रचनाकारों मैं ने इसको लोकप्रिय बनाने में काफी योगदान दिया। इटली से यह काव्य विद्या फ्रॉंस तथा इग्लैण्ड में प्रचिलित हुआ में १६वीं शताब्दी में स्पेंसर-वाट्स सटे आदि रचनाकारों के माध्य में से इसकी लोकप्रियता बढ़ी। इसके बाद शेक्सपियर और मिल्टन जैसे कलाकारों का भी ध्यान इस ओर गया इन कुछ कलाकारों ने अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व के अनुकूल इसमें कुछ परिवर्तन हो गया। इसलिए स्थूल रूप में सॉनेट के २ वर्ग हों गए—

शेक्सपीरियन सॉनेट और इटैलियन सॉनेट है

सॉनेट में केवल भावना की ही प्रधानता नहीं रहती वरन् उसमें विचार तत्व को भी स्थान दिया जाता है। भावना तथा प्रौढ़ रचना होती है उसकी भाषा भावनाओं को तीव्रता से अभिव्यक्त नहीं करती वह गम्भीर, प्रौढ़ और मंथर गति से चलने वाली होती है। वह चंचल बालिका के समान न होकर गजगामिनी के समान होती है।

२. सम्बोधन गीत—इसमें स्तुतिपरक भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। पूज्य व्यक्ति आदि को सम्बोधित कर इसमें कवि अपने मन के आदर भावों को गम्भीर ढ़ंग से अभिव्यक्त करता है इसका विषय उथला बचकाना नहीं होता सम्बोधन गीत उदात्त तथा गम्भीर विषयों पर ही लिखे जाते हैं। सम्बोधन गीत वास्तव में एक प्रकार की लम्बी गीत कविता होती है जिसमें रचना वैचित्रय भी रहता है। शैली का OdeTo West Wind इसका प्रमाण है। इसमें कवि ने अपने मानसिक दुःख और आक्रोश को पश्चिम हवा के माध्यम से व्यक्त किया है इसका विषय गम्भीर, भव्य, उदात्त तो हैं ही पर भाषा भी प्रौढ़ तथा गम्भीर है।

३. शोक गीत—(Elegy) इसमें मृत व्यक्ति के प्रति शोक व्यक्त किया जाता है शोक गीत स्वाभाविकता का होना आवश्यक है क्योंकि इसके अभाव में कविता प्रभावहीन हो जायगी। 'स्पेंसर की ऐस्ट्रोफेक', मिलटन की 'लिसीडस' आर्नल्ड की रगबी चैपल अंग्रेजी के सुन्दर शोकगीत माने जाते हैं। इन शोक गीतों में दार्शनिक विचारों को प्रधानता मिलती है।

कुछ शोक गीत ऐसे होते हैं जिसमें मृत व्यक्ति के प्रति शोक को विचित्र ढ़ंग से व्यक्त किया जाता है। ऐसे शोक गीतों को 'Pastoral Elegy' कहते हैं इसकी

भाषा आलंकारिक होती है कवि इसमें अपने को गोप समझता है मृत व्यक्ति को भी गोप मानता है फिर गोपों का जीवन पशुओं, मैदानों, घाटिओं आदि चित्रण करता है तथा मृत्यु से उत्पन्न दुःखों का वर्णन करता है। अंग्रेजी में इस प्रकार का शोक गीत 'lycidas' है। इसमें कवि ने अपने मित्र 'एडवर्ड किंग की मृत्यु पर शोक प्रकट किया है।

व्यंग्य गीत—व्यंग्य गीत पाठकों को हंसाता नहीं वरन् उनके मुख पर मुस्कान लाता है वह उनके मन को गुदगुदाता है और मीठी चुटकी द्वारा प्रभावित करता है। सफल व्यंग्य गीतकार की बुद्धि चपल होती है। वह जीवन की विसंगतियों का सूक्ष्म निरीक्षण करता है। वह स्वभाव से विनोदप्रिय तथा विचारक होता है। ढोंग आडम्बर और वाह्याडम्बर से उसे चिढ़ होती है। व्यंग्य का सहारा ले कर समाज के नेत्र खोलता है। व्यंग्य गीत कार प्रहार न करके हल्की सी चपत मरता है। हिन्दी में निराला का 'कुकुर मुत्ता, व्यंग्य गीत का सुन्दर उदाहरण है।

शिशुगीत—शिशु गीत का प्रयोग प्रायः २ अर्थों में किया जाता हैं।

पहला, वे गीत जो बच्चों पर लिखे जाते हैं।

दूसरा, वे गीत जिनमें बच्चों की भावनाऔ का चित्रण होता है। बहुधा दूसरे प्रकार के गीतों को ही शिशु गीत माना जाता है। इन गीतों में बच्चों के सरल मानसिक भावों का वर्णन होता है। अतः शिशुगीत कार को मनोविज्ञान से भली भाँति परिचित होना चाहिए। उनकी भावनाओं का स्वाभात्रिक अंकन करने के लिए गीतकार को बच्चों की भाषा का प्रयोग करना चाहिए। ऐसा न करने पर गीत शिशु गीत कहलाने के अधिकारी नहीं रह जाते।

—:o:—

अध्याय | १३

नाटक

भारतीय आचार्यों के अनुसार रूपक के १० भेद होते हैं। इन १० भेदों में नाटक सर्वांगपूर्ण हैं। व्यावहारिक दृष्टि से रूपक और नाटक को एक ही समझा जाता है। भारत ने भी रूपक के लिए नाटक शब्द प्रयोग किया है। ,पाणिनी, नाटक की उत्पत्ति नट् शब्द से मानते हैं रामचन्द्र, गुणचन्द्र ने 'नाट्य दर्पण, में इसका उद्भव नाट् धातु से माना जाता है। 'बेबर, और 'मोनियर-विलियम्स, का मत है कि नट् धातु 'नृत् धातु का प्राकृत रूप है। बहुत से विद्वानों का विचार है कि नृत् और नृत्य नाट्य ही के दो प्रथम भूमिकाएं हैं। भरत के अनुसार नाना भावों और नाना अवस्थाओं से सम्पन्न लोक वृत्त के अनुकरण का नाम ही नाटक है। धनन्जय के अनुसार अवस्था के अनुकरण को नाटक कहते हैं। विश्वनाथ की धारणा है कि नाटक की कथा प्रसिद्ध होनी चाहिए इसके कथानक का निबन्ध 'गौ, की पूँछ के अग्रभाग के समान होनी चाहिए अर्थात बीज में वर्णित कथा एक क्रम से पुष्पित होकर फल प्राप्त में सहायक हो उनके अनुसार नायक दिव्य धीरोदत्त तथा उच्चकुल का होना चाहिए। नाटक में ५ १० अंक होने तथा श्रंगार और वीररस में से किसी एक की प्रधानता होनी चाहिए।

भारतीय आचार्यों ने नाटक के ३ मूल तत्वों का निर्देश किया है

१—वस्तु (कथानक)
२—नेता या पात्र (चरित्र चित्रण)।
३—रस।

१. वस्तु या कथानक—वस्तु से अभिप्राय कथानक या नाटकीय इतिवृत्त से है भारतीय आचार्यों ने नाटक के कथानक को अधिकरी, अभिनय, नाट्य प्रयोग तथा लोक वृत्त के आधार पर विभाजित किया है।

अधिकारी की दृष्टि से भारतीय आर्यों ने कथावस्तु के २ भेद किए है। अधिकारकि कथा और प्रासंगिक कथा।

आधिकारिक कथा—नाटक का फल अधिकार होता है और उसका भोगने वाला नायक अधिकारी कहलाता है। अतः जो कथा नायक के जीवन से सम्बन्धित होती है उसे आधिकारिक कथा कहते हैं। यह कथा नाटक के प्रारम्भ में अन्त तक व्याप्त रहती हैं। इसके अन्तरगंत नायक को फल प्राप्त होती है। इसी को मुख्य कथा भी कहते हैं। बीज, बिन्दु तथा कार्य इसके तीन अंग हैं।

प्रासंगिक कथा—ऐसी कथा जो प्रधान कथा की सहायक हो, और किसी प्रसंगवश नाटक में आ गई हो, को प्रासंगिक कथा कहते हैं। नाटक में इस प्रकार की कथाएँ एक या एक से अधिक होती हैं। ऐसी कथा का नायक से प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो नहीं रहता, पर फिर भी इन कथाओं से मूल कथा को गति मिलती है। संस्कृत आचार्यों के अनुसार प्रासंगिक कथा के पताका तथा प्रकरी २ भेद हैं। पताका वह कथा है जो मुख्य कथा के साथ अन्त तक चलती है। इसके विपरीत प्रकरी थोड़ी दूर तक चलकर ही समाप्त हो जाती है।

अभिनय की दृष्टि से—भारतीय आचार्यों ने कथानक को दृश्य और सूच्य दो भागों में विभाजित किया है।

दृश्य—कथावस्तु का वह अंश है जो रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है, दृश्य कहलाता है।

सूच्य—कथावस्तु का वह अंश जो रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किया जाता वरन् जिसकी सूचना मात्र दे दी जाती है को सूच्य कहते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार वध, युद्ध, जन्म-मरण, राष्ट्र-विल्पव, स्नान, चुम्बन आदि दृश्यों का निषेध है। अतः उनकी सूचना मात्र दे दी जाती है। सूच्य वस्तु को सूचना देने वाले साधनों को आर्थोपक्षेपक कहते हैं।

१. **विष्कम्भक**—बीती या अगली घटनाओं का सूचना देने वाला अंश विष्कम्भक कहलाता है। इसका प्रयोग नाटक के आरम्भ मध्य या अन्त कहीं भी हो सकता है। इसके शुद्ध तथा मिश्र दो भेद हैं। शुद्ध के सभी प्रात्र मध्यम श्रेणी के तथा संस्कृत बोलने वाले होते हैं। मिश्र में मध्यम और निम्न दोनों ही पात्रों का मिश्रण होता है। इसके पात्र प्राकृत भाषा में बोलते हैं।

२. **प्रवेशक**—इसके अन्तर्गत भी घटनाओं की सूचना विशकम्भक की भाँति ही दी जाती है। किन्तु इसके पात्र अधम श्रेणी के होते हैं और प्राकृत भाषा बोलते है अधम पात्रों के होने के कारण प्रवेशक का प्रयोग नाटक के प्रारम्भ में वर्जित है।

३. **चूलिका**—पर्दे के पीछे दी जाने वाली सूचना को चूलिका कहते हैं।

४. **अंकास्य**—यदि किसी ऐसी बात की सूचना दी जाय जिससे अंगला अंक प्रारम्भ होता हो तो उसे अंकास्य कहते हैं।

५. **अकावतार**—जहाँ प्रथम अङ्क की वस्तु का विच्छेद किये बिना दूसरा अंक प्रारम्भ हो जाय वहाँ अंकावतार कहते हैं।

नाट्य प्रयोग—(संवाद) दृष्टि से कथानक के ३ भेद किए जाते हैं। सर्व श्रव्य, अश्रव्य और नियत श्रव्य।

१. सर्व श्रव्य—सर्व श्रव्य कथानक का ही अंश है जो सबके सुनने के लिए होता है।

२. अश्रव्य—कथानक का वह अंश जो पात्र अपने आप कहता है इसी को स्वगत् भी कहते हैं। इसी का एक रूप आकाशभाषित भी है। जब कोई पात्र अकेले में आकाश की ओर मुख करके बोलता है और ऐसा दिखाता है कि उसे कहीं दूर से आवाज सुनाई पड़ रही है तो उसे आकाश भाषित कहते हैं।

३ नियत श्राव्य—नियत श्रव्य कथानक का वह अंश है जिसे रंगमंच के कुछ चुने हुए पात्र ही सुन सके।

लोकवृत्ति की दृष्टि से—कथानक के ३ प्रकार के भेद किए जाते हैं—

१. प्रख्यात—इतिहास, पुराण से सम्बन्धित या लोक प्रसिद्ध घटना से गृहीत कथा को प्रख्यात् कहते हैं। इसमें कवि कल्पना का अंश दबा सा रहता है।

२. उत्पाद्य—जो कथा कवि कल्पना से विकसित हो उसको उत्पाद्य कहते हैं।

३. मिश्र—जिस कथानक को नाटककार ने अपनी कल्पना के आधार पर चित्रित किया हो उसे मिश्र कथानक कहते हैं।

कथा विन्यास—संस्कृत आचार्यों ने कथा विन्यास के ३ मूल आधार माने हैं—

१. कार्य अवस्था।

२. अर्थ प्रकृति।

३. सन्धि।

१. कार्य अवस्था—कार्य की सिद्धि के लिये नायक की मानसिक दशा को ध्यान में रखते हुए समस्त कथानक के विकास को ५ अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है—

पहला, प्रारम्भ—इसमें कथानक का प्रारम्भिक भाग आता है, जिससे नायक इच्छा तथा प्रमुख उद्देश्य के बारे में ज्ञात होता है।

दूसरा, प्रयत्न—इसमें नायक के उद्देश्य में बाधक, विघ्नों को दूर करने का प्रयास किया जाता है।

तीसरा, प्राप्तयाशा—इस अवस्था में नायक का उत्कर्ष होता है। उसके मार्ग की कठिनाइयाँ दूर होने लगती हैं और वह फल प्राप्ति के लिये आशावान हो उठता है।

चौथा, नियताप्ति—इस अवस्था में नायक की सभी बाधाएँ दूर हो जाती हैं। उसे फल प्राप्ति का निश्चय हो जाता है।

पाँचवा, फलगम—इसमें नायक को फल की प्राप्ति हो जाती है।

२. **अर्थ प्रकृति**—'अर्थ' से तात्पर्य 'वस्तु' के फल से है। प्रकृति का अर्थ 'कारण' या हेतु से है। इस प्रकार नाटक में फल प्रयोजन की सिद्धि के लिए व्यापार करने वाली घटनाओं को 'अर्थ प्रकृति' कहते हैं। इससे नाटक के प्रयोजन, फल तथा लक्ष्य का पता चलता है। अर्थ प्रकृतियाँ पाँच हैं—

पहला, 'बीज'—फल के प्रथम कारण को बीज कहते हैं। प्रारम्भ में कथन छोटे रूप में होता है, लेकिन आगे चलकर इसका विस्तार नाटक को व्याप्त कर लेता है इसीलिए इसको 'बीज' कहते हैं।

दूसरा 'बिन्दु'—आवान्तर कथा के विच्छिन्न होने पर जो घटना इसे प्रधान कथा के साथ सम्बद्ध करती है, उसे विन्दु कहते हैं। रामचन्द्र गुणचन्द्र का विचार है कि जिस प्रकार माली बीज बोने के बाद उसका विकास करने के लिए उस पर बूँदे छिड़कता है उसी प्रकार नाटक का लेखक बीजारोपण के बाद बिन्दु का विकास करता है।

तीसरा, पताका—मूल कथानक को फल प्राप्ति की ओर अनुभव करने वाली बड़ी प्रासंगिक कथाओं को पताका कहते हैं।

चौथा, प्रकरी—छोटी-छोटी कथाएँ जो मुख्य कथा के विकास में योगदान देती हैं उसको प्रकरी कहते हैं। ये मुख्य कथा को सहायता देकर समाप्त हो जाती हैं।

पाँचवा, कार्य—वह साध्य जिसकी सिद्धि के लिए नाटक में सामग्री एकत्रित किया जाता है, को कार्य कहते हैं।

३. **संधि**—धनञ्जय की धारणा है कि संधि कथानक के अंगों को समन्वित कर जोड़ती है। इसका उद्देश्य इष्टार्थ की रचना, गोपनीय अंश का गोपन, प्रकाशनीय अंश का प्रकाश, राग प्रयोग तथा आश्चर्य उत्पन्न करना होता है। संधि के ५ प्रकार हैं—

पहला मुखसंधि—बीज तथा आरम्भ को मिलाने वाली संधि मुख संधि कहलाती है यह नाटक का वह अंश है जहाँ विभिन्न कथाओं और उपकथाओं की सृष्टि होती है।

दूसरा प्रतिमुख—बिन्दु तथा यत्न को मिलाने वाली संधि का नाम प्रतिमुख है। यह वह स्थल है जहाँ मुख संधि से उत्पन्न बीज कभी-कभी लक्षित होता है और कभी कभी अलक्षित।

तीसरा, गर्भ—गर्भ संधि नाटक का वह अंश है जहाँ किसी प्रकाशित बीज का बार-बार अन्वेषण होता है। बीज बिल्कुल नष्ट नहीं होता, वह दब जाता है या गर्भस्थ रहता है इसीलिए इसे गर्भ संधि कहते हैं।

चौथा, अवमर्श—इसमें बीज के अधिक विस्तार होने से कथानक फल की ओर उन्मुख होता है। फल-प्राप्ति में बाधा उत्पन्न हो सकती है, पर तब भी फल प्राप्ति की आशा अपेक्षाकृत अधिक होती है।

पाँचवा, निर्वहण—यहाँ पर कार्य सिद्ध हो जाता है और निर्दिष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है।

२. नेता या पात्र—भारतीय आचार्यों के अनुसार नाटक का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व 'पात्र' है। क्योंकि इन्हों के द्वारा नाटक में घटनाएँ घटित होती हैं और कथावस्तु का निर्माण होता है। नाटक के सबसे महत्वपूर्ण पात्र को नेता कहते हैं क्योंकि यही फल का अधिकारी होता है और कथा इसी के इर्द गिर्द चलती है अतः भारतीय आचार्यों में नायक के लिए कुछ गुणों का होना आवश्यक बताया है। दशरूपककार की धारणा है कि नेता को, विनीत, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रियवादी, लोकप्रिय, वाणि निपुण, उच्च वंश वाला, स्थिर स्वभाव वाला, युवा, उत्साही प्रज्ञ, कलाविज्ञ, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रज्ञ और धार्मिक होना चाहिये।

भरत ने नायक के ४ प्रकार माने हैं—

१. धीरोदात्त—दशरूपककार का कहना है कि धीरोदात्त नायक अपने संवेगों पर नियंत्रण रखने वाला, अति गम्भीर शभावान् अहंकार शून्य एवं दृढ़व्रती होता है।

२. धीरललित—धीरललित नायक कलापारखी, सुखी एवं कोमल स्वभाव वाला होता है। श्रृंगार प्रधान नाटकों में ऐसे ही नायक होते हैं। जैसे शकुन्तला नाटक के नायक दुष्यन्त को धीरललित नायक कहा गया है।

३. धीर प्रशांत—धीर प्रशांत नायक वह है जिसमें सामान्य गुणों के अतिरिक्त शांति और संतोष की प्रधानता होती है। ऐसा नायक ब्राह्मण ही होता है। पर संस्कृत नाटकों में कहीं कहीं वैश्य भी धीर प्रशान्त नायक हुआ है। 'मृच्छकटिक' नाटक का नायक 'चारुदत्ता' धीर प्रशांत वैश्य नायक है।

४. धीरोधत्त—इसमें धीरोदात्त नायक के उल्टे गुण पाए जाते हैं। जिस नायक में आत्मश्लाघा, अहंकार, शौर्य आदि का घमण्ड हो उसे धीरोधत्त नायक कहते हैं। ऐसे नायकों में 'भीमसेन' और 'परशुराम' प्रमुख हैं।

श्रृंगार रस की दृष्टि से यदि देखा जाय तो आचार्यों ने नायक को ४ प्रकार का माना है—

१. अनुकूल,
२. दक्षिण,
३. धृष्ट,
४. शठ।

भारतीय आचार्यों में नायक की पत्नी अथवा प्रेमिका को 'नायिका' कहा है। भरत ने नायिका के चार भेद माने हैं—

१. दिव्या,
२. नृपत्नी,
३. कुल स्त्री,
४. गणिका।

परन्तु यह भेद भारतीय काव्य में अधिक प्रचलित नहीं हो पाया। मूल रूप में नायिका के ३ भेद माने जाते हैं—

१. स्वकीया,
२. परकीया,
३. सामान्य।

यह भेद नायक के साथ उसके सामाजिक सम्बन्ध पर आधारित हो रुद्रट ने स्वकीया के 'मुग्ध' 'मध्या' तथा 'प्रगल्भा' भेद माने हैं जो अवस्था के अनुसार है। भानुदत्त में मुग्धा का विभाजन 'अज्ञात' यौवन, और 'ज्ञात-यौवना' तथा दूसरी दृष्टि से नवोढ़ा तथा विश्रब्धः नवोढ़ा माना है। रुद्रट ने मध्या और प्रगल्भा का विभाजन धीर, मध्या और अधीर तथा फिर ज्येष्ठा और कनिष्ठा में किया है। परमानुदत्त ने इस प्रकार का विभाजन स्वीकार नहीं किया है। हिन्दी के अधिकांश कवियों ने भानुदत्त का अनुसरण करके मध्या और प्रगल्भा का विभाजन नहीं किया।

संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्यों ने परकीया का *विभाजन ऊढ़ा अनूढ़ा तथा* में किया है। हिन्दी में नन्ददास सुन्दर जसवंत सिंह जैसे कुछ कवियों ने परकीया का विभाजन कर इसके विभेद को नहीं माना है। कृपाराम ने 'परोढ़ा' को परकीया और परनिर्वाहिता में विभाजित किया है। परितोष ने परकीया के २ विभाजन माने हैं। एक के अनुसार परकीया का दृष्टि ज्येष्ठा, असाध्या तथा साध्या में और दूसरे के अनुसार उद्‌बुद्ध और उद्बोदिता में विभाजित किया है।

सामान्या के सम्बन्ध में कुछ आचार्यों ने स्वकीया के भेदों को ही स्वीकार किया है।

रस—भारतीय साहित्य शास्त्र के अनुसार साहित्य का प्रमुख उद्देश्य पाठकों को रसानुभूति प्रदान करना है। 'रस का' अर्थ है आस्वाद। जैसे भोजन, पेय पदार्थों का स्वाद लिया जाता है उसी प्रकार काव्य रस का भी स्वाद लिया जाता है। इसी से रस को दृश्य-काव्य का आवश्यक तत्व माना जाता है। नाटक का तो प्रमुख तत्व रस ही है। क्योंकि रस का आधार भाव है और भाव मन के विकारों को कहते हैं। नाटक में भाव का बहुत महत्व है। इसीलिए रस को नाटक का आवश्यक तत्व माना जाता है। भारतीय आचार्यों में रस के परिपाक के सम्बन्ध में गहरा मतभेद है। भरत ने तो केवल इतना लिखा था कि विभाव, अनुभव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस

की निष्पत्ति होती है। बाद के आचार्यों ने संयोग तथा निष्पत्ति के भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं इसी से उत्पत्तिवाद, अनुमितिकावद, मुक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद जैसे विभिन्न रस सिद्धान्त चल पड़े।

भरत के अनुसार शांत रस को छोड़कर शेष रसों का प्रयोग नाटक में हो सकता है। शृंगार और वीर रस में से किसी एक रस की प्रधानता होनी चाहिए।

पश्चिमी विचारकों की नाटक के सम्बन्ध में भारतीय विचारकों से भिन्न धारणा है। अंग्रेजी में नाटक के लिए ड्रामा शब्द का प्रयोग होता है। आइवर ब्राउन, का मत है कि ड्रामा यूनानी शब्द से निकला है। उस यूनानी शब्द का अर्थ 'कृत्त' है। 'थियेटर' जिस यूनानी शब्द से निकला है उसका अर्थ है 'प्रेक्षण स्थल'। 'ऑडियन्स' लेटिन भाषा से आया है। प्राचीन काल में नाटकों में भावनाओं के प्रस्तुतिकरण की प्रधानता थी। धीरे-धीरे नाटकों में विचार तत्व का भी समावेश होने लगा।

अरस्तू ने नाटक के भेदों का विशेष विवेचन किया है उसके 'संकलन त्रयी' का सिद्धान्त फ्रेंच साहित्य में बहुत लोक-प्रिय हुआ। अरस्तू ने नाटकों की व्याख्या इस प्रकार से की है।

उसमें यूनानी नाटकों के उत्थान की ऐतिहासिक व्याख्या धार्मिक कृत्यों में होने वाले सहगानों के उल्लेख द्वारा की तथा नाटकीय संवेगों की व्याख्या मनोवैज्ञानिक विवेचन द्वारा प्रस्तुत की है।

उसने अनुकरण के सिद्धान्त की व्याख्या की। उसकी धारणा थी कि मनुष्य अनुकरणशील प्राणी है और अनुकरण द्वारा ही सीखता है। मानव विज्ञान के नियमानुसार नाट्य अभिनव के पीछे मनुष्य की अपने को प्रदर्शित करने की जन्मजात प्रवृत्ति निहित है। सम्भवतः 'क्रत' वस्तु की रचना सबसे पहले हास्य के प्रयोजन से ही की गई होगी। इसीलिए अरस्तू ने अनुकरण की पृष्ठभूमि में सार्वभौम हास्य का उल्लेख किया है। लेकिन जब ये 'क्रत' वस्तुएँ धार्मिक कृत्यों में बदलने लगीं तो इनके उद्देश्य भी धार्मिक और पवित्र हो गए। सभ्यता के विकास के साथ-साथ धार्मिक भावना का लोप होता गया और नाटक के प्रति धारणा भी बदलने लगी अब यह समझा जाने लगा कि नाटक अवकाश के क्षणों के मनोरंजन के लिए लिखा जाता है। अतः अब संवेगात्मक संघर्ष के स्थान पर विचार संघर्ष को प्रधानता मिली। प्राचीन देवी-देवताओं के स्थान पर मनोरंजक पात्रों को प्रतिष्ठित किया गया।

नाटयशास्त्र के प्रथम पाश्चात्य आचार्य अरस्तू ने ड्रामा के ५ प्रधान तत्व माने हैं।

१. कथावस्तु,

२. चरित्र।

३. शैली,
४. विचार,
५. शिल्प एवं संगीत ।

अरस्तू के लगभग ३०० वर्षों बाद रोमन आचार्य 'हुरेश' का उदय हुआ। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'दि अपीलस टु दि पिसौस' में नाट्य सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। जो निम्न हैं :—

१. नाटककार को चरित्र-निर्माण में जनता की परम्परागत भावनाओं की रक्षा और निर्वाह करना चाहिये।
२. कुछ निषिद्ध और वीभत्स बातें रंगमंच पर नहीं दिखाई जानी चाहिय।
३. नाटक में केवल ५ अंक होने चाहिये।
४. देवताओं आदि को रंगमंच पर नहीं दिखाना चाहिये।
५. शेष सिद्धान्त यूनानी नाट्य-शास्त्र के पालन करना चाहिये।

'अरस्तू' और 'हुरेश' के सिद्धान्तों के आधार पर 'शेक्सपीयर' और 'मौलीयर' आदि नाटककारों ने कुछ मौलिक सिद्धान्तों का विकास किया। उन सबको मिला-जुला कर पाश्चात्य नाट्य के कुल ७ तत्व माने जाते हैं—

१. कथावस्तु,
२. चरित्र-चित्रण,
३. संवाद या कथोपकथन,
४. गीत,
५. अभिनेयता,
६. भाषा-शैली,
७. देश-काल।

1. कथावस्तु—अरस्तू ने नाटक में कथावस्तु को चरित्र-चित्रण से अधिक महत्व दिया है। उनको धारणा है कि चरित्र-चित्रण के बिना तो नाटक बन सकता है, पर बिना कथावस्तु के नाटक की रचना नहीं हो सकती। कथावस्तु में आदि, मध्य, और अन्त तीनों तत्व स्पष्ट रहने चाहिये। अरस्तू के विचार में कथावस्तु के विन्यास में ४ तत्वों को होना चाहिये—

१. प्रस्तावना, २. उपसंहार, ३. अंक तथा, ४. ध्रुवक।

पाश्चात्य आचार्यों ने नाटक के कार्य व्यापार की पाँच स्थितियाँ मानी हैं—

१. प्रारम्भ या प्रस्तावना (एक्सपोजीशन),
२. कार्य-विकास (राईज़ ऑफ ऐक्शन),

३. संघर्ष या चरमसीमा (क्राइसिस, क्लाइमेक्स),
४. निगति (डेन्यूमाँ) और समाप्ति (कनक्लूजन)।

१. **प्रारम्भ या प्रस्तावना**—इसमें नाटककार का उद्देश्य होता है, प्रेक्षकों को वे सारी सूचनाएँ दे देना जो नाटक को समझने के लिये आवश्यक हों। यूनानी नाटककार सुपरिचित कथाओं को प्रारम्भ में रख देते थे अथवा प्रलोभ में सारी कथा का सारांश प्रस्तुत कर देते थे। उत्कृष्ट प्रस्तावना की विशेषता यह होती है कि स्वाभाविक बातचीत के रूप में प्रस्तुत की जाती है। उसका प्रारम्भिक घटना से इतना गहरा संबंध रहता है कि दर्शक यह अनुभव नहीं कर पाता कि ये सूचनाएँ उसे जानबूझ कर दी जा रही हैं। 'इप्सन' के 'एडॉल्स हाउस' तथा 'गोस्ट्स' आदि नाटकों में यही विशेषता मिलती है।

२. **कार्य-विकास**—प्रारम्भिक घटना से ही कार्य-विकास आरम्भ होता है। प्रारम्भिक घटना तथा प्रस्तावना में अन्तर यह है कि प्रस्तावना नाटक के कार्य-व्यापार से अलग उसकी भूमिका मात्र है। प्रारम्भिक घटना जहाँ प्रारम्भ होती है वहाँ प्रस्तावना समाप्त होती है। प्रारम्भिक घटना से लेकर संघर्ष तक का भार कार्य-विकास कहलाता है। कार्य-विकास का पूर्व भाग उलझन तथा समस्याओं से भरा रहता है। इसमें कार्य संघर्ष की दिशा की ओर अग्रसरित होता है।

३. **संघर्ष**—कार्य-विकास के बाद संघर्ष की स्थिति आती है। यह वह स्थिति है जिसमें विरोधी शक्तियाँ अपनी शक्ति के साथ संघर्ष में तत्पर होती हैं और कथावस्तु को निर्णयात्मक रूप प्रदान करती हैं। संघर्ष के बाद से ही एक शक्ति शक्तिशाली होने लगती है तथा दूसरी क्षीण। संघर्ष में केवल दो विरोधी शक्तियाँ ही प्रधान रूप से रहती हैं। प्रेक्षक की सहानुभूति केवल एक शक्ति के साथ होती है। संघर्ष के लिए चरम लक्ष्य का होना आवश्यक है। संघर्ष की घटनाएँ कार्य-व्यापार का ही अंश हैं। नाटक का वह स्थल जहाँ विरोधी शक्ति पूर्णरूपेण हार जाती है संघर्ष या चरम सीमा कहलाती है।

४. **निगति और समाप्ति**—संघर्ष के बाद समाप्ति की स्थिति आती है। यह कथावस्तु की वह अन्तिम स्थिति है जिसमें नाटक का अन्तिम परिणाम हमारे सम्मुख आ जाता है। अरस्तू के अनुसार परिणाम का स्वाभाविक होना अति आवश्यक है। यदि नाटक का परिणाम कार्य-कारण के सिद्धान्त पर आधारित न होकर मात्र संयोग पर आधारित है तो नाटक निम्न श्रेणी का माना जायगा।

'हट्सन' ने कार्य-व्यापार की छठी स्थिति को भी माना है। वह है 'कैटेस्टॉफी या 'दुर्घटना'। यह वह स्थिति है जहाँ पर कार्य अपनी पूर्णता पर पहुँच कर किसी दुर्घटना के फलस्वरूप सहसा अवरुद्ध हो जाता है।

'संकलन त्रय'—अरस्तू ने अपने काव्य-शास्त्र में कथानक के सम्बन्ध में संकलन-त्रयी के सिद्धान्त को अपनाया है। उनके अनुसार नाटक के कथावस्तु में कार्य, स्थान और समय (देश-काल) का संकलन बहुत आवश्यक है। इस प्रकार अरस्तू ने 'कार्य-संकलन', 'स्थान-संकलन' और 'समय-संकलन' को कथावस्तु के निर्माण में अत्यन्त आवश्यक माना है।

१. **कार्य-संकलन**—कार्य-संकलन से अरस्तू का अभिप्राय यह था कि नाटक में केवल उन्हीं कार्यों और घटनाओं का वर्णन किया जाना चाहिये जो प्रमुख घटना से सम्बन्धित है। कार्य के आदि, मध्य और अन्त में पूर्ण रूप से समन्वय होना चाहिये। अरस्तू की धारणा थी कि कार्य-संकलन की अभिव्यक्ति घटनाओं के कार्य-कारण सम्बन्ध के निर्वाह में तथा घटनाओं के एक लक्ष्य की पूर्ति के सहायक के रूप में होती है।

२. **स्थान-संकलन**—यद्यपि कि स्थान-संकलन की स्पष्ट चर्चा अरस्तू ने कहीं नहीं की तथापि अप्रत्यक्ष रूप से उसकी चर्चा हो ही गई है। स्थान-संकलन का अर्थ यह है कि कार्य एक स्थान पर घटित होना चाहिये। इससे रंगमंच की व्यवस्था करने में सुविधा होती है। इसीलिए प्रायः एक ही नगर में सभी पात्रों को किसी न किसी कार्य-वश लाकर एकत्रित करने की प्रथा रही है।

३. **समय संकलन**—अरस्तू ने समय-संकलन को भी महत्त्व दिया है। उनके अनुसार नाटक की घटना सूर्य के एक संक्रमण मात्र के समय के अन्तर्गत ही सीमित रखना चाहिए। सूर्य के संक्रमण काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद रहा है। कुछ विद्वान उसका अर्थ १२ घण्टे, कुछ २४ घण्टे, और कुछ ३० घण्टे तक लेते हैं। काल-संकलन के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वान २४, ३० या ४, ५ घण्टों के प्रतिबन्ध स्वीकार करने में संकोच करते हैं। वे अब महीनों और वर्षों की घटनाएँ भी रखना चाहते हैं।

१. **चरित्र-चित्रण**—कथानक के बाद चरित्र-चित्रण का स्थान है। हृट्सन ने चरित्र-चित्रण के महत्त्व पर बल देते हुए कहा है कि किसी भी नाट्यकला का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व चरित्र-चित्रण ही है। चरित्र-चित्रण आजकल के नाटकों का प्राण है। नाटकों में चरित्र-चित्रण की कई शैलियाँ दिखाई पड़ती हैं। जिसमें प्रमुख वर्णनात्मक शैली और नाटकीय शैली है। वर्णनात्मक शैली में पात्र एक दूसरे के गुणों और विशेषताओं का वर्णन करते हुए दिखाये जाते हैं, पर कला की दृष्टि से यह शैली बहुत श्रेष्ठ नहीं मानी जाती। दूसरी शैली नाटकीय शैली है जिसमें नाटककार चरित्र को उभारने के लिए स्वगत भाषण, रंगमंच-निर्देश, वातावरण-निर्माण, सापेक्षित चरित्र के पात्रों की अवतारणा, नाटक के नाटकीय विषमता की योजना तथा क्रिया-व्यापार की चरित्र व्यंजकता आदि युक्तियों का प्रयोग करते हैं।

३. **संवाद या कथोपकथन**—पाश्चात्य नाट्य-कला का तीसरा प्रमुख तत्त्व संवाद या कथोपकथन है। संवादों का महत्त्व कथा-विकास तथा चरित्र-चित्रण दोनों ही दृष्टियों से हैं। संवादों को देश-काल तथा परिस्थिति के अनुकूल होना चाहिये। इससे नाटक में स्वाभाविकता आती है। संवादों को संक्षिप्त और वाग्-वैदग्धपूर्ण होना चाहिये। वाक्वैदग्ध से नाटक में कौतूहल और रोचकता की सृष्टि होती है। यदि संवाद अधिक लम्बे होंगे तो उनमें प्रभाव-अभिव्यंजकता का अभाव होगा। संवादों को रसात्मक, सजीव और जीवन्त होना चाहिए। संवादों को तर्क-संगत होना अति आवश्यक है और उनमें पूर्वापर सम्बन्ध भी होना चाहिये। संवादों की भाषा सरल और प्रसाद गुण युक्त होना चाहिये।

संवादों से भावों, विचारों, वाह्य एवं आन्तरिक संघर्षों के बीच कथा को अग्रसरित किया जाता है। 'श्लेगेल' के शब्दों में नाटकों में प्रायः स्वगत-कथन का उपयोग करना अत्यावश्यक है। क्योंकि मानव जीवन में एकान्त में बैठ कर कुछ सोचता है, समस्याओं पर विचार करता है, तब अंतिम निर्णय लेता है। रंगमंच में यह कार्य स्वगत-कथन द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। स्वगत-कथन के संवाद बहुत स्वाभाविक और छोटे होने चाहिए। इतना बड़ा नहीं होना चाहिए कि उसमें अस्वाभाविकता आ जाय और वह पागल का प्रलाप लगने लगे। शेक्सपियर कृत 'हैमलेट' में इस पद्धति का बहुत सफल प्रयोग हुआ है।

३. **गीत**—नाटकों में गीतों की योजना को आवश्यक समझा गया। कई कारणों से नाटकों में गीतों का बड़ा उपयोग होता है।

१. गीतों से घटनामूलक नीरसता का निराकरण होता है।

२. गीत नाटकीय कथावस्तु की एकसूत्रता बनाए रखने में सहायक सिद्ध होते हैं।

३. भूतकाल की घटनाएँ जिनका वर्णन नाटक में नहीं हो सकता, के प्रति संकेत-गीतों द्वारा प्रस्तुत हो सकता है।

४. गीतों की योजना द्वारा कथावस्तु में सहायता मिलती है।

५. गीतों द्वारा सफल नाटककार परिस्थिति तथा वातावरण के निर्माण में प्रवृत्त होते हैं। इससे वे वातावरण निर्मित कर आनेवाली घटनाओं की समुचित पीठिका तैयार कर सकते हैं।

६. गीतों के माध्यम से पात्रों की मनोदशाओं और उनकी चारित्रिक विशेष-ताओं को चित्रित किया जा सकता है।

७. गीतों के माध्यम से नाटक में काव्यत्व का संचार होता है और इसी कारण नाटक के साहित्यिक सौंदर्य की वृद्धि होती है।

८. गीतों के माध्यम से नाटककार अभिनेयता की रक्षा और निर्वाह करता है।

४. अभिनेयता—अभिनेयता नाटक की प्राणभूत शक्ति है। वास्तव में नाटक को नाटकत्व प्रदान करने का श्रेय इसी को है। इसीलिए 'नाटकीयता' शब्द का प्रयोग भी पर्याय शब्द के रूप में किया जाता है। अभिनेयता की दृष्टि से निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :—

१. नाटक का सामान्य अर्थ है अभिनेय रचना। अतः सफल रचना वही हो सकती है जिसका आकार बहुत बड़ा न हो और जिसे दर्शक एक बैठक में सरलता से देख सके। एक बैठक में दर्शक अधिक से अधिक तीन-चार घण्टे बैठ सकता है। अतः नाटक को अधिक से अधिक तीन-चार घण्टे में समाप्त हो जाना चाहिये। उसमें पाँच से अधिक अंक नहीं होने चाहिये और प्रत्येक अंक में अधिक दृश्य नहीं होने चाहिये।

२. दृश्यों और अंकों के विभाजन में भी संतुलन होना चाहिये। नाटकों के अंकों और दृश्यों का क्रम इस प्रकार होना चाहिये कि दर्शक का मन न ऊबे।

३. अभिनेय नाटकों में दृश्य के अनुरूप दृश्यों के सजावटकी व्यवस्था की जाती है।

४. नाटक दृश्य-काव्य है। उसका लक्ष्य सामाजिकों का मनोरंजन करना है। रंजन वही कर सकता है जिसमें रस हो। इसीलिए नाटक का प्राण 'रस' माना गया है। रसानुभूति साधारणीकरण की अवस्था में ही हो सकती है। इसीलिए अभिनेय नाटकों की सफलता साधारणीकरण पर आधारित रहती है।

५. पाश्चात्य दृष्टि में नाटक में क्रिया-व्यापार को भी महत्व दिया गया है। क्रिया-व्यापार का प्रवेग और व्यापार के आधार पर अभिनेयता की सफलता निर्धारित रहती है।

५. भाषा-शैली—नाटक में अभिव्यक्ति का माध्यम संवाद है और संवादों का आधार भाषा-शैली है। नाटक में भाषा के कुछ नाटकोचित गुणों का होना अनिवार्य है। ये गुण हैं—भावानुकूलता, रोचकता, प्रवाह और पात्रानुकूलता। नाटक की शैली का सबसे प्रधान गुण यह है कि उसका प्रत्येक तत्त्व नाटकों को अभिनेय बनाने में सहायक हो। नाटक में रुचि उत्पन्न करने के लिए रहस्यात्मक शैली का भी प्रयोग किया जाता है इसीलिए उसमें रहस्यगोपन तथा आकस्मिक विस्मय से भी काम लिया जाता है।

६. देश-काल—नाटक में देश-काल का भी बड़ा महत्व है। देश-काल का चित्रण नाटकों में स्वाभाविकता, सजीवता और औचित्य की प्रतिष्ठा करता है। देश-काल के अंतर्गत नाटक में चित्रित युग-विशेष के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि विविध परिस्थितियों पर विचार किया जाता है।

'एकांकी'—संस्कृत आचार्यों ने रूपकों और उपरूपकों पर बड़े विस्तार से चर्चा की है। संस्कृत काव्यशास्त्र में वर्णित इन रूपकों और उपरूपकों में से बहुत से एकांकी हैं। इनमें से व्यायोग, भाण, प्रहसन, बीथि, नाटिका, गोष्ठी, नाट्य रासक, उलल्लाप्य, विलासिका, हल्लीश, भाणिका तथा अंक आदि प्रमुख हैं। हिन्दी में एकांकियों का जो रूप मिलता है वह भारतीय की अपेक्षा पाश्चात्य से अधिक प्रभावित है।

अंग्रेजी साहित्य में आधुनिक एकांकी के स्वरूप पर काफी कुछ विवेचना हुई है। 'सिडनी बॉक्स' ने अपने ग्रन्थ 'टेक्नीक ऑफ वन एक्ट प्ले' में लिखा है कि एकांकी का स्वरूप ऐसा नहीं होता जिसमें चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मताओं को महत्व दिया जा सके। एकांकी साहित्य की वह नियंत्रित और संयमित विधा है जिसमें एक ही घटना को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जाता है कि उसके प्रभाव ऐक्य से पाठकों और दर्शकों का मन आकृष्ट और आक्रांत हो जाय। 'पिकर्ड ईटन' ने एकांकी पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि एकांकी की प्रकृति ऐसी होती है कि उसमें नाटककार को किसी विशेष समस्या, किसी विशेष परिस्थिति अथवा घटना का इस प्रकार नियोजन करना पड़ता है कि वह धीरे-धीरे अपने आप विकसित हो जाय।

हिन्दी एकांकी के आचार्यों ने भी एकांकी कला पर बहुत कुछ प्रकाश डाला है। डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार एकांकी के निम्नलिखित तत्त्व होते हैं:—

पहला, एकांकी में किसी एक घटना से सम्बन्धित एक संवेदना होनी चाहिये। उस संवेदना का विकास कौतूहलपूर्ण नाटकीय शैली में होना चाहिये।

दूसरा, एकांकी की आधारभूत घटनाएँ हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन से सम्बन्धित होनी चाहिये। उनकी अभिव्यक्ति यथार्थवाद की ठोस आधार-भूमि पर होनी चाहिये।

तीसरा, संघर्ष एकांकी का प्राण है। आंतरिक संघर्ष के संयोजन से एकांकी का सौन्दर्य अधिक बढ़ जाता है।

चौथा, एकांकी की प्रमुख विशेषता, क्रियाशीलता और गतिशीलता है।

पाँचवाँ, एकांकियों में यथार्थवादी चित्रण आदर्शोन्मुख हो तो अच्छा है।

छठाँ, उसमें 'संकलन त्रय' का कठोरता से पालन होना चाहिये।

पण्डित सद्गुरुशरण अवस्थी के अनुसार एकांकी के छः मूल तत्त्व हैं—

१. एक सुकल्पित लक्ष्य होना चाहिये।

२. एक ही घटना, परिस्थिति या समस्या पर विचार होना चाहिये।

३. प्रवाह और अभिव्यक्ति प्रवेग होना चाहिये।

४. कथावस्तु, परिस्थिति आदि के निदर्शन में मितव्ययिता होनी चाहिये।

५. भावुकता से मानसिकता की अधिकता आवश्यक है।

६. अभिनेयता एकांकी के लिए आवश्यक है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के अनुसार एकांकी में तीन तत्त्वों का समावेश होना चाहियेः—

१. स्वरूप और समय की लघुता,

२. अभिनेयता,

३. रंग संकेतों का विस्तृत विवेचन।

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार एकांकी में पाँच तत्त्वों का होना आवश्यक है :—

१. एक अंक होना चाहिये।

२. एक महत्त्वपूर्ण घटना का नियोजन होना चाहिये।

३. उसमें विशेष परिस्थिति का वर्णन होना चाहिये।

४. संकलन-त्रय का पालन होना चाहिये।

५. प्रभाव और वस्तु का ऐक्य होना चाहिये।

इन समस्त मतों की आलोचना करने पर ऐसा अनुभव होता है कि एकांकी के स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। अवस्थी जी ने एकांकी को अभिनेय होना आवश्यक नहीं माना है, जब कि डॉ० रामकुमार वर्मा ने अभिनेय तत्त्व को उसका मूल रूप माना है।

एकांकी के मूल तत्त्व ८ होते हैं :—

१. कथानक,

२. चरित्र-चित्रण तथा पात्र,

३. संवाद,

४. देश-काल,

५. भाषा-शैली,

६. उद्देश्य,

७. रंग-संकेत,

८. अभिनेयता।

१. कथानक—कथानक ही एकांकी की आधारशिला है। इसी पर एकांकी का पूरा भवन खड़ा होता है। एकांकीकार को चाहिये कि वह जिस कथानक को भी अपनाये वह कपोल-कल्पित न हो। उसमें विश्वसनीयता का होना आवश्यक है। कथानक के लिए आवश्यक है कि वह संक्षिप्त हो। उसमें कौतूहल की मात्रा अधिक हो। बीती हुई घटनाओं का वर्णन करके एकांकीकार अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है अतः रोचकता उसका मुख्य गुण है। साथ ही कथानक को गतिशील भी होना चाहिये। संघर्ष और विकास की स्थितियों से गुजरता हुआ चरम बिन्दु की ओर तीव्रता से बढ़ना चाहिये। यह संघर्ष या तो व्यक्तियों, नायक और खलनायक में अथवा दो विरोधी भावों

में हो सकता है। संघर्ष को प्रस्तुत करने वाले एकांकी ही अधिक सजीव और आकर्षक बन पड़ते हैं। एकांकी के कथानक के लिए एकता, एकाग्रता तथा विस्मय का होना आवश्यक है।

२. **चरित्र-चित्रण तथा पात्र**—यद्यपि एकांकी का प्राथमिक तत्त्व कथानक है पर तब भी चरित्र-चित्रण आवश्यक है क्योंकि पात्रों के माध्यम से ही कथानक गतिशील हो सकता है। 'जार्ज सान्तयाना' का विचार है कि कथानक के निर्माण को हम आविष्कार कहते हैं पर चरित्र के निर्माण को हम सृष्टि कहकर गौरवान्वित करते हैं।

एकांकी में पात्रों की सख्या पाँच-छः से अधिक नहीं होती। इसमें मुख्य और गौड़ दोनों प्रकार के पात्र रक्खे जा सकते हैं। पात्रों का सजीव एवं व्यक्तित्वान तथा आकर्षक होना अत्यावश्यक है, क्योंकि इसके अभाव में एकांकी रोचक तथा प्रभावपूर्ण न हो पायगा। पात्रों के चरित्र का निर्माण उनके संस्कार, मनोविज्ञान और वातावरण के अनुसार ही होना चाहिये। जैसे—रामकुमार वर्मा रचित 'चारुमित्रा' एकांकी में बलिदान होने से पूर्व चारुमित्रा के चरित्र में अशोक के प्रेम प्राप्त करने और कलिंग देश की मर्यादा की रक्षा करने का अंतर्द्वन्द्व है।

३. **संवाद**—संवाद एकांकी का सर्वस्व है। उसके द्वारा ही कथा और चरित्र के स्थल प्रकाशित होते हैं। कथानक का प्रस्तुतीकरण पात्रों द्वारा बोले जाने वाले संवादों के माध्यम से ही होता है। संवाद एकांकी के चरित्रों की चरित्रगत विशेषताओं को व्यक्त करता है और एकांकी के कथासूत्र को विकसित करता है तथा संवाद का तीसरा काम पात्रों के भावों को अभिव्यक्त करना है। इस प्रकार संवाद ही एकांकी के मूल तत्त्व हैं।

संवादों को पात्र एवं परिस्थितियों के अनुरूप होना चाहिये। संवाद को रोचक, सजीव एवं स्वाभाविक होना चाहिये। वाल्टर प्रिचन एटन का मत है कि तुम्हारे पास बहुत कम शब्द हैं जिनसे तुम्हें बहुत बड़ा प्रभाव उत्पन्न करना है क्योंकि रंगमंच पर प्रभाव बड़ा ही होना चाहिये। अतः प्रत्येक शब्द को सार्थक होना चाहिये। प्रत्येक शब्द की कीमत आँकना चाहिये।

४. **देश-काल**—देश-काल से अभिप्राय स्थान और समय से है। इसमें कथानक में आये पात्रों के रहन-सहन, वेश-भूषा, चाल-ढाल, आचार-विचार, संस्कृति और सभ्यता आदि पर प्रकाश डाला जाता है।

५. **भाषा-शैली**—पात्रों के संवाद विशिष्ट शैली में होने चाहिये। जिससे वे आकर्षक बन सकें। एकांकी में भाषा पात्रानुकूल होनी चाहिये। उसे सरल तथा सुबोध होनी चाहिये। इस प्रकार भाषा-शैली का एकांकी में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

७. उद्देश्य—बिना उद्देश्य के किसी भी साहित्य का अस्तित्व माना नहीं जा सकता। अतः एकांकीकार की रचना के पीछे भी एकांकी का कोई न कोई उद्देश्य होता है। पर वह उद्देश्य अप्रत्यक्ष होता है। एकांकीकार जो कुछ भी कहना चाहता है वह पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, वह स्वयं कुछ नहीं कहता। एक आलोचक का इस सम्बन्ध में यह विचार है कि संगीत की तरह एकांकी भी न कुछ सिखाता है और न कुछ सिद्ध करता है। उसका कथ्य ध्वनित होता है। उसका मूल उद्देश्य रस-सिद्धि है।

७ **रंग-संकेत**—रंग-संकेत का सम्बन्ध कथा के परिपार्श्व से है। ये वे प्रति न्यास या सूचनाएँ हैं जिनका प्रयोग एकांकीकार कथा, चरित्र, संवाद का संयुक्त प्रभाव बढ़ाने के लिए करता है। संस्कृत नाटकों में रंग-संकेत अधिक नहीं पाये जाते। हिंदी-में रंग-संकेत की प्रचुरता पश्चिमी प्रभाव के कारण है। पश्चिमी नाट्य-कला में कार्य और चरित्र पर ही अधिक बल दिया जाता है। रंग-भूमि की सज्जा करने, प्रेक्षकों को नाटक का पूर्ण स्वरूप बताने, घटना के 'कब' और 'कहाँ' की सूचना देने और अभिनय में योग देने की दृष्टि से रंग-संकेतों का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। रंग-भूमि की व्यवस्था और पात्रों की आयु, वेश-भूषा आदि का निर्देश कथा के जटिल प्रसंगों की व्याख्या का पात्रों के मानस द्वन्द्वों की व्यंजना आदि का विधान रंग-संकेतों के माध्यम से ही किया जाता है।

८. अभिनेयता—बहुत से समीक्षक अभिनेयता को भी एकांकी का मूल तत्व मानते हैं। इसीलिए एकांकी को अभिनेय अधिक और पाठ्य कम माना जाता है। एकांकी और कहानी में मौलिक अन्तर यही है कि कहानी पाठ्य-प्रधान होता है और एकांकी अभिनेय। एकांकी की सफलता उसके अभिनय कौशल में ही सन्निहित होती है। अभिनेयता की सफलता के लिए वातावरण-निर्माण, रंग-निर्देश, छाया और प्रकाश का समुचित प्रयोग आदि का होना आवश्यक है।

———

अध्याय | १४

उपन्यास

अंग्रेजी में उपन्यास शब्द के लिए 'नॉवेल' शब्द प्रयुक्त होता है। 'नॉवेल' शब्द इटैलियन शब्द 'नॉविला' से बना है। इसका अर्थ 'सूचना' है। इसी अर्थ के आधार पर 'शिल्पे' ने नॉविल की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'नॉविल' शब्द से एक नवीन प्रकार की प्रकथन-प्रधान रचना का बोध होता है, जिसमें आधुनिकता और सत्य दोनों की प्रतिष्ठा पाई जाती है, नॉवेल की यह परिभाषा बहुत व्यापक है। हिन्दी में भी उपन्यास शब्द के अर्थ और प्रकृति आदि के सम्बन्ध में काफी विचार हुआ है। किशोरी लाल गोस्वामी का मत है कि उपन्यास उप, नि उपसर्गपूर्वक आस धातु से बना है। यथा (उप) समीप, (नी) न्यास, (आस) रखना अर्थात् इसकी रचना उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक एवं कुछ छिपी हुई कथा क्रमशः समाप्ति में प्रस्फुटित हो। पर उपन्यास की यह परिभाषा कसौटी पर नहीं उतरती। प्रसिद्ध आलोचक डॉ० वार्ष्णेय के अनुसार इससे उपन्यास की आधुनिकता पर प्रकाश नहीं पड़ता। आधुनिक उपन्यास जहाँ एक ओर पुरानी कथाओं और आख्यायिकाओं से भिन्न है वहाँ दूसरी ओर वह केवल अपने शब्दार्थ उप=पास, न्यास=रखना द्वारा यह भी सूचित करता है कि लेखक पाठक के निकट कुछ रखना चाहता है। वह कुछ नवीन बात कहना चाहता है। वास्तव में उपन्यास और मानव-जीवन में कोई अंतर नहीं है। अच्छे उपन्यासों की पहचान यह है कि उसके पठन-पाठन में किसी कल्पित कथा का नहीं वरन् अपने नित्य-प्रति के देखे और जीये जाने वाले जीवन का आभास हो। हिन्दी ही में नहीं, सब देशों के उपन्यास-साहित्य के लिए श्रेष्ठता की यह कसौटी स्वीकारी गई है। टॉल्सटास, चेखब, स्टाइनबेक तथा प्रेमचन्द के उपन्यासों को पढ़ते समय यही प्रतीत होता है कि जैसे हम स्वयं उपन्यास में वर्णित जीवन में साँस ले रहे हैं। उसके पात्रों के दुःख-सुख के हम स्वयं भोक्ता हैं। उपन्यास का काम जीवन के सिद्धान्तों की शास्त्रीय व्याख्या करना नहीं है वरन् उनका काम मनोरंजन के साथ-साथ जीवन के यथार्थ, उसकी कटुता और भयंकरता से परिचित करा कर स्वस्थ दृष्टि देना उपदेश या प्रीचिंग देना नहीं है।

उन्पयास के तत्व——उपन्यास के आधुनिक रूप का विकास सर्वप्रथम पाश्चात्य देशों में ही हुआ। अंग्रेज आचार्य हडसन का मत है कि उपन्यास सभी प्रकार की

कथात्मक रचना के प्रमुख तत्त्व कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, शैली और जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति है। इसी आधार पर कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन देशकाल और उद्देश्य को उपन्यास का प्रमुख तत्त्व माना जाता है।

१. **कथानक**—कथानक उपन्यास का मूल तत्त्व है। यदि इसे उपन्यास का प्राण कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। विभिन्न प्रकार के क्रिया-कलापों से ही कथानक का निर्माण होता है। यह क्रिया-कलाप विविध घटनाओं से ही संयोजित होता है। घटनाएँ ही कथानक का प्राण बन जाती हैं। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उपन्यास का कथानक घटनाओं का मात्र संकलन ही होता है। उपन्यास में घटनाओं की अन्विति होनी चाहिये। इसके साथ-साथ कौन सी कथावस्तु किस शैली में प्रभावशाली सिद्ध हो सकती है, का उपन्यासकार को ठीक ज्ञान होना चाहिये। कथानक का चुनाव और संगठन बहुत ही सावधानी से करना चाहिये। कथानक में आदि से अंत तक कौतूहल की प्रधानता होनी चाहिये जिससे पाठक का मन आदि से अन्त तक उसमें रमा रहे। सफल कथानक वही कहलाता है जो शुरू ही में पाठकों के उत्सुकता को जागृत करे तथा ज्यों-ज्यों वह खुलता जाय त्यों त्यों उसकी उत्सुकता बढ़ती जाय। उपन्यास के कथानक से सम्भाव्यता भी आवश्यक है। यद्यपि यह सत्य है कि उपन्यास के कथानक की सजीवता इसमें है कि वह कदम-कदम पर पाठकों को आश्चर्यचकित कर दे, तथापि इसके साथ ही सम्भाव्यता भी आवश्यक है। पाठक को यदि किसी एक घटना की सम्भाव्यता पर संदेह हो जायगा तो उसका मन उपन्यास में नहीं लगेगा। उपन्यासकार का कौशल इसमें निहित है कि कथानक के सभी घटनाओं को एक सूत्र में पिरो कर प्रस्तुत करे।

२. **चरित्र-चित्रण**—मुन्शी प्रेमचन्द ने उपन्यास को ('मानव चरित्र का चित्र') माना है। अतः उपन्यास में कहानी को रोचकता के साथ ही साथ चरित्रों का स्वाभाविक चित्रण भी रहना चाहिए। उपन्यास का मुख्य विषय मनुष्य और उसका चरित्र है। मानव एक पहेली है, दूसरे के लिए, और अपने लिए भी। इस पहेली को सुलझाने का अवसर उपन्यासकार को मिलता है। मनुष्य का प्रायः दो रूप होता है। पहला बाहरी रूप तथा दूसरी भीतरी रूप। चूँकि उपन्यासकार अपने पात्रों का प्रजापति होता है, अतः वह उन चरित्रों में दोनों रूपों का स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत कर सकता है। पात्रों को कथानक की दृष्टि से तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वर्गीकृत किया जा सकता है। कथानक की दृष्टि से पात्रों को प्रधान पात्र तथा गौण पात्र के रूप में विभाजित किया जा सकता है। प्रधान पात्र के अन्तर्गत नायक-नायिका का सर्व प्रथम स्थान आता है। उपन्यास का सर्वप्रधान पुरुष-पात्र जो आरम्भ से लेकर अन्त तक उपन्यास के कथानक को आपने लक्ष्य की ओर अग्रसरित करता हो, को नायक कहा

जाता है। इन्हें गुणों से युक्त प्रधान स्त्री-पात्र को नायिका कहा जा सकता है। सामान्य रूप में नायिका नायक की पत्नी या प्रेमिका ही होती है; पर इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं प्रस्थापित किया जा सकता। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि नायक हो, पर नायिका न हो, या नायिका हो पर नायक न हो। जैसे प्रेमचन्द के रंगभूमि में नायक है नायिका नहीं और इसके विपरीत सेवासदन में नायिका है, पर नायक नहीं है। नायक तथा नायिका के अतिरिक्त प्रतिनायक-प्रतिनायिका, पताका-नायक-पताकानायिक तथा विदूषक आदि भी प्रधान पात्र के अन्तर्गत आते हैं। इसके अतिरिक्त वे पात्र जो प्रधान पात्रों के साधन के रूप में चित्रित होते हैं, गौण पात्र कहलाते हैं।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पात्रों को स्थिर तथा विकसन-शील में वर्गीकृत किया जा सकता है। स्थिर चरित्र पर जीवन की बदलती हुई परिस्थितियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे प्रारम्भ से अन्त तक एक से रहते हैं। ये पात्र अपने वर्ग के प्रतिनिधि होते हैं इसीलिए इन्हें वर्ग प्रतिनिधि पात्र या टाईप भी कहा जाता है। इसके विपरीत वे पात्र जो अपना परिस्थितियों तथा अपने वातावरण से प्रभावित रहते हैं तथा जिनका चरित्र उसके अनुसार विकासित होता रहता है, को विकसनशील पात्र कहा जा सकता है। ऐसे पात्र अपने वर्ग के प्रतिनिधि नहीं रहते। ये सबसे न्यारे, अपने में अकेले व्यक्ति होते हैं। इन्हें व्यक्ति-चरित्र भी कहा जाता है।

चरित्र-चित्रण की विभिन्न प्रणालियों में प्रधानता तीन को दी जा सकती है। वर्णनात्मक प्रणाली, विश्लेषणात्मक प्रणाली तथा नाटकीय प्रणाली। वर्णनात्मक प्रणाली में उपन्यासकार अपने शब्दों में पात्रों को आकृति और वेशभूषा का वर्णन उनकी तत्कालीन वाह्य तथा आन्तरिक मनःस्थिति का चित्रण तथा उसमें व्यक्त होने वाले उनके हाव-भाव और क्रिया-प्रतिक्रिया का अंकन करता है। दूसरी प्रणाली विश्लेषणात्मक है जिसमें लेखक पात्रों द्वारा अभिव्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया में न अटक कर उन कारणों के विश्लेषण का प्रयास करता है जो पात्रों के भावों-विचारों और रुझानों को प्रभावित करता है। मनौवैज्ञानिक उपन्यासों में बहुधा इसी शैली का प्रयोग किया जाता है। चरित्र-चित्रण की तीसरी प्रणाली नाटकीय प्रणाली है। इसमें उपन्यासकार स्वयं अपने पात्रों और पाठकों के बीच में नहीं अड़ा रहता, प्रत्युत पात्रों को उपन्यास के रंगमंच पर लाकर स्वयं बीच में निकल जाता है तथा उन्हें अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया, भूभंगिमा, कथोपकथनों आदि द्वारा धीरे-धीरे पाठकों पर खुलने देता है। दूसरे शब्दों में यह पढ़ा जा सकता है कि वह अपने पात्रों के चरित्र के उद्‌घाटन के लिए उन सभी विधियों का प्रयोग करता है जिनके सहारे नाटककार अपने पात्रों को दर्शकों पर व्यक्त करता है।

इन प्रणालियों के वर्णन से यह अभिप्राय नहीं है कि उपन्यासकार को इस बन्धन में बँधकर रहना पड़ता है। प्रत्येक उपन्यासकार को स्वतन्त्रता रहती है कि वह जब चाहे जिस किसी प्रणाली का प्रयोग करे। पर सफल उपन्यासकार वही है जो अपने उपन्यासों में चरित्र-चित्रण की इन तीन प्रणालियों का सम्यक् प्रयोग करता है। बाह्य चित्रण के लिए वर्णनात्मक तथा नाटकीय शैली का प्रयोग करे तथा आन्तरिक चित्रण के लिए विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग कर सकता है।

३. **कथोपकथन**—कथोपकथन को उपन्यास के अंग के रूप में प्रस्तुत होना चाहिये क्योंकि यदि कथोपकथन उपन्यास के कथानक को गति नहीं देता, तथा पात्रों के चरित्र को प्रकाश में नहीं लाता तो उसके लिये उपन्यास में कोई स्थान नहीं है। उसका विषय चाहे जितना आकर्षक हो, भाषा चाहे जितनी सुन्दर हो।

कथोपकथन को पात्रानुकूल होना चाहिये। उपन्यासकार को कथोपकथन और उसकी भाषा को कलात्मक ढंग से इस प्रकार छू देना है कि उनसे सम्बन्धित पात्रों का बौद्धिक स्तर ध्वनित हो उठे, अन्यथा कथोपकथन इतना दुरूह हो जायेगा कि पाठक की समझ से बाहर हो जाये। कथोपकथन की भाषा को पात्रानुकूल होना चाहिये। वस्तु के विकास और पात्रों के चरित्र-चित्रण में सहायक होने के अतिरिक्त, कथोपकथनों को उपयुक्त, स्वाभाविक, अभिनयात्मक, स्थिति और भाव के अनुकूल, स्पष्ट और मनोरम होना आवश्यक है।

४. **देशकाल**—किसी व्यक्ति की समस्या का वास्तविक ज्ञान और उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया का सही मूल्यांकन उसकी उपस्थिति को जाने बिना नहीं हो सकता, क्योंकि विपरीत परिस्थितियों में बड़े-बड़े गम्भीर व्यक्ति भी धीरज छोड़ देते हैं, और अनुकूल परिस्थितियों में साधारण प्रतिभा वाले मनुष्य भी असाधारण सफलताएँ प्राप्त कर लेते हैं। पर किसी परिस्थिति के वर्णन मात्र से ही यह नहीं कहा जा सकता कि यह परिस्थिति अनुकूल है या प्रतिकूल। इसके परीक्षण के लिये हमें देश-काल के संदर्भ में देखना होगा। किसी एक देश अथवा काल से प्रतिकूल कहा जाने वाला वातावरण किसी दूसरे देश या काल में अनुकूल भी सिद्ध हो सकता है।

जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण उपन्यास में निश्चित रूप से देश-काल का महत्व है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखते समय उपन्यासकार को अपने 'व्यापक अध्ययन द्वारा देश-काल की पूर्ति करनी पड़ती है। पर इस सम्बन्ध में भी सतर्कता की आवश्यकता है। डॉ० वार्ष्णेय की धारणा है कि कहीं ऐसा न हो कि वह शाक में हल्दी, जीरा, नमक, मिर्च आदि खोजने लगे, और स्वाद को भूल जाय। सत्य और कल्पना के मिश्रण से ही उसमें ऐतिहासिक युग विशेष की आत्मव्यक्त घात होनी चाहिये।

५. **उद्देश्य**—यूरोप में कथानक, पात्र या चरित्र-चित्रण पर अधिक बल दिया गया। उद्देश्य और नैतिकता या अनैतिकता की चर्चा वहाँ नहीं मिलती। 'कला कला के लिए' सिद्धान्त स्वीकार करने वालों की कला का कोई उद्देश्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। पर उद्देश्य के महत्व को अस्वीकारा नहीं जा सकता। उसे अभिधा में न व्यक्त कर, लक्षण तथा व्यंजना में अभिव्यक्त करना चाहिये।

उपन्यासों का वर्गीकरण—जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले उपन्यास जीवन के समान ही इतने बहुमुखी हो गये हैं कि उसका कोई भी वर्गीकरण पूर्ण नहीं हो सकता। फिर भी शैली तथा विषय की दृष्टि से उपन्यासों का वर्गीकरण किया जा सकता है।

शैली की दृष्टि से उपन्यासों को वर्णनात्मक, पत्रात्मक, फोटोग्रैफिक, आत्म-कथात्मक, चेतन, प्रवाह-शैली, डायरी-शैली तथा पंचतंत्रात्मक शैली में वर्गीकृत किया जा सकता है।

१. **वर्णनात्मक शैली**—यह शैली पहले से लेकर आज तक लोकप्रिय रही है। श्रद्धाराम फिल्लौरी की 'भाग्यवती,' प्रेमचन्द का 'गोदान', वृन्दावनलाल वर्मा की 'झाँसी की रानी', भगवतीचरण वर्मा का 'भूले-बिसरे-चित्र', यशपाल का 'झूठा-सच्चा,' अमृत लाल नागर का 'बूँद और समुद्र', नरेश मेहता का 'यह पंथ बंधु था', मोहन राकेश का 'अंधेरे बन्द कमरे', उषा प्रियंवदा का 'रुकोगी नहीं राधिका ?' आदि इस शैली के प्रमुख उपन्यास हैं। पहले के वर्णनात्मक शैली के उपन्यासों की तुलना बाद में लिखे गये उपन्यासों में स्थूलता के स्थान पर सूक्ष्मता अधिक है। पात्रों के बाह्य व्यक्तित्व उभारने की अपेक्षा आंतरिक व्यक्तित्व के चित्रण पर अधिक बल दिया गया है।

२. **पत्रात्मक शैली**—इसमें उपन्यास के कथानक का उद्घाटन और उसके पात्रों की चरित्राभिव्यक्ति आदि सब कुछ पात्रों के एक दूसरे को लिखे गये पत्रों के माध्यम से ही होती है। जैसे 'चंद हसीनों के खतूत'। इसके लेखक बेचन शर्मा पाण्डेय 'उग्र' थे।

३. **फोटोग्राफिक-शैली**—इस शैली के अनुसार उपन्यासों में जीवन का फोटोग्राफिक चित्रण होता है। इन उपन्यासों में रेणु का 'मैला आँचल' अत्यन्त प्रसिद्ध है।

४. **आत्मकथात्मक-शैली**—इसमें उपन्यास का नायक या अन्य कोई पात्र आत्मकथा के रूप में आप-बीती कहानी कहता है। इन उपन्यासों में इलाचंद्र जोशी की 'लज्जा', जैनेन्द्र का 'त्याग-पत्र', सुरेश सिन्हा कृत 'सुबह अंधेरे पथ पर' तथा मोहन राकेश कृत 'न जाने वाला कल' आदि प्रमुख हैं। स्वतन्त्रता पूर्व लिखे गये आत्मकथात्मक

शैली के उपन्यासों की तुलना में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के उपन्यासों में मौलिक अन्तर यह है कि जहाँ पहले कथा कहने वाला पात्र दूसरे के चरित्र पर ही प्रकाश डालता था स्वयं उसका चरित्र स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त नहीं हो पाता था। दूसरों के चरित्र-चित्रण में भी लेखक की दृष्टि मूलतः वाह्यपक्ष तक ही सीमित रहती थी। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद के लेखकों ने ऐसी सूक्ष्म प्रतिक्रियाएँ प्रस्तुत की हैं जिससे इन पात्रों का पूर्ण व्यक्तित्व प्रकाशित होता है।

५. **चेतन प्रवाह-शैली**—हिन्दी में शायद ही कोई ऐसा उपन्यास हो जिसमें पूर्णतः इस शैली का प्रयोग किया गया हो। जेम्स जायस के 'यूलीसेस', या 'ए पोर्टेट ऑव द आर्टिस्ट ऐज़ ए यंग मैन' आदि उपन्यास इस शैली में लिखे गये हैं। हिन्दी में इस शैली का आंशिक प्रयोग अज्ञेय कृत 'शेखर : एक जीवनी', भवानी प्रसाद वाजपेयी कृत 'चलते-चलते' तथा सुरेश सिन्हा कृत 'एक और अजनबी' में किया गया है।

६. **डायरी-शैली**—जैनेन्द्र कुमार कृत 'जयवर्द्धन', देवराज कृत 'अजय की डायरी' तथा राजेन्द्र यादव कृत 'एक और अजनबी' आदि डायरी शैली में लिखे गये प्रमुख उपन्यास हैं। इस शैली में सतर्कता की अत्यन्त आवश्यकता है। पात्रों की डायरियाँ नित्य प्रति के जीवन में लिखी जाने वाली डायरियों के समान ही सहज एवं स्वाभाविक होनी चाहिये। पर इसका अभिप्राय यह नहो है कि ऐसा लगे कि पात्र हमेशा बैठ कर डायरी लिख रहे हैं। जीवन का संघर्ष डायरी के पृष्ठों तक ही सीमित नहीं रह जाना चाहिए क्योंकि इस स्थिति में ये उपन्यास अस्वाभाविक हो जायेंगे।

७. **कहानियों की पंचतंत्रात्मक शैली**—धर्मवीर भारती कृत 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' तथा शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' कृत 'बहती गंगा' ऐसे ही उपन्यास हैं।

विषय की दृष्टि से उपन्यासों को मोटे रूप में सात भागों में विभाजित किया जा सकता है—१. तिलस्मी, ऐयारी और जासूसी उपन्यास; २. सामाजिक उपन्यास; ३. राजनीतिक उपन्यास; ४. ऐतिहासिक उपन्यास; ५. मनोवैज्ञानिक उपन्यास; ६. आँचलिक उपन्यास; ७. हास्य-रस के उपन्यास।

१. **तिलस्मी, ऐयारी तथा जासूसी उपन्यास**—तिलस्म शब्द से आश्चर्यजनक और कौतूहलवर्द्धक घटनाओं का बोध होता है। इससे मनुष्य स्तम्भित हो जाता है। 'ऐयार' शब्द मक्कारी का बोधक है। ऐसे उपन्यासों में मक्कार तथा मायावी पुरुषों का वर्णन रहता है। तिलस्मी तथा ऐयारी उपन्यासों का मूल लक्ष्य कौतूहल जाग्रत कर मनोरंजन करना ही है। ऐसे उपन्यासों में देवकीनन्दन खत्री कृत 'चन्द्रकांता संतति' का नाम लिया जा सकता है। हिन्दी के तिलस्मी उपन्यासों में जर्नादन झा कृत 'नौका डूबी' तथा किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'शीश महल' नामक उपन्यास प्रसिद्ध हैं।

जासूसी उपन्यासों का हिन्दी में प्रचलन सम्भवतः पाश्चात्य देशों के डिटेक्टिव (Detective) उपन्यासों के आधार पर हुआ। जासूसी उपन्यासों में भी कौतूहल जागृत करना ही प्रधान लक्ष्य रहता है। पर इन उपन्यासों के माध्यम से कभी-कभी ज्ञानवर्द्धन भी होता है। हिन्दी में जासूसी उपन्यासों की संख्या बहुत है। गोपाल राम गहमरी कृत 'जमुना का खून', हरिकृष्ण जौहर कृत 'छाती का छूर', बल्देवप्रसाद मिश्र कृत 'अद्भुत लाश' तथा रामलाल वर्मा कृत 'जासूसी चक्कर' आदि हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यास है।

२. **सामाजिक उपन्यास**—सामाजिक उपन्यास का मूल लक्ष्य समाज की वास्तविक अवस्था का चित्रण, तथा सामाजिक समस्याओं का प्रस्तुतीकरण रहा है। सामाजिक समस्या के चित्रण के माध्यम से चरित्रों का यथार्थ तथा जीवन्त चित्रण प्रस्तुत किया गया है। सामाजिक उपन्यासों की चरम परिणति प्रेमचन्द के उपन्यासों में देखने को मिलती है। उन्होंने हिंदी उपन्यासों को कल्पना की दुनिया से निकाल कर, यथार्थ जीवन के निकट लाने का प्रयास किया। प्रेमचन्द के सामाजिक चित्रण की चरम उपलब्धि 'गोदान' में दिखाई पड़ती है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने अत्यन्त कौशल तथा कलात्मक ढंग से सामाजिक जीवन तथा सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत किया है। प्रेमचंद के लगभग ग्यारह उपन्यास सामाजिक उपन्यास की श्रेणी में आते हैं जिनमें 'सेवासदन,' 'निर्मला', 'रंगभूमि' तथा 'गोदान' आदि विशेष महत्व के हैं। प्रेमचंद के अतिरिक्त वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'कुण्डली चक्र', विशम्भरनाथ कौशिक कृत 'माँ', भगवती प्रसाद बाजपेयी कृत 'दो बहनें,' इलाचंद जोशी कृत 'संन्यासी' तथा जैनेन्द्र कृत 'सुनीता' आदि हिन्दी के प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास हैं।

३. **राजनीतिक उपन्यास**—प्रेमचंद के बाद हिंदी उपन्यासों में एक नया मोड़ दिखलाई पड़ता है। लेखकों की प्रवृत्ति राजनीति की ओर अधिक बढ़ी। राजनीतिक उपन्यासों का मूल उद्देश्य भारत की राजनैतिक दशा तथा समस्याओं का प्रस्तुतीकरण था। ठाकुर शिवनाथ सिंह ने शुद्ध राजनीतिक आन्दोलनों को लेकर उपन्यास लिखे। उनके 'जागरण' में खादी-आन्दोलन का अच्छा चित्र देखने को मिलता है। राजनीतिक उपन्यासकारों में रामवृक्ष बेनीपुरी का नाम भी उल्लेखनीय है। उनका 'पतितों का देश' शुद्ध राजनीतिक उपन्यास है। गुरुदत्त, यज्ञदत्त शर्मा, तथा रामानंद सागर आदि उपन्यासकारों ने भी सफल राजनीतिक उपन्यासों की रचना की।

४. **ऐतिहासिक उपन्यास**—ऐतिहासिक उपन्यास मूल रूप से तीन प्रकार के माने जाते हैं। पहला, पुरानी खोजों के आधार पर युग विशेष से संबन्धित, दूसरा ऐतिहासिक प्रेमाख्यानक उपन्यास, जिनमें प्राचीनकाल के राजा-महाराजाओं और वीरों की प्रेम-गाथाएँ रहती हैं। तीसरा, सामान्यतः माने जाने वाले इतिहास पर आधारित उप-

न्यास जिसमें लेखक अतीतकालीन घटनाओं और समस्याओं का सम्बन्ध वर्तमान-कालीन घटनाओं से जोड़ा जाता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐसी नवीनता और आकर्षण का समावेश रहता है जिससे 'ऐतिहासिक रस' की सृष्टि होती है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत 'वैशाली की नगर वधू' वृन्दावन लाल वर्मा कृत 'कचनार', 'गढ़ कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'मृगनयनी', 'झांसी की रानी', हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'बाण भट्ट की आत्मकथा', 'चारु चन्द्रलेख' तथा भगवती चरण वर्मा कृत 'चित्र-लेखा' आदि हिन्दी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं।

५. मनोवैज्ञानिक उपन्यास—मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मनुष्य के वैयक्तिक इतिहास के आधार पर उसके अवचेतन मन की कुंजी से उसके चारित्रिक रहस्यों का उद्घाटन किया जाता है। इन उपन्यासों में व्यक्ति की दुर्बलता सामाजिक और मानसिक कारणों के प्रकाश में मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय बन जाती है। मनो-विश्लेषणात्मक उपन्यासों में व्यक्ति के बाहरी आडम्बर का पर्दाफाश तो होता ही है, साथ ही उसकी ऊपरी टीमटाम भी चकनाचूर हो जाती है। जैनेन्द्र कृत 'परख', भगवती प्रसाद बाजपेयी कृत 'प्रेमपथ' तथा इलाचन्द्र जोशी कृत 'प्रेत और छाया' हिन्दी के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक उपन्यास हैं।

६. आंचलिक उपन्यास—आंचलिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं जिनमें क्षेत्र-विशेष के जन-जीवन का वास्तविक तथा स्वाभविक चित्र प्रस्तुत किया जाता है। ऐसे उपन्यासों में उपन्यासकार का लक्ष्य उस क्षेत्र विशेष की सांस्कृतिक विशेष-ताओं को उभारना होता है। वहाँ के लोगों की वेशभूषा कैसी है, वे कैसे जीवन-यापन करते हैं, उनकी आर्थिक अवस्था कैसी है, आदि बातों का चित्रण इन उपन्यासों में प्रस्तुत किया जाता है। फणीश्वर नाथ 'रेणु' कृत 'मैला आंचल' हिन्दी का सबसे महत्वपूर्ण आंचलिक उपन्यास है। इसमें पूर्णिया जिले के एक गाँव का अत्यन्त मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त उदयशंकर भट्ट कृत 'सागर लहरें और मनुष्य,' नागार्जुन कृत 'बाबा बटेश्वर नाथ' तथा अमृतलाल नागर कृत 'बूँद और समुद्र' आदि हिन्दी के अन्य प्रसिद्ध आंचलिक उपन्यास हैं।

७. हास्य रस के उपन्यास—इन उपन्यासों में हास्य के साथ व्यंग्य तथा कटाक्ष की प्रधानता रहती है। जी० पी० श्रीवास्तव कृत 'लतखोरी लाल,' अमृतलाल नागर कृत 'सेठ बांकेमल' तथा केशव चन्द्र वर्मा कृत 'काठ का उल्लू' आदि हिन्दी के प्रसिद्ध हास्य-रस प्रधान उपन्यास हैं।

———

अध्याय | १५

कहानी

कहानी की परिभाषा दो दृष्टिकोणों के आधार पर कहानी-लेखकों तथा आलोचकों ने प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पहला उसके पढ़ने में कितना समय लगता है और दूसरा उसका आकार क्या है? अवधि के आधार पर पो ने यह स्थापित किया कि कहानी वह है जो आधा घंटे से एक या दो घंटों में पढ़ी जा सके। एच० जी० वेल्स की धारणा है कि कहानी वह है जो एक घंटे से कम में पढ़ी जा सके। हडसन का मत है कि कहानी वह है जो एक बैठक में पढ़ी जा सके। किन्तु समय के आधार पर कहानी की गई परिभाषाओं को वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। इससे कहानी का वास्तविक स्वरूप उभर कर प्रस्तुत नहीं हो पाता। आकार की दृष्टि से कहानी को उपन्यास का छोटा रूप बताया जाता है। उपन्यास और कहानी में केवल आकार का भेद माना गया है। परन्तु यह मत भी अब ठीक नहीं माना जाता। उपन्यास और कहानी में लम्बाई का अन्तर ही सब कुछ नहीं है। विद्वानों की धारणा है कि कहानी लिखना रेल की पटरी पर दौड़ना है। उपन्यास लिखना समतल और विस्तृत भूमि पर दौड़ना है। उपन्यासकार दाएँ-बाएँ, आगे-पीछे सीधा या वक्र गति से दौड़ लगा सकता है। उसके लिए उतना खतरा नहीं है जितना कि कहानी-लेखक के लिये रहता है। अतः यह कहा जा सकता है कि उपन्यास की कुछ विशेषताओं को ग्रहण करते हुये भी कहानी सीमित से सीमित परधि में विचरण करती है। अतः शिप्ले की धारणा है कि 'कहानी में प्रभाव की अन्तिति आवश्यक है। कहानी को पारिभाषित करते हुये कहा जा सकता है कि' वह जीवन का लघुतम से लघुतम खण्ड है और प्रभावान्वित उसकी कलागत विशेषता है।

रचना-विधान— -कहानी के रचना-विधान का प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :—

१. कथावस्तु। २. पात्र तथा चरित्र-चित्रण। ३. कथोपकथन या संवाद। ४. वातावरण। ५. भाषा और शैली। ६. उद्देश्य। ७. शीर्षक।

१. कथावस्तु :—यह कहानी का सबसे महत्वपूर्ण और अनिवार्य तत्व है। कथानक के अन्तर्गत वस्तु चयन परिधि का स्थान आता है। एच० ई० वेल्स नामक विद्वान के अनुसार लघु कथा सामान्य चित्रणों से लेकर रिपोर्ट तक से सम्बन्धित रहती है। कहानी के अन्तर्गत उन गद्यखण्डा का भी स्थान है, जिसमें मनोभावों का चित्रण प्रस्तुत किया जाता है। वैधानिक दृष्टि से सफल कहानी की समस्त विचारधाराएँ और क्रिया-कलाप आदि नियन्त्रित रहते हैं।

कथावस्तु का स्रोत इतिहास, पुराण, पत्र-पत्रिकाओं तथा दैनिक जीवन की घटनाओं से प्राप्त होता है। इतिहास, पुराण से हिन्दी कहानियों को प्रेरणा मिली है। प्रसाद जी ने अपनी बहुत-सी कहानियों की सामग्री इतिहास से ग्रहण की है। पौराणिक कहानियों में जैनेन्द्र की 'नारद का अर्थ' कहानी से ले सकते हैं। बहुत-सी कहानियों की कथावस्तु का आधार पत्र-पत्रिकाओं में वर्णित घटनाएँ ही हुआ करती हैं। जीवन में घटित होने वाली घटनाओं से भी कथावस्तु के निर्माण में कहानीकार को सहायता मिलती है।

कहानी के कथानक में कल्पना का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। कहानी साहित्य का एक उदात्त स्वरूप है। कल्पना से कहानी सृजन में बड़ा योगदान मिलता है। डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने कहा है कि कल्पना कहानियों का प्राण है। उनके अनुसार कहानी में ही सबसे अधिक कल्पना का उपयोग होता है।

कहानी के कथानक में संवेदना का भी महत्वपूर्ण स्थान है। संवेदना वस्तुतः वह मर्मस्पर्शी अनुभूति है जो मानव मात्र के हृदय को इस सीमा तक प्रभावित कर दे, जिससे वह तिलमिला उठे। संवेदनात्मक अनुभूति के बिना कहानी का कथानक सफल नहीं हो सकता। पर यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि कहानी के कथानक में अनेक संवेदनाओं का स्थान नहीं होता। संवेदना एक होनी चाहिये और उसके प्रस्तुतीकरण को सशक्त होना चाहिये।

कहानी के कथानक में संघर्ष का भी होना आवश्यक रहता है। घटना-प्रधान कहानियों का संघर्ष प्रधान होना आवश्यक है। संघर्ष विहीन कथानक वाली कहानियाँ भी हो सकती हैं। पर संघर्ष प्रधान कहानियाँ अधिक प्रभावशाली तथा प्रभावोत्पादक सिद्ध होती हैं।

कहानी के कथानक में कौतूहल, औत्सुक्य और करुणा आदि की प्रतिष्ठा होती है। कालिदास की धारणा है कि श्रेष्ठ कहानीकार अपने पाठकों को पत्र में हँसा तथा रुला सकता है। इस प्रकार कहानी के कथानक में कौतूहल तथा उत्सुकता का समावेश होना अत्यन्त आवश्यक है। इससे कहानी रोचक तथा प्रभावपूर्ण बन जाती है।

कहानियाँ प्रायः दो प्रकार की होती हैं। एक का कथानक इतना छोटा होता कि उसमें खण्डों की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। दूसरे प्रकार की कहानियों का कथानक बड़ा होता है। ऐसी कहानियों के कथानक को कई खण्डों में विभाजित करना पड़ता है। डॉ० जगन्नाथ शर्मा ने कथानक को खण्डों में विभाजित करने के लिये चार मूल सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।

१—कथा के प्रवाह में काल के व्यवधान को सूचित करने के लिए।

२—दृश्य और स्थान के परिवर्तन का चित्र उपस्थित करने के लिये।

३—चरित्र की मानसिक वृत्तियों के उत्कर्षणापकर्ष को व्यंजित करने के लिए।

४—प्रभावान्वित को उत्तरोत्तर चुटीले बनाने के लिए।

कथानक के वस्तु-विन्यास क्रम में आरम्भ, मध्य या विकास तथा अन्त आदि स्थितियों का स्थान रहता है।

आरम्भ—शैली की दृष्टि से कहानी का प्रारम्भ तीन प्रकार से हो सकता है। पहला वर्णनात्मक ढंग से, दूसरा वार्तालापों के माध्यम से तथा तीसरा आत्म-कथात्मक शैली में।

पहली शैली के अनुसार कहानीकार कथावस्तु का आरम्भ वर्णनात्मक ढंग से करता है। इसमें लेखक एक तीसरे मनुष्य की भाँति कहानी का यथातथ्य वर्णन करता है। जैसे- "लाजवन्ती के, हाँ, कई पुत्र हुए, परन्तु सब के सब बचपन में ही मर गये। अन्तिम पुत्र हेमराज उसके जीवन का आश्रय था।" (तीर्थयात्रा—पृ० १)

इस प्रकार लेखक पूरी कहानी सुना जाता है। कहीं-कहीं वह प्रकृति का वर्णन प्रस्तुत कर देता और कहीं पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करता है। कहानी लिखने की यह शैली सबसे अधिक सरल तथा प्रभावशाली है। वातावरण प्रधान कहानियों में प्रायः इसी शैली का प्रयोग किया जाता है।

कहानी प्रारम्भ करने की दूसरी शैली वार्तालापात्मक शैली है। इसमें वार्तालापों के माध्यम से कथानक आरम्भ होता है। कथानक के विकास तथा चरित्र के विकास में प्रायः इस शैली का प्रयोग किया जाता है। 'कौशिक' की ताई कहानी में इस शैली का प्रयोग किया गया है। जैसे—"ताऊजी, हमें लेलगाड़ी ला दोगे" कहता हुआ एक पंचवर्षीय बालक बाबू रामदास की ओर दौड़ा।

बाबू जी ने दोनों बाहें फैलाकर कहा, "हाँ बेटा, ला देंगे"।—यहाँ कहानीकार ने बिना यह बताये कि बाबू रामदास कौन हैं कहानी प्रारम्भ कर दिया। वार्तालापों के माध्यम से स्वयं ही यह स्पष्ट हो गया कि रामदास उस बालक के ताऊ हैं।

कहानी आरम्भ करने की तीसरी शैली आत्मचरित शैली है। इस शैली का अनुसरण करने वाली कहानियों में पूरी कथा उत्तम पुरुष में प्रस्तुत की जाती है।

इस प्रकार कहानी के कथानक को आरम्भ करने की विभिन्न शैलियाँ हो सकती हैं। किन्तु निम्नलिखित विशेषताएँ उसमें अवश्य होनी चाहिये :—

पहला—वह कलात्मक होना चाहिये। दूसरा—वह नाटकीय होना चाहिये। तीसरा—उसे कौतूहलबर्द्धक तथा उत्सुकता जाग्रत करने की क्षमता से युक्त होना चाहिये। चौथा—उसमें अनिर्वचनीय सौन्दर्य तथा रसात्मक होनी चाहिये।

मध्य या विकास—कहानियों में मध्य तथा विकास का महत्वपूर्ण स्थान होता है। कहानी का मध्य भाग किसी समस्या या संघर्ष से अवश्य सम्बद्ध होना चाहिये।

इस संघर्ष या समस्या का कलात्मक ढंग से प्रस्तुतीकरण होना चाहिये। कहानी के कथावस्तु का विकास प्रवाहपूर्ण ढंग से होना चाहिये जिससे उसकी रोचकता कहीं भी क्षीण न होने पाये।

१. **अन्त**—कहानी के विकास की यह अन्तिम अवस्था है। डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के शब्दों मे "जितना भी विवरण कहानी में प्रसारित रहता है, उसका सारा सौन्दर्य पुंजीभूत होकर अन्त में आकर एक विशेष प्रकार की संवेदनशीलता को स्फुरित करता है। सिद्धान्त की दृष्टि से इसी को प्रभावान्वित और समष्टि प्रभाव माना जाता है।"

अन्त के चित्रण के दो रूप हो सकते हैं। कुछ कहानियों में केवल चरम सीमा भर होती है, अलग से अन्त का चित्रण नहीं होता। इसके विपरीत कुछ कहानियों में चरम सीमा और अन्त दोनों ही होते हैं। जिन कहानियों में चरम–सीमा के साथ अन्त जुड़ा रहता है। उसमें लेखक को अधिक सजग रहना पड़ता है। चरम सीमा तथा अन्त दोनों का निर्वाह सफल कलाकार ही कर पाते हैं।

२. **पात्र तथा चरित्र-चित्रण**—कहानीकार चरित्र-चित्रण के लिए मूल रूप से दो प्रकार की शैलियों का अनुसरण करते हैं। पहला विश्लेषणात्मक शैली तथा दूसरा—नाटकीय शैली। पहली शैली का अनुसरण करने वाला लेखक पात्रों के चरित्र का स्वयं विश्लेषण करता चलता है। नाटकीय शैली का लेखक पात्र के वार्तालाप और कार्य-कलाप के माध्यम से उसके चरित्र का चित्रण करता है। चरित्र-चित्रण की नाटकीय शैली कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट मानी जाती है।

कहानियों में चरित्र-चित्रण पर प्रकाश डालते हुये डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने लिखा है कि कहानियों में स्थानाभाव के कारण चरित्रों के सभी अंगों और पक्षों का विशद चित्रण सम्भव नहीं है, इसलिए केवल एक विशेष पक्ष ही बड़ी सावधानी से चित्रित किया जाता है, जिससे चरित्र का पूरा-पूरा चित्रण हो जाय और अन्य सभी पक्ष अछूते रह जाते हैं। जिस एक पक्ष का चित्रण कहानी में होता है, वह चरित्र के मुख्यतम गुणविशेष का द्योतक होता है और लेखक संक्षेप में ही उसका सुन्दरतम चित्र खींचता है।

हिन्दी में चरित्र-प्रधान कहानीकारों में प्रेमचन्द का प्रमुख स्थान है। उनकी (आत्माराम) 'बड़े घर की बेटी' (दफ्तरी) 'बूढ़ी काकी' आदि कहानियों में पात्रों के चरित्र की सूक्ष्म निदर्शन मिलता है। इसी प्रकार प्रसाद की भिखारिन में "भिखारिन" के चरित्र को अत्यन्त कलात्मक शैली में प्रसाद ने अभिव्यक्त किया है। जैसे—

"सहसा जैसे उजाला हो गया—एक धवल दाँतों की श्रेणी अपना भोलापन बिखेर गई कुछ हमको दे दो रानी माँ", 'निर्मला ने देखा, एक चौदह

वर्ष की भिखारिन भीख माँग रही है।" यहाँ पर प्रसाद ने दो पंक्तियों में भिखारिन का अत्यंत सूक्ष्म वर्णन किया है। 'धवल दाँतों की श्रेणी' और 'भोलापन' के बिखेरने से ही हमें इस भिखारिनी के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। प्रेमचंद की 'आत्माराम' कहानी में भी चरित्र-चित्रण अत्यंत कलापूर्ण शैली में वर्णित किया गया है। आत्माराम कहानी में महादेव सुनार के चरित्र में तीन सौ मुहरें मिलने के बाद एकाएक उसके चरित्र में कितना अधिक परिवर्तन हो जाता है। वह एक ही रात में उदार व दानी बन जाता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कहानीकार को पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय, मानव मनोविज्ञान से भल भाँति परिचित होना चाहिए। बिना इसके पात्रों का जीवन स्वाभाविक न हो पाएगा। कहानी के चरित्र-चित्रण में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कहानी में पात्रों की अधिकता न हो। यदि पात्रों की संख्या अधिक होगी तो उनके चारित्रिक विकास को उभारने में कठिनाई हो सकती है।

३ कथोपकथन या संवाद—संवादों का भी कहानी में महत्वपूर्ण स्थान रहता है। बहुत से आलोचकों की धारणा है कि संवाद कहानी का प्राण प्रदायक तत्व है। संवादों के माध्यम से पात्रों का चरित्र उभर कर प्रस्तुत होता है। संवादों से वर्णन में रोचकता तथा प्रवाह उत्पन्न होता है। संवाद कहानी को अधिक से अधिक परसंवेद्य बनाते हैं। एक विशेष प्रकार के वातावरण निर्माण करने में समर्थ होते हैं। संवादों के कुशल संयोजन से कहानी में स्वाभाविकता आती है।

सफल संवादों के लिये यह आवश्यक है कि वे देश-काल, पात्र, परिस्थिति, घटना, भाव आदि के अनुकूल हों। उन्हें संक्षिप्त, ध्यानात्मक तथा अभिनयात्मक होने चाहिएँ। संवाद पात्रों के चरित्र को उभारने वाले तथा कथावस्तु के विकास में सहयोग देने वाले होने चाहिए। उनको चुटीले तथा प्रवाह पूर्ण होना चाहिये। संवादों की प्रकृति ऐसी होनी चाहिए जिससे कहानी में सजीवता की सृष्टि हो सके। संवादों के द्वारा कहानी में प्रस्तुत घटनाएँ सजीव तथा जीवत रूप में प्रस्तुत होनी चाहिए। कहानियों में लम्बे स्वगत कथनों, भाषणों तथा सिद्धान्त विवेचन के लिये अधिक समय नहीं मिलता। इनके उपस्थिति से कहानी का स्वरूप विकृत हो सकता है।

४. वातावरण—वातावरण के सामान्यतः तीन पक्ष हो सकते हैं। एक वह जो हमारी इन्द्रिय विशेष को प्रभावित कर उदीप्त करता है। दूसरा वह जो हमारी कृत्रिम सौन्दर्यानुभूति की वृत्ति को संतुष्ट करता है। तीसरे पक्ष का सम्बन्ध हमारी सच्ची सहानभूति की वृत्ति से है। अतः वातावरण से हमारी यह वृत्ति जागृत हो सकती है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि उपन्यास की तरह कहानियों में वातावरण के विशद चित्रण का अवसर नहीं रहता। कहानियों में मानसिक स्थितियों के निदर्शन

के लिए वातावरण का हल्का-फुलका चित्रण प्रस्तुत किया जाता है। जैसे प्रेमचन्द के 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी में लखनऊ के नवाबी काल के विलासमय वातावरण की सृष्टि की गई है। पर यह वातावरण कथानक में मूल आधार के रूप में चित्रित नहीं है। वह तो कहानी के पात्रों के चरित्रों को उभारने में मात्र सहायक सिद्ध हुई हैं।

कलात्मक दृष्टि से वातावरण प्रधान कहानियों का विशेष महत्व है। इसमें कहानीकार को अपनी कलात्मक दक्षता दिखलाने के लिए अच्छा अवसर मिलता है। वह वातावरण के चित्रण और परिपार्श्व की अवतारणा में मनमाना रंग भर सकता है। जैसे प्रसाद ने अपनी कहानियों में कवित्वपूर्ण वातावरण की सृष्टि की है यथा—"वन्य-कुसमों की झालरें सुख-शीतल पवन से विकम्पित होकर चारों ओर झूम रही थीं आदि।

५. **भाषा और शैली**—कहानियों में भाषा और शैली का बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। भाषा सरल, मुहावरेदार तथा भावप्रवण होनी चाहिए। शैली में संजीवता, रोचकता; संकेतात्मकता तथा प्रभावात्मकता का होना आवश्यक है। जैसे प्रसाद की कहानियों में सरल साहित्यिक भाषा तथा आलंकरिक और रोचक शैली प्रयोग हुआ है। उनकी 'भिखारिन' कहानी से एक उदाहरण प्रस्तुत है—"जाह्नवी अपने बालू के कम्बल में ठिठुरकर सो रही थी। शीत कुहासा बनकर प्रत्यक्ष हो रहा था। दो-चार लाल धाराएँ प्राची के क्षितिज में बहना चाहती थीं" इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि साहित्यिक तथा संस्कृतनिष्ठ भाषा में भी कहनीकार सरस तथा प्रभाव-पूर्ण शैली का अनुसरण कर सुन्दर विम्ब चित्रों की सृष्टि कर सकता है।

इसके विपरीत प्रेमचन्द के कहानियों की भाषा सरल, स्वाभाविक तथा मुहावरों से युक्त है। उनके 'नशा' नामक कहानी में मुहावरों तथा लोकोक्तियों को छटा देखी जा सकती है।

शैली की दृष्टि से कहानियाँ पाँच प्रकार की होती हैं। ऐतिहासिक शैली, आत्मकथन प्रधान शैली, कथोपकथन-प्रधान शैली, पत्रात्मक शैली तथा डायरी शैली। ऐतिहासिक शैली में लिखी गई कहानियाँ अधिकतर अन्य पुरुष के रूप. में वर्णित की जाती हैं। इसमें इतिवृत्तात्मक घटनाओं को प्रधानता दी जाती है। प्रसाद की 'पुरस्कार' नामक कहानी इसी शैली में लिखी गई है। 'आत्मकथन' प्रधान शैली में स्वयं नायक के मुख से प्रथम पुरुष में कहानी कहलाई .जाती है। उनको पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई परिचित पुरुष अपनी सच्ची गाथा कह रहा हो। प्रेमचन्द की 'शान्ति' नामक कहानी इसी शैली में लिखी गई है। उसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है—"जब मैं ससुराल आई तो बड़ी फूहड़ थी"। तीसरी शैली कथोपकथन प्रधान शैली है, इसमें

कथोपकथनों को ही प्रधानता होती है। चौथी शैली पत्रात्मक शैली है। प्रेमचन्द की 'दो सखियाँ' कहानी इसी शैली में लिखी गई है। पाँचवीं शैली डायरी शैली है। इसमें कहानी लेखक डायरी के पृष्ठों के माध्यम से कहानी की रचना करता है। प्रेमचन्द की 'मोटे राम शास्त्री की डायरी' के नाम से लिखी कहानियों में इसी शैली का अनुसरण किया गया है।

६. **उद्देश्य**—कहानी का सम्बन्ध जीवन से है। वह कहने-सुनने की चीज है। अतः उसका निरुद्देश्य होना ठीक नहीं है। पर कहानीकार उपदेशक भी नहीं है। अतः उसे चाहिये कि वह सांकेतिक शैली से अपने उद्देश्य को अभिव्यक्त करे। उद्देश्य कहानी में कलात्मक ढंग से छिपा रहना चाहिये।

७. **शीर्षक**—कहानी के शीर्षक के सम्बन्ध में पाश्चात्य आलोचक डोनैल्ड मैकोनोची का मत है कि Keep the title in its proper proportion to the ineture and interest of the story' अतः शीर्षक को उद्देश्य का सूचक और उपयुक्तता होना चाहिए। कहानी-रचना प्रक्रिया में शीर्षकका अत्यन्त महत्व-पूर्ण स्थान है। शीर्षक की उपयुक्तता पर कहानी की सफलता निर्भर करती है। यदि शीर्षक ठीक नहीं होगा तो पाठक भ्रम में पड़ सकता है। इस प्रकार से शीर्षक एक दृष्टि से कहानी की सांकेतिक कुंजी है।

'कहानियों के प्रकार'—हिन्दी में अनेक प्रकार की कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं जिनका सरलता से वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने हिन्दी कहानियों को स्थूल रूप से तीन भागों में विभाजित किया है—

१. कथा-प्रधान। २. वातावरण प्रधान। ३. प्रभाव प्रधान।

१ कथा प्रधान कहानियों में चरित्र को प्रधानता मिलती है। अतः चरित्र-चित्रण प्रधान कहानियाँ भी इसी के अंतर्गत आ जाती हैं। चरित्र प्रधान कहानियों का सुन्दर रूप उन मनोवैज्ञानिक कहानियों में मिलता है जहाँ चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विचित्रण किया गया है। घटना प्रधान कहानियाँ भी कथा प्रधान कहानियों के अंतर्गत आ जायेंगी। इसके अतिरिक्त कार्य-प्रधान कहानियाँ भी इसके अंतर्गत रक्खी जा सकती है।

२. इन कहानियों में वातावरण के चित्रण को प्रधानता मिलती है। कला की दृष्टि से ऐसी कहानियों का सर्वाधिक महत्व है। इसमें कलाकार अपनी इच्छानुसार वातावरण की सृष्टि करता है।

३. इन कहानियों में कहानीकार का उद्देश्य एक प्रभाव विशेष की सृष्टि करना होता है। वातावरण, घटना, चरित्र आदि से अधिक महत्व प्रभाव को दिया जाता है। ऐसी कहानियाँ हिन्दी में बहुत कम हैं।

इसके अतिरिक्त हास्यपूर्ण कहानियाँ, ऐतिहासिक तथा प्रकृतिवादी कहानियाँ भी हिन्दी में मिल जाती हैं।

अध्याय | १६

निबन्ध

निबन्ध को अंग्रेजी में 'ऐसे' (Essay) कहते हैं। 'ऐसे' शब्द फ्रेंच 'Essai' से, और अन्ततोगत्वा लैटिन 'exigece' बना है। मूलतः इस शब्द का अर्थ १½ ड्रेक्मी (Drachmae) के बराबर तोल के वजन से था। फ्रेंच में उसका अर्थ प्रयास (trial, contest, attempt) हुआ। अंग्रेजी में भी 'एसे' शब्द का प्रयोग शारीरिक या मानसिक प्रयास के अर्थ में प्रचलित होने लगा इस शब्द का प्रयोग पहले छोटी बड़ी गद्यया पद्य में लिखी गई पुस्तकों के लिये होता था। जैसे पोप कृत 'द एसे ऑन मैन', 'दाँएसे ऑन क्रिटिसिज्म'। डॉ० वार्ष्णेय का विचार है कि अब इस शब्दका प्रयोग गद्य की एक ऐसी विद्या के लिए होने लगा, जिसकी अपनी अलग रचना पद्धति है। इसे कहानी, कविता आदि के समकक्ष रखा जाता है। वार्ष्णेय जी का मत है कि 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग ऐसी ही गद्य रचना के लिए होना चाहिए, जिसे बार-बार पढ़ कर आनन्द उठाया जा सके। ठीक वैसा ही आनन्द जैसा कविता या कहानी पढ़ने में मिलता है।

निबन्ध की सरल और संक्षिप्त परिभाषा यह है कि निबन्ध लेखक की रचना का नाम निबन्ध है। किन्तु इस परिभाषा से समस्या का समाधान नहीं होता। डॉ० जानसन ने निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार दी है—"A loose sally of the mind, an irregalar, indigested piece, not a regular and orderly performance" जानसन की इस परिभाषा से अनेक यूरोपीय विद्वान सहमत नहीं हैं। उनकी धारणा है—कि एसे का यदि यह अर्थ लिया जायगा तो गम्भीर रचनाओं जिसके पहले 'एसे' शब्द जुड़ा है, के प्रति उचित न्याय नहीं किया जा सकता। क्या 'द एसे' ऑन क्रिटिसिज्म को loose sally of mind कहा जा सकता है।

बेकन ने निबन्ध को इस प्रकार परिभाषित किया है। 'An essay consists of a few pages of concentrated wisdoms with little elaboration of the idea expressed'.

डब्ल्यू० एच० हडसन के अनुसार 'An Essay is melody of refl ection qaotations and ancedotes'.

इस प्रकार निबन्ध की परिभाषा के समबन्ध में पाश्चात्य विद्वानों में गहरा मतभेद है। परन्तु 'एसे' के शब्दार्थ पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि निबन्ध मूलतः प्रयास है। निबन्धों में विषयों का वैज्ञानिक प्रतिपादन नहीं किया जाता। वह लेखक के मूड का चित्रण करता है। इस दृष्टि से जानसन की परिभाषा सार्थक प्रतीत होती है। डॉ० वार्ष्णेय का भी यही विचार है कि घास के तिनके से लेकर ब्रह्मवाद जैसे गहन विषय तक पर 'ऐसे' लिखा जा सकता है। किन्तु उन सबको विशिष्ट अर्थान्तिर्गत 'निबन्धकार' नहीं कहते। एक विशेष प्रकार की गद्य रचना प्रस्तुत करने वालों को ही निबन्धकार कहा जाता है। एक उदाहरण से इस बात को और

स्पष्ट किया जा सकता है। हिन्दी में प्रेमचन्द के 'कुछ विचार' के संग्रह को निबन्ध संग्रह कहा गया है। इसी प्रकार 'प्रसाद' की रचना का नाम हैं—'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध'। पर किसी भी दृष्टि से प्रेमचन्द तथा प्रसाद को उस कोटि का निबन्धकार नहीं कहा जा सकता, जिस कोटि के अन्तर्गत बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि रखे जाते हैं। प्रेमचन्द तथा प्रसाद की रचनाओं को लेख कहना अधिक उचित होगा।

निबन्ध के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए, निबन्ध, लेख, प्रबन्ध और थीसिस में अन्तर को समझना आवश्यक है। लेख प्रायः व्यक्तिनिरपेक्ष होते हैं। इससे विषय का प्रतिपादन वैज्ञानिक शैली में किया जाता है। प्रबन्ध (Treatise) में एक विशेष विषय के विभिन्न पक्षों का बौद्धिक विश्लेषण तथा विवेचन किया जाता है। बेब्स्टर्स के 'न्यू इन्टर-नेशनल डिक्शनरी ऑव द इंगलिश लैंग्वेज' में प्रबन्ध की परिभाषा इस प्रकार मिलती है:—

'A written composition on a particular subject, in which its principles are discussed or explained, A treatise employs more form and methods them an essay.'

थीसिस (Thesis) भी निबन्ध से अलग है। थीसिस के सम्बन्ध में बेब्सटर्स डिक्शनरी में लिखा है कि : ,An essay or dessertation written upon a specific or definite them respecially on essay presented by a condi date for a diploma ar a degree.'

इन परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि निबन्ध तथा लेख, प्रबन्ध (Treatise) और थीसिस में तात्विक अन्तर है। निबन्ध का सम्बन्ध ज्ञानबर्द्धक साहित्य से न होकर शक्ति-सम्पन्न साहित्य से है। शक्ति सम्पन्न साहित्य से अभिप्राय ऐसे साहित्य से है जिससे हृदय को उल्लसित करने की शक्ति हो। इसके अन्तर्गत नाटक, कहानी, उपन्यास, काव्य आदि की गणना की जा सकती है। निबन्ध को इसी कोटि में रखा जाना चाहिये।

निबन्ध की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें विषय बहाने मात्र के लिये होता है। क्योंकि निबन्धकार का उद्देश्य विषय का वैज्ञानिक प्रतिपादन नहीं होता। वह विषय का बहाना लेकर अपने हृदय की अनुभूतियों को अभिव्यक्त करता है। जैसे डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखित 'अशोक के फूल' में अशोक के फूल का बहाना लेकर लेखक भारतीय संस्कृति के गरिमा का वर्णन करता है। निबन्ध का प्रधान लक्ष्य आनन्द ही है। निबन्धकार कल्पना के पंखों से उड़कर इस आनन्द की सृष्टि करता है इसलिये निबन्ध को शक्तिसम्पन्न साहित्य के अंतर्गत रखा जाता है। पाठक भी निबन्धकार की रचना ज्ञान-पिपासा के शान्ति के लिए नहीं पढ़ता। वह आनन्द प्राप्त करने के लिये ही निबन्धों को पढ़ता है।

निबन्ध की दूसरी विशेषता है कि उसमें लेखक के व्यक्तित्व तथा आत्म का प्रकाशन होना चाहिये। लेखक अपने व्यक्तित्व को व्यक्त करता है। निबन्ध में निबन्धकार का 'मै' अवश्य प्रकाशित होना चाहिये। माइकेल द मौंतेन अपने निबन्धों के विषय में कहा है। "I am myself the subyect of my book." अत: निबन्ध में व्यक्तित्व का प्रकाशन होता है। जैसा कि एक प्रसिद्ध आलोचक ने निबन्ध के विषय में

कहा है कि उसमें 'मैं' का प्रकाशन होना चाहिये (The I must be expressed) एक अन्य आलोचक की धारणा है कि निबन्ध में 'The natural man must speak.' अर्थात् मनुष्य को अपनी अनुभूतियों तथा भावनाओं द्वारा निबन्ध में अभिव्यक्त होना चाहिये।

निबन्ध की तीसरी विशेषता यह है कि इसमें स्वगत-कथन को प्रधानता मिलनी चाहिये। बैन् सन की धारणा है कि 'Essence of the essay is soliloqiusy.' एक अन्य आलोचक की धारणा है कि 'The essay the expression of a personality, an artful and enduring kind of talk. अतः निबन्धकार अपने मन में निहित भावनाओं को खुल कर प्रकाशित करता है। उसके बातचीत में अथवा उसके स्वगत-कथन में जीवन का परिपक्व अनुभव भरा रहता है। बातचीत करते समय कुशल व्यक्ति भिन्न-भिन्न मुद्राएँ बनाता है, हाथ चलाता है तथा अन्य प्रकार की शारीरिक मुद्राएँ प्रकट करता है। निबन्ध में ये सभी बाते शब्दों द्वारा अभिव्यक्त की जाती हैं। इसीलिये उच्चकोटि के निबन्धकारों में व्यक्तित्व-प्रकाशन की प्रधानता मिलती है। हिन्दी में बालमुकुन्द गुप्त के निबन्ध इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। उनके निबन्ध उनके व्यक्तित्व का निचोड़ है।'

निबन्ध की चौथी विशेषता यह है कि उसमें लेखक का अहं आवश्यक रूप से प्रकाशित होना चाहिये। अहं का यहाँ बुरा अर्थ नहीं लेना चाहिए। मनुष्य का अहं उसे पशु से अलग करता है। वार्ष्णेय जी की धारणा है कि जिस निबन्ध में लेखक के अहं से सिक्त व्यक्तित्व प्रकाशित नहीं होता वह निबन्ध सच्चा निबन्ध नहीं है।

निबन्ध-कला का समाचार पत्र से गहरा सम्बन्ध रहता है। एक ही पत्र में लिखते-लिखते लेखक अपना परिवार अलक्ष्य रूप से बना लेता है। उस परिवार के लोगों से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और वह अपने पाठकों को अपने निकट का व्यक्ति समझने लगता है। उस समय वह अपनी छोटी से छोटी बात, गोपनीय से गोपनीय बात कहने में संकोच नहीं करता। दोनों के बीच का व्यवधान मिट जाता है। लेखक में बेतकल्लुफ़ी आ जाती है। अतः ऐसे निबन्धों में दुरूहता तथा दिखावें के स्थान पर सरलता तथा स्वाभिकता उत्पन्न हो जाती है। उसके लिखने में भी स्वाभाविकता आ जाती है। वह किस्से-कहानी की तरह अपने निबन्ध में अपने जीवन की अनुभूतियों को प्रस्तुत करता जाता है।

इस प्रकार संक्षेप में निबन्ध-कला के मूल तत्वों को प्रस्तुत करते हुये कहा जा सकता है कि निबन्ध प्रयोग या प्रयास मात्र है। उनमें संक्षिप्त और विषयान्विति रहती है। स्वगत-कथन के रूप में व्यक्त होता है। निबन्धों में विषय का सांगोपांग निरूपण नहीं होता। उसमें सहज प्रेरित उल्लास रहता है। उसमें लेखक का व्यक्तित्व तथा ग्रंथ प्रकाशित होता है। निबन्धों में आनन्द तत्व भी निहित रहता है।

अभिव्यक्ति को विविध प्रणालियों को ध्यान में रखते हुए विशद रूप से विश्लेषण करने पर निबन्ध को चार मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है।

पहला कथात्मक (Narrative), दूसरा वर्णनात्मक (Descriptive), तीसरा चिन्तनात्मक (Refle ctive) और चौथा भावात्मक (Emotional)।

१. कथात्मक निबन्ध —डॉ० श्री कृष्णलाल के अनुसार हिन्दी में कथात्मक निबन्धों के तीन रूप मिलते हैं। पहला रूप स्वपनों की कथा के रूप में है। ऐसे निबन्धों में केशवप्रसाद सिंह का 'आपत्तियों का पहाड़' लल्ली प्रसाद पाण्डे का 'कविता का दरबार' आदि उल्लेखनीय हैं। कथात्मक निबन्धों की दूसरी शैली आत्म चरित्रों की है। इसमें किसी भावना या वस्तु का मानवीकरण करके उसका चरित्र उसी के के शब्दों में सुनाया जाता है। 'इत्यादि की आत्मकहानी,' 'दीपक देव का आत्मचरित्र' आदि इसी प्रकार के निबन्ध हैं। जिसमें इत्यादि और दीपक ने स्वयं अपनी कहानी प्रस्तुत की है। कथात्मक निबन्धों का तीसरा रूप कहानी शैली के निबन्धों में मिलता है। लक्ष्मण गोविन्द आठले का 'वर्षा-विजय' इसी प्रकार का निबन्ध है।

२. वर्णनात्मक निबन्धः—इसमें लेखक किसी प्राकृतिक वस्तु, किसी स्थान प्रान्त अथवा किसी मनोहर आह्लादकारी दृश्य का वर्णन करता है। हिन्दी में इस प्रकार के निबन्धों को दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। पहली कोटि में व्यास-शैली में लिखित वर्णनात्मक निबन्ध आयेंगे। इसमें एक ही बात को समझा कर विस्तार के साथ प्रस्तुत किया जाता है। वर्णनात्मक निबन्धों की दूसरी कोटि में समास-शैली का प्रयोग किया जाता है। इसमें संस्कृत के शब्दों का आधिकार रहता है।

३. चिन्तनात्मक निबन्ध—इन निबन्धों में तर्क का सहारा अधिक लिया जाता है। यह मस्तिष्क की वस्तु है अन्य निबन्धों की अपेक्षा विचारात्मक निबन्धों में बुद्धि का पुट अधिक मिलता है। अचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का मत है कि "शुद्ध विचारात्मक निबन्धों से का चरमउत्कर्ष वही कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा दबा कर ठूँसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खन्ड के लिए हो'।

विचारात्मक निबन्धों के आलोचनात्मक, गवेषणात्मक, विवेचनात्मक आदि कई प्रकार होते हैं। इस प्रकार के निबन्धों में विचारों के सन्तुलन का सदैव ध्यान रखा जाता है।

४. भावात्मक निबन्धः—इन निबन्धों में रस और भावों की व्यजना प्रधान रूप से यंजित होती है। डॉ श्री कृष्णलाल जी के अनुसार भावात्मक निबन्धों में लेखकगण भावावेश में आकर अपनी भावनाओं का एक तूफान-सा खड़ा कर देते हैं। भवात्मक निबन्धों की रचना प्रायः तीन प्रकार की शैलियों मे की जाती है। धारा शैली, तंरग शैली तथा विक्षेप शैली। धारा शैली में भावों का प्रवाह बराबर बना रहता है। तरंग शैली में भावों का उतार-चड़ाव परलक्षित होता है। विक्षेप शैली में भावों की गति उखड़ जाती है, फिर भी उसमें तार तम्य तथा नियन्त्रण का भी ध्यान रखा जाता है। भावात्मक निबन्धों मे मर्मस्पर्शिता, सजीवता, ओजस्विता आदि की प्रधानता रहती हैं। ऐसे निबन्धों मे भावों की सच्चाई तथा लेखक की तन्मयता जितनी अधिक रहती है, रचना उतनी ही अधिक प्रभावशाली तथा आकर्षक बन पड़ती है।

———